'प्राचीन कवियों की काव्य-साधना' के पश्चात् 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' ~~मेरी दूसरी आलोचना पुस्तक है।~~ इसमें भारतेन्दु से अबतक के आठ प्रमुख कवियों की रचनाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी-जगत में सम्प्रति विद्यार्थियों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। इस अभाव को दृष्टि में रखकर ही मैं इस पुस्तक के प्रणयन की ओर अग्रसर हुआ हूँ। मैंने प्रत्येक कवि को उसके प्रकृत वातावरण में ही देखने, समझने और परखने की चेष्टा की है। आरम्भ में जीवन-परिचय देकर मैंने क्रमशः उन सभी पहलुओं पर विचार किया है जिनसे कवि का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार प्रत्येक कवि अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आगया है और वह जटिल होने की अपेक्षा रोचक और आकर्षक बन गया है। अपनी बात को प्रमाणित तथा पुष्ट करने के लिए मैंने अवतरण जानबूझकर कम दिये हैं। ऐसा मैंने केवल इसलिए किया है कि विद्यार्थी इस पुस्तक में दिये हुए अवतरणों पर ही निर्भर न रहकर अपनी स्वतंत्र-बुद्धि से भी काम लें और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए अपनी पाठ्य पुस्तकों से उद्धरण देना सीखें। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यार्थी आलोचना-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते समय ऐसे अनावश्यक उद्धरण दे दिया करते हैं जिनका न तो उस प्रश्न से कोई सम्बन्ध रहता है और न उनकी

विचार-धारा से। ऐसी दशा में उनके उत्तर प्रायः हास्यास्पद हो जाते हैं। इस पुस्तक के अध्ययन से जहाँ उनकी आलोचना-सम्बन्धी उलझनों का समाधान होगा वहाँ उन्हें 'उद्धरण देने की आवश्यकता, उपयुक्तता, उपयोगिता एवं सार्थकता का भी ज्ञान हो जायगा।

इन विशेषताओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन होने पर भी मैं अपने विषय-प्रतिपादन में मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। वस्तुतः यह पुस्तक मेरे कई वर्ष के अध्ययन का परिणाम है। अतः अपने अध्ययन-काल में मैंने जिन लेखकों की रचनाओं से अपनी जिज्ञासा को शान्त एवं परिपुष्ट किया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। वस्तुतः विचार उनके हैं, क्रम मेरा है। मैं उन्हीं के अप्रत्यक्ष सहयोग से इस पुस्तक को यह रूप देने में सफल हो सका हूँ। अतः यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ हुआ तो उसका श्रेय उन्हीं आलोचकों को प्राप्त होना चाहिए जो मेरे साहित्यिक जीवन के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। साथ ही मैं अपने परम मित्र श्री स्वामी दास अग्रवाल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से कवियों के चित्रों के संकलन में मुझे बड़ी सहायता मिली है। अन्त में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को आधुनिक कवियों की काव्य-धारा समझने में अवश्य सहायता मिलेगी।

भगवत फार्म्स,
अतरसुइया, इलाहाबाद
चैत्र १—२००५

राजेन्द्र सिंह गौड़

भूमिका

'प्राचीन कवियों की काव्य-साधना' के पश्चात् 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' मेरी दूसरी आलोचना-पुस्तक है। इसमें भारतेन्दु से अबतक के आठ प्रमुख कवियों की रचनाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी-जगत में सम्प्रति विद्यार्थियों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। इस अभाव को दृष्टि में रखकर ही मैं इस पुस्तक के प्रणयन की ओर अग्रसर हुआ हूँ। मैंने प्रत्येक कवि को उसके प्रकृत वातावरण में ही देखने, समझने और परखने की चेष्टा की है। आरम्भ में जीवन-परिचय देकर मैंने क्रमशः उन सभी पहलुओं पर विचार किया है जिनसे कवि का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार प्रत्येक कवि अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आगया है और वह जटिल होने की अपेक्षा रोचक और आकर्षक बन गया है। अपनी बात को प्रमाणित तथा पुष्ट करने के लिए मैंने अवतरण जानबूझकर कम दिये हैं। ऐसा मैंने केवल इसलिए किया है कि विद्यार्थी इस पुस्तक में दिये हुए अवतरणों पर ही निर्भर न रहकर अपनी स्वतंत्र-बुद्धि से भी काम लें और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए अपनी पाठ्य पुस्तकों से उद्धरण देना सीखें। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यार्थी आलोचना-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते समय ऐसे अनावश्यक उद्धरण दे दिया करते हैं जिनका न तो उस प्रश्न से कोई सम्बन्ध रहता है और न उनकी

विचार-धारा से। ऐसी दशा में उनके उत्तर प्रायः हास्यास्पद हो जाते हैं। इस पुस्तक के अध्ययन से जहाँ उनकी आलोचना-सम्बन्धी उलझनों का समाधान होगा वहाँ उन्हें उद्धरण देने की आवश्यकता, उपयुक्तता, उपयोगिता एवं सार्थकता का भी ज्ञान हो जायगा।

इन विशेषताओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन होने पर भी मैं अपने विषय-प्रतिपादन में मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। वस्तुतः यह पुस्तक मेरे कई वर्ष के अध्ययन का परिणाम है। अतः अपने अध्ययन-काल में मैंने जिन लेखकों की रचनाओं से अपनी जिज्ञासा को शान्त एवं परिपुष्ट किया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। वस्तुतः विचार उनके हैं, क्रम मेरा है। मैं उन्हीं के अप्रत्यक्ष सहयोग से इस पुस्तक को यह रूप देने में सफल हो सका हूँ। अतः यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ हुआ तो उसका श्रेय उन्हीं आलोचकों को प्राप्त होना चाहिए जो मेरे साहित्यिक जीवन के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। साथ ही मैं अपने परम मित्र श्री स्वामी दास अग्रवाल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से कवियों के चित्रों के संकलन में मुझे बड़ी सहायता मिली है। अन्त में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को आधुनिक कवियों की काव्य-धारा समझने में अवश्य सहायता मिलेगी।

भगवन फार्टर्स,
अतरसुइया, इलाहाबाद
चैत्र १—२००५.

राजेन्द्र सिंह गौड़

विषय-सूची

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

३. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

४. मैथिलीशरण गुप्त

५. जयशंकर प्रसाद

नबन्ध साहित्य, प्रसाद की काव्य-साधना, प्रसाद की अलंकार और रस-योजना, प्रसाद की छन्द-योजन-, प्रसाद की भाषा, प्रसाद की शैली, साद का हिन्दी-साहित्य में स्थान।

६. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[२१६—२५८]

जीवन-परिचय, नीराला की रचनाएँ, निराला का व्यक्तित्व, निराला का महत्त्व, निराला पर प्रभाव, निराला की दार्शनिकता, निराला की काव्य-साधना, निराला का प्रकृति-चित्रण, निराला का गद्य-साहित्य, निराला की अलंकार और रस-योजना, निराला की भाषा और शैली, निराला और पंत, निराला का हिन्दी-साहित्य में स्थान।

७. सुमित्रानन्दन पंत

[२५९—३०१]

जीवन-परिचय, पंत की रचनाएँ, पंत का व्यक्तित्व, पंत पर प्रभाव, पंत का महत्त्व, पंत की दार्शनिक भाव भूमि, पंत की काव्य-साधना, पंत की अलंकार-योजना, पंत की छंद-योजना, पंत की भाषा और शैली, पंत और प्रसाद, पन्त का हिन्दी-साहित्य में स्थान।

८. महादेवी वर्मा

[३०२—३३८]

जीवन-परिचय, महादेवी की रचनाएँ, महादेवी का व्यक्तित्व,

महादेवी पर प्रभाव, महादेवी का महत्त्व, महादेवी की दार्श
भूमि, महादेवी की काव्य-साधना, महादेवी की अलंकार और
महादेवी की भाषा और शैली, महादेवी और पंत, महादेवी
कवि, महादेवी का हिन्दी-साहित्य में स्थान ।

आधुनिक कवियों की काव्य-साधना

[आधुनिक काव्य-धारा तथा खड़ीबोली के आठ कवियों की आलोचना]
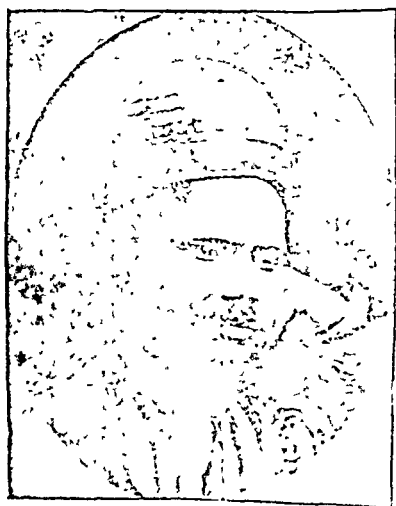
—१—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म सं०	मृत्यु सं०
१९०७	१९४१

जीवन-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल, ऋषि-पंचमी, संवत् १९०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ-परिवार में हुआ था। उनके पूर्वपुरुष सेठ बालकृष्ण कम्पनी के शासन-काल में दिल्ली से कलकत्ता चले गये थे और वहीं व्यापार करते थे। उनके पौत्र तथा गिरधारीलाल के पुत्र, सेठ अमीचन्द, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति थे। अंगरेज़ों ने उन्हें अपनी ओर मिलाकर धन का लोभ दिया और देश के प्रति विश्वासघात कराया, पर जब उनका काम निकल गया तब उन्होंने अमीचन्द को जितना धन देने का वचन दिया था, उसे देने से साफ इनकार कर दिया। इस घटना से अमीचन्द को इतना दुःख हुआ कि प्लासी-युद्ध के डेढ़ वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। व्यापार का

काम भी शिथिल हो गया। इसलिए उनके पुत्र फतेहचन्द सन् १७५६ ई० में कलकत्ता से काशी चले आये। यहाँ सेठ गोकुलचन्द की कन्या से उनका विवाह हुआ। उन्हीं के पौत्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे।

भारतेन्दु के पिता का नाम गोपालचन्द था। वह वैष्णव थे और व्रजभाषा में कविता करते थे। उनका उपनाम गिरिधरदास था। उनके दो ही काम थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। कहते हैं, पाँच भक्ति-पद बनाये बिना वह भोजन नहीं करते थे। उन्होंने ८० ग्रन्थ लिखे थे। उनके इन ग्रन्थों में से बहुत-से इस समय अप्राप्य हैं, पर जो हैं उनमें उन्होंने काव्य-कौशल की ऐसी छटा दिखाई है कि साधारण पाठकों के लिए उसका समझना, यदि असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य है। अलंकार और रीति-सम्बन्धी भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। 'जरासंध' उनका महाकाव्य है। शेष खंड-काव्य और रीति-काव्य हैं। ऐसे पिता के वंश में जन्म लेकर भारतेन्दु ने उसके गौरव और सम्मान की बड़ी रक्षा की।

भारतेन्दु बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन में वह बड़े नटखट थे, पर दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गये। नौ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत हुआ और इसके बाद ही उनके पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर चल बसे। इस प्रकार आरम्भ ही से माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन में प्रवेश किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी वह एक मौलवी से पढ़ते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वींस कालेज में भर्ती हुए, पर वहाँ उनका जी नहीं लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रति-दिन उनकी अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। वह स्वतंत्र प्रकृति के बालक थे। किसी प्रकार का बन्धन उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इसलिए अधिक दिनों तक उनका नियमित रूप से पढ़ना-लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था में लाला गुलाब राय की सुपुत्री मन्नो

देवी से उनका विवाह हुआ जिससे कालान्तर में दो पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र तो शैशवावस्था ही में काल-कवलित होगये; पुत्री अवश्य जीवित रही जिसका विवाह मई सन् १८८० में हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था में सपरिवार जगन्नाथ पुरी की यात्रा की। इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। वहाँ से लौटने पर उन्होंने साहित्य और समाज की सेवा का भार अपने ऊपर लिया। कभी-कभी वह यात्रा पर भी जाते रहे। इससे उनका अनुभव बहुत बढ़ गया। हिन्दी, अँगरेज़ी और उर्दू के अतिरिक्त वह मराठी, गुजराती, बँगला तथा संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हो गये। वह बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। यद्यपि एक विद्यार्थी की भाँति उन्होंने किसी पाठशाला अथवा कालेज में विद्याध्यन नहीं किया तथापि सरस्वती की आराधना में वह आजीवन निरत रहे। उन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की तथा कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उन्होंने कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं जिनमें वह स्वयं पारितोपिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र इंटरमीजिएट कालेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारों से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, सुहृद सभी उन्हें जानते थे और उनके दरबार में सम्मान पाते थे। राजा से रंक तक उनकी मित्र-मंडली में थे। उस समय के हिन्दी-साहित्य-सेवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रेमघन, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधाचरण गोस्वामी, पं० दामोदर शास्त्री, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बाबा सुमेरसिंह आदि उनके परम मित्र थे। इन साहित्यकारों से जहाँ उन्हें साहित्य-सेवा की प्रेरणा मिलती थी, वहाँ उनको—साहित्य-सेवियों को—साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन भी मिलता था। भारतेन्दु इन साहित्य-सेवियों में सर्वोपरि थे। हिन्दी-साहित्य की नौका के वही

प्रमुख माँझी थे। इसलिए साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने में उन्हीं का हाथ रहता था। उनके पास सरस्वती थी, लक्ष्मी थी। सरस्वती की सेवा में उन्होंने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया। धन का मोह उनके साहित्य-प्रेम में कभी बाधक नहीं हुआ। साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जिसने जब जो माँगा उन्होंने मुक्तहस्त होकर दान किया। दीन-दुखियों के लिए भी उनका दरबार बराबर खुला रहता था। निस्स्वार्थ भाव से वह सबकी सहायता करते थे। उदारता तो उनमें इतनी थी कि वह किसी के माँगने पर अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी दे डालते थे। उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने समस्त जायदाद का बटवारा करा लिया।

जायदाद का बटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दान-शीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उन पर काफी ऋण हो गया। ऋण चुकता करने में उनकी बहुत-सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल में ही निकल गई। इससे उन्हें कुछ मानसिक कष्ट रहने लगा। मुक्तहस्त प्राणी बन्धन में आने पर मृत्यु की ही आकांक्षा करता है। भारतेन्दु की भी यही दशा हो गई। आर्थिक कष्टों की चिन्ता से उनका शरीर शिथिल होने लगा। अन्त में उन्हें क्षय-रोग हो गया। इस रोग से वह मुक्त न हो सके। डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की चिकित्सा मृत्यु के अभिशाप से उनकी रक्षा न कर सकी। माघ, कृष्ण ६, सं० १९४१ को हिन्दी-साहित्य का वह दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। अपने १६-१७ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो दान किया उसका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। उनकी रचनाएँ युगान्तर रचनाएँ हैं। उनमें भावों, विचारों और

कल्पनाओं के शौष्टव के साथ-साथ आगे बढ़ने की, संसार की अन्य जीवित और समृद्धशाली भाषाओं के बीच अपनी गौरव-पूर्ण ख्याति-स्थापन की तीव्र चेष्टा है। यही चेष्टा उनके साहित्य का प्राण है। उनकी रचनाएँ चार प्रकार की हैं:—

१. नाटक—भारतेन्दु की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मौलिक और अनूदित नाटक हैं। उनके मौलिक नाटक नौ हैं।—१. सत्य हरिश्चन्द्र, २. चन्द्रावली, ३. भारत दुर्दशा, ४. नील देवी, ५. अन्धेरनगरी, ६, वैदकी हिंसा हिंसा न भवति, ७. विषस्य विषमौषधम् ८. सती-प्रताप और ९. प्रेमयोगिनी। इनमें से अन्तिम दो अपूर्ण हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त उनके आठ अनूदित नाटक हैं जो इस प्रकार हैं—१. मुद्रा राक्षस, २. धनञ्जय विजय, ३. रत्नावली नाटिका, ४. कर्पूर मंजरी, ५. विद्या सुन्दर, ६. भारत जननी, ७. पाखंड विडम्बन और ८. दुर्लभ-बन्धु। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद है, चौथा प्राकृत का अनुवाद है, पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बंगला के अनुवाद हैं और अन्तिम अँगरेज़ी का अनुवाद है। यह अपूर्ण भी है। दो अनूदित नाटक और हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

२. काव्य—नाट्य साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। उनके भक्ति-काव्य-सम्बन्धी ४१ ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब छोटे छोटे ग्रन्थ हैं और भक्ति-भावना से भरे हैं। उनमें शृंगार काव्य भी कम नहीं है। होली, मधुमुकुल, प्रेम फुलवारी, प्रेम प्रलाप, सतसई शृंगार आदि उनके शृंगार-रसपूर्ण काव्य-ग्रन्थ हैं। विजयिनी विजय, वैजयन्ती, भारत-वीणा, सुमनांजलि आदि उनकी राष्ट्रीय और जाति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

३. इतिहास—भारतेन्दु ने कई इतिहास-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, अग्रवालों की उत्पत्ति, दिल्ली-दरबार दर्पण आदि उनके ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

४. निबन्ध और आख्यान—भारतेन्दु ने निबन्ध और आख्यान

भी लिखे हैं; पर इनमें से अधिकांश अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालय और लीलवती उनके लिखे आख्यान हैं। परिहास पंचक में उनका हास्य रस-सम्बन्धी गद्य है। परिहासिनी में छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं-द्वारा साहित्य के प्रत्येक अंग को छूने की सफल चेष्टा की है। उनका साहित्य भगीरथ प्रयास का सुन्दर परिणाम है।

भारतेन्दु का समय

अभी हमने भारतेन्दु की जिन कृतियों का उल्लेख किया है उनका अध्ययन करने से हमें उनके समय की मुख्य मुख्य विशेषताओं का यथार्थ परिचय मिल जाता है और हम यह जान जाते हैं कि उन्होंने उन विशेषताओं को हिन्दी साहित्य में स्थायी रूप से स्थान देकर अपने से अधिक अपने साहित्य का कल्याण किया है। वस्तुतः भारतेन्दु का समय भारतेन्दु की प्रतिभा के उपयुक्त था। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब भारत में प्राचीन और नवीन शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा था और राजनीति के क्षेत्र में किसी नवीन 'वाद' की व्यवस्था न होने पर भी एक हलचल-सी मची हुई थी। हिन्दू और मुसलमान-राज्य आपसी फूट और साम्प्रदायिकता के कारण निर्बल हो गये थे और एक तीसरी शक्ति—कुशल व्यापारियों के रूप में अँगरेज़—अपनी सत्ता स्थापित करने में संलग्न थे। न्याय से, अन्याय से, जिस प्रकार भी हो सके, उनका उद्देश्य भारत का रक्त चूसना और पारस्परिक द्वेष-भावना को तीव्रतर करके अपना उल्लू सीधा करना था। हिन्दू और मुसलमान दोनों शक्तिहीन थे, अव्यवस्थित थे, असंगठित थे। किसी का कोई नेता नहीं था। इसीलिए १८५७ का वह विप्लव, राजनीतिक तथा धार्मिक कारणों से उठी हुई वह आंधी, शक्ति और अधिकार का वह पारस्परिक द्वन्द्व, जहाँ का तहाँ शान्त हो गया। हमारी सभ्यता, हमारा रहन-सहन, हमारी प्राचीन मर्यादा—सब पर अँगरेज़ी रंग चढ़ने लगा। इस प्रकार निराशा के उस युग में अपना

धर्म, अपनी संस्कृति और सभ्यता का सिंहावलोकन करने का अवकाश ही हमारे लिए नहीं था।

हिन्दू-समाज की दशा तो और भी शोचनीय थी। अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुओं ने अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए एक बार भरपूर चेष्टा की, पर उनको इस कार्य में कोई स्थायी सफलता न मिली। ऐसी दशा में उन्होंने अँगरेज़ों की सत्ता का स्वागत किया। इस स्वागत-सम्मान में हिन्दू व्यापारी, सम्पन्न वणिक और जमींदार लोग ही सम्मिलित थे। कृषक और श्रमिक वर्ग अँगरेज़ों के विरुद्ध थे। वास्तव में १८५७ का राजनीतिक उभार उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था, पर जब वह शान्त हो गया तब समस्त हिन्दू-जाति एक बार फिर शिथिल हो गई। बार-बार की पराजय से उसका अपने धर्म पर से विश्वास उठ गया। वह नास्तिक हो चली, पाखंड का बोलबाला हो गया। भाँति-भाँति की कुरीतियाँ हिन्दू-समाज में घुस आईं। हिन्दू-समाज खोखला होने लगा। ऐसे खोखले समाज का साहित्य भी खोखला ही था।

औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी बेढंगी रहीं कि हमें उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी का कोई सत्साहित्य ही नहीं मिलता। हमारा तो अनुमान है कि देव के पश्चात् हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक कोई प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस दीर्घ अवधि में जो कवि हुए भी वह या तो तुक्कड़ थे या रीतिकालीन-परम्परा के अंधभक्त। जीवन की उठान के लिए उनकी रचनाओं में कोई योजना ही नहीं थी। ऐसी दशा में हिन्दुओं की अधोगति संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ उनका साहित्य भी ख़तरे में था। १८५७ की महाक्रान्ति समाप्त होने पर जब अँगरेज़ी-शासन का प्रादुर्भाव हुआ तब कचहरियों में उर्दू भाषा का ही बोलबाला रहा। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा उस समय तक निश्चित ही नहीं हुई थी। इसलिए कचहरियों में उसे स्थान मिलना कठिन था।

काव्य-क्षेत्र में तो मनमानी-घरजानी हो रही थी। काव्य का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। समस्या-पूर्ति ही काव्य का परम लक्ष्य था। शृंगार-काल की अश्लील नख-शिख की आंधी में कविगण लोक-हित की कामना से रिक्त हृदय लेकर सुखमय आश्रय में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जिन अभावों की पूर्ति के लिए ठोस विचार-प्रचार की आवश्यकता थी, उसकी ओर से सभी उदासीन थे। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशियों के सम्पन्न साहित्य ने भारत के शिक्षित समुदाय में एक नई चेतना भर दी थी, पर उस चेतना का नेतृत्व करने का किसी में सामर्थ्य नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-जाति से सम्बन्ध रखनेवाली तीन समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक—बड़ी भयंकर थीं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में महान व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। राजनीतिक क्षेत्र विशाल क्षेत्र था, उसकी समस्याएँ जटिल थीं। उन समस्याओं को हल करने और अपने राष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिए समय और आन्दोलन की आवश्यकता थी। इसलिए इस क्षेत्र में अभी उपयुक्त नेताओं का जन्म नहीं हुआ था, पर सामाजिक क्षेत्र में आन्दोलन आरंभ हो गये थे। बंगाल में राजा राममोहन राय, युक्तप्रान्त तथा पश्चिमी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द आदि के प्रयत्नों से हिन्दू-जाति में नवीन स्फूर्ति और चेतना आ रही थी। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अछूतोद्धार आदि की ओर स्वामी दयानन्द ने आकर्षित होकर हिन्दू-जाति की बड़ी रक्षा की। इस सामाजिक आन्दोलन की एक यह भी विशेषता थी कि उसने स्वदेश-प्रेम की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उत्तरी भारत में इन आन्दोलनों की देखा-देखी दक्षिण भारत में भी डा० भाण्डारकर और रानाडे ने हिन्दू-समाज को उठाने की चेष्टा की। कहने का तात्पर्य यह कि राजा राममोहन राय का ब्रह्मो समाज, स्वामी दयानन्द का आर्य-समाज, रानाडे का प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओं से अंधकार के गर्त में पड़ी हुई हिन्दू-जनता को

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। वह पुष्टि-मार्ग के समर्थक और 'राधारानी के गुलाम' थे। आर्य-समाज के वह विरोधी थे। वह वैष्णव-धर्म में ही नवीनता और उदारता का समावेश कर उसे सुसंस्कृत और समयोपयोगी बना देना चाहते थे। हिन्दू-जाति में उस समय जिन कुरीतियों ने घर कर लिया था उनके उन्मूलन के लिए वह वाह्य साधनों का सहारा न लेकर आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित रहना चाहते थे। वह भीतर से हिन्दू-जाति को शुद्ध करना चाहते थे। उन्होंने इसी विचार से 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। वह सामान्य हिन्दू-मत के पक्ष पाती थे। वह साधारणतः साधारण सनातनी हिन्दू-दृष्टिकोण और प्रधानतः वल्लभीय कुल के आचार-विचारों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने साधारण जनता को इनसे परिचित कराने के विचार से इस प्रकार का बहुत-सा साहित्य हिन्दी में उपस्थित किया था। ईसाई और इस्लाम धर्मों की आँच से हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए उन्होंने उन धर्मों का साहित्य पढ़ा था और उनके सम्बन्ध में अपने विचारों को हिन्दू-जनता के सम्मुख रखा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका व्यक्तित्व धार्मिक भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित था। उनका तदीय समाज उनकी धार्मिक भावना का प्रतीक था। इस संस्था ने अहिंसा और गोरक्षा का प्रचार किया और लोगों को मद्य और माँस का परित्याग करने के लिए बाध्य किया। तीर्थ-स्थानों में यात्रियों के साथ जो अत्याचार होते थे, उनकी ओर भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया था। स्त्री-समाज की दुर्दशा भी उनकी आँखों से छिपी नहीं थी। उन्होंने अपने घर पर कन्या हाई स्कूल खोला और बाल-बोधनी पत्रिका को जन्म दिया। वह समसामयिक हिन्दू-नारी के सामने वीरता का आदर्श रखना चाहते थे। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दू-जाति की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी समस्या उनके विचारों का केन्द्र बन गई थी। इसीलिए हम उनके साहित्य में उनको भक्त, सुधारक और उपदेशक के रूप में पाते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ भारतेन्दु के जीवन में राष्ट्रीय विचारों का भी महत्व हुआ था। वह अपने देश की परिस्थितियों और उनकी दैनिक समस्याओं से भलीभाँति परिचित थे। अँगरेज़ी शासन शांतिप्रद था, पर उसकी व्यापारिक और साम्राज्यवादी नीति के वह समर्थक नहीं थे। अँगरेज़ों की इस कुटिल नीति से भारत का जो अहित हो रहा था, उसके प्रति वह जागरूक थे। भारतीयों पर आनेवाली दैवी आपत्तियों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा, था और उनसे वह अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अँगरेज़ी सत्ता का अपनी उग्र राष्ट्रीय भावनाओं के कारण कभी विरोध नहीं किया, वह सदैव राजभक्त बने रहे; पर उन्होंने सरकारी अधिकारियों और बड़े-बड़े स्तंभों की उपेक्षा की और साधारण जनता की उठती हुई बलवती प्रतिभा पर अपना विश्वास दृढ़ रखा। उनका युग इतनी ही स्वतंत्रता उन्हें दे सकता था। वस्तुतः वह सरकार की नीति के आलोचक न थे, वह अपने देशवासियों के जीवन के आलोचक थे। वह अपने देशवासियों को अपने देश की परिस्थितियों से परिचित कराना चाहते थे। वह चाहते थे कि भारत के नर-नारी अपने देश की समस्याओं पर विचार करें, अपनी आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित करें और विदेश में धन जाने से रोकें। उन्होंने एक कुशल व्यापारी की भाँति भारत की आर्थिक परिस्थिति पर विचार किया और औद्योगीकरण की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया।

साहित्यक-क्षेत्र में भी भारतेन्दु का व्यक्तित्त्व बेजोड़ था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अँगरेज़ी, हिन्दी, उर्दू, फारसी, मराठी, गुजराती, बँगला, संस्कृत और प्राकृत के वह अच्छे विद्वान् थे। लिखने का उन्हें व्यसन था। डा० राजेन्द्रलाल के शब्दों में वह 'राइटिंग मशीन' थे। वह कई लिपियों में बड़ी सुन्दरता और सुगमता से लिख सकते थे। वह अध्ययनशील थे, अध्यवसायी थे। वह जिस काम को अपने हाथ में ले

लेते थे उसे सम्पूर्ण किये बिना वह चैन नहीं लेते थे। उनका आशु-कवित्व इतना प्रखर और प्रबल था कि उन्होंने 'अंधेर नगरी' की रचना एक ही दिन में समाप्त की थी। जैसी भी भाषा उनके पास थी, उस पर उनका पूरा अधिकार था। वह उर्दू में भी कविता करते थे। हिन्दी-साहित्य में हम उनके विविध रूपों का दर्शन करते हैं। वह कवि, लेखक, पत्रकार, नाटककार, उपन्यासकार इतिहास-लेखक, अनुवादक सभी कुछ थे। उनकी मौलिकता अछूती थी। उन्होंने भाषा का संस्कार किया, साहित्य को जीवन का क्षेत्र बनाया और उसे नई-नई भावनाओं से अलंकृत किया। अपने युग के वह हिन्दी-भाषा और साहित्य के नेता थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कई प्रतिभाशाली साहित्य-सेवियों को उत्पन्न किया। उनके ऐसे गुणों पर मुग्ध होकर पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने 'सार सुधानिधि' पत्र में उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव किया और सबने मुक्तकंठ से इसका समर्थन किया। तब से वह भारतेन्दु कहलाने लगे।

भारतेन्दु का जीवन हास्य और विनोद का जीवन था। हास्य उनके जीवन में कूट-कूटकर भरा हुआ था। होली के अवसर पर उनकी हास्यप्रियता देखने योग्य होती थी। 'एप्रिल फूल्सडे' भी वह मनाते थे और एक क्षण में अपने विनोदमय व्यक्तित्व से सारे नगर को आनन्दमग्न कर देते थे। ताश और शतरंज के वह अच्छे खेलाड़ी थे। चतुरंग पर उन्होंने जो छप्पय लिखे हैं वह शतरंज-प्रेमियों के लिए बड़े ही मनोरंजक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भारतेन्दु का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में एक अनोखा व्यक्तित्व है। उनके व्यक्तित्व में जितना है, जो कुछ है, वह सब महान् है और इसी लिए आज हिन्दी-संसार उनका आभार स्वीकार करता है।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतना विचार करने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि उन्हें सर्वप्रथम साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली और उन पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ा। इस दृष्टि

उपलब्ध साधन का सम्यक् उपयोग किया। कविता, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, समाचार-पत्र—इन सब की ओर उनका ध्यान गया और इन सब को उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया। हिन्दी में राष्ट्रीय भावना के वह अग्रदूत थे।

भारतेन्दु के महत्त्व के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है संधिकाल में सामञ्जस्य की भावना का सफल चित्रण। संधिकाल प्राचीन और नवीन कालों के सगम का काल होता है। ऐसे काल में जन्म लेकर वह कवि और लेखक सफल हो सकता है जो अपनी रचनाओं में दोनों कालों की मान्यताओं और उनकी विशेषताओं का अपनी मानसिक तुला पर उचित संतुलन कर जनता की मनोभावनाओं का सफल नेतृत्त्व करता है। भारतेन्दु इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। भारतीय इतिहास में उनका संधिकाल अन्य संधिकालों की अपेक्षा अधिक भयंकर था। हिन्दू-काल का अवसान होने और इस्लामी सभ्यता का प्रादुर्भाव होने पर इस देश में चन्द ने हिन्दू भावना का नेतृत्त्व किया, पर उनके नेतृत्त्व का प्रभाव चिरस्थायी नहीं रह सका। बात यह थी कि उन्होंने तत्कालीन जनता की भावना का नेतृत्त्व नहीं, अपनी काव्य-कल्पनाओं का, राजपूतों की युद्ध-प्रियता का चित्रण किया। कबीर भी संधिकाल के ही कवि कहे जाते हैं, पर उनकी साधना व्यक्तिगत साधना थी। लोक जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण आदि मध्य युग के कवि थे। अतः हिन्दी में संधिकाल का सफल नेतृत्त्व करने वाला यदि कोई कहा जा सकता है तो वह भारतेन्दु हैं। उनके समय में हिन्दू-सभ्यता और साहित्य को एक ओर इस्लामी सभ्यता की लाडिली उर्दू भाषा से टक्कर लेनी थी और दूसरी ओर अंगरेज़ों की भरी-पुरी भाषा अंगरेज़ी से लोहा लेना था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी की रक्षा करना और उसे भारत के शिक्षित समुदाय में लोक-प्रिय बनाकर स्कूलों में स्थान दिलाना भारतेन्दु ही जैसे कर्मठ व्यक्तियों का काम था। इतना ही नहीं, उन्होंने भाषा का संस्कार किया, उसे जीवन प्रदान किया, काव्य की

शृंगार और अलंकार से लदी हुई कविता की—पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दु:ख सुख के साथ, कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतेन्दु-युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंस प्रकोष्ठों से निकालकर अनेकरूपता प्रदान की। फलत: नाटक, उपन्यास, निबन्ध, खण्ड-काव्य, गद्य-काव्य, इतिहास आदि लिखे जाने लगे। ऐसी दशा में कवियों में आश्रयदाताओं पर जीविका के लिए निर्भर रहने की जो दूषित भावना थी, उसका लोप हो गया और वह जनता के प्रति उत्तरदायी हो गये।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता है अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीतिकाल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था। इसलिए अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए शृंगारी रचना में प्रवृत्त कवि सामयिकता तथा वास्तविकता से कोसों दूर जा पड़े थे। फलत: उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ और वास्तविक चित्रण नहीं था। सन् सत्तावन की आँधी ने रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाताओं का गढ़ तोड दिया। इस प्रकार विवश होकर उन्हें जनता के सम्पर्क में आना पड़ा और उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृंगार की प्रधानता थी, वहाँ लोक-भावनाओं की निर्मल धारा बहने लगी।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता है सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्धन में प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य गोष्ठी-साहित्य था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा रखता था। वस्तुत: वह अपनी इष्ट मित्र-मंडली को सुनाने के लिए ही लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के घर पर

लेखकों और कवियों की बैठक होती थी। ऐसी बैठकों में हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर वाद-विवाद होता था और नवीन रचनाओं पर टीका-टिप्पणी होती थी। यद्यपि उस समय की और आज की आलोचना में आकाश-पाताल का अन्तर था, तथापि उसमें व्यक्तिगत द्वेष की भावना नहीं थी। प्रत्येक कवि और लेखक अपने सम्बन्ध में की गई आलोचना को सहर्ष स्वीकार करता था और उसके आलोक में अपनी साहित्य-साधना का मार्ग निश्चित करता था। भाषा का परिमार्जन और संस्कार, काव्य-शैलियों की नवीनतम रूप-रेखा, काव्य-विषयों की छान-बीन आदि के निरूपण में सबका मत एक था। ऐसा जान पड़ता था कि उस युग के सब लेखक एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति थे।

भारतेन्दु-काल की इन विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दी का जो रूप आज हम देख रहे हैं वह वास्तव में उस युग का संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। भक्तिकाल में कविता का विषय धर्म था, रीति-काल में शृङ्गार था, भारतेन्दु-काल से इन दोनों का साहित्य में गौण स्थान हो गया। नवीन युग ने देश-प्रेम, स्वतंत्रता की भावना, समाज-सुधार की भावना आदि को प्राधान्य दिया है। पर इन धाराओं के साथ प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ सम्मिलित है। सारांश यह कि भारतेन्दु-युग अपनी सीमा के भीतर नवीन और प्राचीन दोनों है। उसमें भक्तिकाल की दैन्य भी है, रीतिकाल का माधुय भी है नवीनकाल का देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावना भी है।

भारतेन्दु के पहले गद्य-साहित्य का सर्वथा अभाव था। आजकल जिस अर्थ में हम गद्य-साहित्य को स्वीकार करते हैं उस अर्थ में गद्य-साहित्य का श्रीगणेश भारतेन्दु ने किया। उन्होंने गद्य के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसी का प्रचार किया। हिन्दी-साहित्य में उस समय गद्य-शैली में जो ग्रन्थ उपलब्ध थे वह प्रायः व्रजभाषा में थे।

भारतेन्दु का गद्य-साहित्य

और उपन्यास लिखने की ओर ध्यान दिया। उन्होंने खड़ी बोली की रूप-रेखा निश्चित की और काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, बादशाह दर्पण आदि लिखकर इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में उन्होंने उपन्यास लिखने की ओर भी ध्यान दिया, पर वह कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। उन्होंने कई निबन्ध लिखे। उनके निबन्ध गम्भीर, गवेषणापूर्ण, हास्यरसयुक्त और अपने में सम्पूर्ण होते थे। समाचारपत्रों में वह बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे। उन्होंने गद्य-गीत भी लिखे थे। उनके कथात्मक निबन्धों में 'हमीर हठ', 'राजसिंह' और एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का स्थान है। ये तीनों निबन्ध अपूर्ण हैं। आख्यानों में मदालय, लीलवती, सुलोचना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। आज के दृष्टिकोण से आलोचना करने पर इन आख्यानों का मूल्य कुछ भी नहीं है, पर जिस युग में भारतेन्दु ने इनकी रचना की थी उस युग में इनका विशेष महत्त्व था और आज भी इसीलिए उनका महत्त्व है। वेश्या-स्तोत्र, अँगरेज़-स्तोत्र, पाँच पैग़म्बर, कंकड़-स्तोत्र आदि उनके छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं। इन निबन्धों और लेखों के अतिरिक्त उनके गद्य-साहित्य में नाटकों का भी स्थान है। इन नाटकों की चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ हमें सारांश में यह समझ लेना चाहिए कि भारतेन्दु अपने समय के अप्रतिभ गद्यकार और खड़ी बोली के प्रथम आचार्य थे।

गद्य लेखक होने के नाते भारतेन्दु अच्छे पत्रकार भी थे। उनका युग प्रचार का युग था और इसका प्रमुख साधन था समाचारपत्र।

भारतेन्दु की पत्र-कला

भारतेन्दु ने हिन्दी-प्रचार के लिए इस साधन से भी पूरा लाभ उठाया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के क्षेत्र में समाचारपत्र और पत्र-कला का जन्म हो चुका था, पर वह अत्यन्त अधकचरी दशा में था। भारतेन्दु ने उसका संस्कार किया। सन् १८६७ ई० में उन्होंने कवि-वचन सुधा प्रकाशित की और

वह इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके बाद हिन्दी-पत्रों की शृङ्खला कभी नहीं टूटी। पहले यह मासिक पत्रिका थी और इसमें प्राचीन सामाजिक कवियों की रचनाएँ पुस्तिका-रूप में प्रकाशित होती थीं। कुछ समय पश्चात यह पत्रिका पाक्षिक हो गई और इसमें राजनीति तथा समाज-सम्बन्धी निबन्ध प्रकाशित होने लगे। अन्त में यह साप्ताहिक हुई। इससे इस पत्रिका की लोकप्रियता स्वयं सिद्ध हो जाती है। यह पत्रिका भारतेन्दु की मृत्यु तक बराबर निकलती रही।

पत्र-कला में भारतेन्दु का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हरिश्चन्द्र मैगज़ीन है। यह पत्र सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था। दूसरे वर्ष इसका नाम हरिश्चन्द्र चन्द्रिका रख दिया गया। यह पत्र १८८० तक बड़ी सजधज से निकलता रहा। मासिक पत्रों में इस पत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त नाटक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी लेख भी रहते थे। १८८० ई० के पश्चात् आर्थिक संकट के कारण भारतेन्दु ने इससे अपना हाथ खींच लिया और यह मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के सम्पादकत्व में उदयपुर से निकलने लगा। नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के नाम से पुनः भारतेन्दु ने एक पत्रिका निकाली, पर इसकी दो संख्याएँ ही निकल पाई थीं कि उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने बालिकाओं के लिए बाल-बोधनी नाम की एक पत्रिका सन् १८७५ ई० में निकाली थी। यह पत्रिका भी कुछ ही समय तक निकल सकी। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक पत्रिका 'भगवद तोषिणी' भी प्रकाशित की थी। यह वैष्णव-धर्म-प्रधान पत्रिका थी। यह भी एक वर्ष तक निकल कर बन्द हो गई।

भारतेन्दु के इन पत्रों से उनकी पत्र-कला का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। उनके इन पत्रों में उनके युग के सभी लेखकों ने योग दिया था और बाद को वही पत्रकार और साहित्यकार के रूप में हमारे सामने आये। इस दृष्टि से इन पत्रों ने उस युग में हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य-सेवियों की एक ऐसी सेना तैयार कर दी जो भारतेन्दु

की मृत्यु के पश्चात् भी हिन्दी साहित्य का भाण्डार भरती रही। भारतेन्दु के जीवन-काल ही में लगभग २५ पत्र निकलने लगे थे। उस समय हिन्दी के लिए यह बड़े गौरव की बात थी।

अब तक हमने भारतेन्दु के गद्य-साहित्य की जो चर्चा की है उसमें उनके नाटकों को स्थान नहीं मिला है। अतः यहाँ हम संक्षेप में उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। उनके नाटकों के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वे कुछ तो मौलिक हैं और कुछ अनूदित। मौलिक नाटकों की रचना में भारतेन्दु ने नाटक की प्राचीन परम्पराओं का उसी सीमा तक अनुकरण किया है जहाँ तक हिन्दी नाट्य कला की आधुनिक आवश्यकताओं ने उन्हें आज्ञा दी है। अनावश्यक रूढ़ियों का परित्याग और नवीनता का आवश्यकतानुसार ग्रहण भारतेन्दु की एक विशेषता रही है और इस विशेषता का यथार्थ परिचय हमें उनकी मौलिक रचनाओं में मिलता है।

भारतेन्दु के नाटक

अब हमें यह देखना है कि भारतेन्दु अपनी नाट्य-कला में कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्य के विभिन्न अंगों के परिवर्धन एवं विकास में जहाँ वह अग्रसर रहे वहाँ इस दिशा में वह प्रथम आचार्य सिद्ध हुए। उनके पूर्व हिन्दी में नाटक थे ही नहीं। कुछ तो गद्य की भाषा का रूप स्थिर न होने के कारण और कुछ रंगमंचों के अभाव के कारण हिन्दी-नाटकों की ओर किसी पूर्ववर्ती लेखक का ध्यान नहीं गया। श्रव्य-काव्य का ही प्रत्येक दशा में बोलबाला रहा। मुसलमानों की धार्मिक भावना भी दृश्य-काव्य-विरोधी थी। इसलिए उनके शासन-काल में भी हिन्दी नाट्य रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला। इस युग में नाटक नाम से कुछ चीज़ें अवश्य लिखी गई थीं, पर उनमें नाटकीय तत्त्वों का सर्वथा अभाव था। रामचरितमानस में जो नाटकीय छटा थी उसी को लेकर रामलीला के अवसरों पर कुछ खेल-तमाशे हो जाया करते थे। ऐसी ही कुछ मौलिक रचनाएँ भी हो

चुकी थीं। ब्रज-प्रदेश में भी इसी प्रकार के सम्वाद और खेल कृष्ण-लीला के नाम से लिखे गये थे। संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी पद्य में हुए। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी नाटक के तीन रूप थे—१. राम लीला के लिए दोहे-चौपाइयों में गद्य-संकेतों के साथ सम्वाद, २. ब्रजभाषा पद्य में संस्कृत से अनुवाद जिनमें प्रायः संकेत रूप में गद्य होता था। और ३. संस्कृत के गद्य-अनुवाद। नाटक के इन रूपों में कोई साहित्यिक नाट्य-कौशल नहीं था। भारतेन्दु-युग ने इस युग का अवसान देखा और नाट्य-प्रिय अँगरेजी सभ्यता का अभियुत्थान। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली का रूप भी उनके समय तक बहुत कुछ स्थिर हो गया था। अतः ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु को अपनी नाट्य-कला प्रदर्शित करने का अच्छा अवसर मिला। इस दिशा में उनके पिता ब्रजभाषा में नहुष नाटक लिखकर उनका पथ-प्रदर्शन कर चुके थे। वह नाट्य-प्रमी थे, और नाट्य-कला से भली भाँति परिचित थे। भारतेन्दु पर इसका प्रभाव पड़ा। नाट्य-कला में वह भी पारंगत थे। अभिनय में वह स्वयं भी भाग लेते थे। उन्होंने नाट्य-शास्त्र का अध्ययन भी किया था और उस पर हिन्दी में 'नाटक' नाम से एक निबन्ध भी लिखा था। कहने का तात्पर्य यह कि नाटक की रचना के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह समस्त गुण भारतेन्दु में थे। अपनी जगन्नाथ-यात्रा में वह बँगला नाटकों और नाटक-मंडलियों से भी परिचित हो गये थे। अतः उनका ध्यान इस ओर गया। उन्होंने संस्कृत के नाटकों की ओर भी ध्यान दिया। इसलिए उन्होंने नाटक रचना का अभ्यास अनुवाद से आरंभ किया। अंगरेजी नाटकों से उनका विशेष परिचय नहीं था। उनका 'दुर्लभ बन्धु' 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। अनुवाद के साथ-साथ उन्होंने मौलिक नाटकों की भी रचना की। उनके मौलिक नाटक पौराणिक और ऐतिहासिक हैं। 'भारत-दुर्दशा' उनकी मौलिक कल्पना का प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ही हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक नाटककार थे और इस रूप में भी हम उनको बहुमुखी और बहुरंगी पाते हैं।

भारतेन्दु के नाटक मर्मस्पर्शी होते हैं। उनमें जीवन की उठान के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। उनमें जातीय आदर्शों का सौंदर्य रहता है, सद्भाव की प्रखर प्रेरणा रहती है और राष्ट्रीय शक्ति का प्रभावशाली उद्घोष रहता है। उनको पढ़ने से जितना आनन्द आता है उतना ही रंगमंच पर उन्हें देखने से। उनसे हमारी अधोगामिनी मनोवृत्तियाँ परिष्कृत और शुद्ध होती हैं। उनमें हास्य और व्यंग की मात्रा भी अधिक रहती है। उनमें आत्मनिर्भयता और कर्मठता का भाव भरा रहता है। आडम्बरशून्य होने के कारण वह रंगमंच की शोभा भी बढ़ा सकते हैं। साधारण रंगमंच पर भी वे आसानी से खेले जा सकते हैं। उनका आकार भी इतना परिमित हैं कि दो-तीन घंटे उनके आद्योपान्त अभिनय के लिए पर्याप्त होते हैं। आज भी उनके अभिनय-द्वारा ग्रामों और नगरों में जन-साधारण के बीच राष्ट्रीय समुत्साह का प्रचार किया जा सकता है। हम जहाँ भी चाहें वहाँ जाकर उनके उपयुक्त छोटा-मोटा रंगमंच खड़ा कर सकते हैं। सारांश यह कि जन-हित की दृष्टि से नाटकों के यथार्थ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज हमें जैसे नाटकों की आवश्यकता है वैसे नाटक एकमात्र भारतेन्दु से ही प्राप्त होते हैं।

रचना-शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक संस्कृत के नाटकों से अधिक प्रभावित हैं, पर उनमें सर्वत्र मौलिकता बनी हुई है। उनकी रचना-शैली में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों की रचना में न तो एकान्तिक रूप से प्राचीन नियमों का पालन किया है और न बँगला-नाटककारों की भाँति उनका सर्वथा परित्याग; अँगरेजी-नाटकों का अन्धानुकरण भी उनमें नहीं है। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती है। पताका-स्थानक आदि का प्रयोग भी वह कहीं-कहीं करते हैं। इस प्रकार वह अपने नाटकों में प्राचीन भी हैं और नवीन भी। उनकी शैली इन दोनों युगों का कूल छूती हुई चलती है। वस्तुतः उनका युगान्तकारी स्वरूप हमें उनके नाटकों में ही देखने को मिलता है।

भारतेन्दु की श्रेष्ठ तथा सबसे अधिक लोकप्रिय कृति सत्य हरिश्चन्द्र नाटक है। इसमें सत्य का जो आदर्श अंकित है वह उनके कला की सर्वथा मौलिक देन है। इस नाटक की रचना में उन्होंने क्षेमीश्वर के 'चंडकौशिक' से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ली है, पर कथानक, उद्देश्य और आदर्श की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और उन्नत है। इसमें करुण, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों का परिपाक भी अच्छा हुआ है। हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैव्या का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सराहनीय है। भारतीय आदर्शों की इसमें पूरी रक्षा हुई है। वात्सल्य के चित्र तो बड़े ही मार्मिक हैं। नाटक के उपक्रम में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए की गई थी। फलतः इसमें शृंगार का अभाव है। परन्तु स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै' आदि जैसी बातें लिखना, वह भी ऐसे समय में जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता आज-जैसी नहीं थी, भारतेन्दु की परम देश-भावना, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है। उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देश हितैषिता की सच्ची लगन में अनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है। पूर्व गौरव की स्मृति, आत्म ग्लानि, लांछना, व्यंग, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ समय-समय पर अपनी क्रीड़ा किया करती हैं। भारत दुर्दशा पूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और इसमें ये सब प्रवृत्तियाँ हृदय के सच्चे संयोग के साथ स्थल-स्थल पर दिखाई देती हैं। रोग, आलस्य, मदिरा, अहंकार आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। इनके कारनामों का वर्णन स्वाभाविक और शिक्षाप्रद है। भारत की दुर्दशा को देखकर नील देवी में उन्होंने करुणानिधि का आंचल पकड़ा है। 'कहाँ करुणानिधि केसव सोए' में उनकी आत्मा का करुण-क्रन्दन देखने-योग्य है। 'चलहु वीर, उठि करत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ' में उनकी आत्मा का समस्त उत्साह फूट पड़ा है। ईश्वर की अनुकम्पा और उसकी शक्ति में विश्वास रखते

हुए भी भारतेन्दु क्रियाशील हैं। अपने जीवन में भी और साहित्य में भी। वह रोते हैं, पर रोकर चुप नहीं रहते; समर-क्षेत्र में उतरकर लोहा लेने की क्षमता रखते हैं। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के उपयुक्त नारी-चरित्र का चरम आदर्श उन्होंने नील देवी के चरित्र में चित्रित किया हैं। अँगरेजी रमणियों की उच्छृंखल विलासिता और तितलीपन से भारत के नारी-समाज को बचाने का यह एक सफल प्रयास है। **वैदकी हिंसा हिंसा न भवति** एक प्रहसन है जिसमें मांस तथा मदिरा सेवन करनेवालों का मज़ाक उडाया गया है और तत्कालीन समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के पक्षपातियों और पाखंडी पण्डितों पर व्यंग के हास्यपूर्ण छींटे कसे गये हैं। **चन्द्रावली** शृंगार रसपूर्ण नाटिका है। इसकी भाषा बड़ी मधुर और परिमार्जित है और इसमें पीयूषवर्षी प्रेम का मंजुल चित्र अंकित किया गया है। संयोग और विरह के मार्मिक चित्रों से यह परिपूर्ण है। प्रेम और औत्सुक्य का इसमें अच्छा सामञ्जस्य हुआ है। **अंधेरनगरी** भी एक प्रहसन है। इसमें देश की वर्तमान स्थिति के बड़े आकर्षक और व्यंगपूर्ण चित्र हैं।

यह तो हुआ भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटकों का सामान्य परिचय। अब हम उनकी नाट्य-कला पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में हम पहले बता चुके हैं कि उन्होंने नाट्य-शास्त्र के प्राचीन सिद्धांतों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। उनके नाटकों में न तो अर्थ-प्रकृतियों का ही पता चलता है और न संधियों का ही। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी शास्त्र-सम्मत नहीं है। उनमें क्रम-विकास का भी अभाव है। वस्तुतः उनके नाटक आधुनिक शैली के अनुकूल हैं। अतः इसी दृष्टि से हमें उन पर विचार करना चाहिए :—

१. कथावस्तु—भारतेन्दु के नाटकों का विषय प्रेम और राष्ट्रीयता है। उनकी राष्ट्रीयता ही आर्य-गौरव और देश-प्रेम आदि के रूप में प्रकट हुई है। उनके नाटकों में सामाजिक जीवन के भी मार्मिक चित्र हैं।

वर्ण्य विषयों का आधार प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक हैं। प्रागैतिहासिक अथवा पौराणिक में सत्य हरिश्चन्द्र, ऐतिहासिक में नीलदेवी और काल्पनिक में भारत-दुर्दशा का स्थान मुख्य है। भारत-दुर्दशा में कोई कथावस्तु नहीं है। इसमें भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावनाएँ ही कथा के रूप में चित्रित हुई हैं।

भारतेन्दु ने अपने कथानकों का सगंठन अपने निजी ढंग से किया है। उनके प्रत्येक नाटक अंकों में और फिर दृश्यों में विभाजित नहीं हैं। सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली आदि तो अंको में विभक्त हैं; पर नीलदेवी तथा भारत-दुर्दशा आदि दृश्यों में। कथानक में क्रम-विकास भी स्पष्ट नहीं है। कुछ नाटक तो आदि से अन्त तक एक ही समान बने रहते हैं। अंकों के छोटे-बड़े होने के नियम को भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। साधारणतः बादवाले अंकों को पिछले अंकों की अपेक्षा छोटा होना चाहिए, पर सत्य हरिश्चन्द्र में इस सामान्य नियम की भी उपेक्षा की गई है। अंधेरनगरी आदि नाटकों में दृश्य शृंखलाबद्ध हैं। दर्शकों की रुचि को स्थायित्व देने के लिए भिन्न-भिन्न दृश्यों में भिन्न-भिन्न रसों का समावेश किया गया है।

भारतेन्दु के कथानक मनोरंजक, प्रभावोत्पादक और रसपूर्ण हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में हास्य की कुशल योजना की है। इसके साथ ही वह राष्ट्रीयता और आर्य-गौरव को भी नहीं भूले हैं। कथानक की सामग्री एकत्र करने में उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक रही है। गरीब-अमीर, कर्मण्य, अकर्मण्य, पंडित-मूर्ख, देश-विदेश सभी ओर उनकी दृष्टि गई है। फलतः कल्पना और अनुभूति, आदर्श और यथार्थ, आकाश और पृथ्वी का अत्यन्त सुन्दर सम्मिलन उनके नाटकों में हुआ है।

२. चरित्र चित्रण—भारतेन्दु के नाटक चरित्र-प्रधान होते हैं। अतः उनमें घटनाओं की सर्वथा गौणता रहती है। आरंभ में सूत्रधार और नटी आदि के सम्भाषण से नायक के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। इसके बाद समुद्र की तरंगों के समान घटनाएँ क्रम से आती

रहती हैं और अपने स्पर्श और चोट से नायक के चरित्र का विकास करती हैं। भारतेन्दु अपने पात्रों के एक-एक अंग ो धीरे-धीरे अनावृत करते हैं। उनके पात्र मानव और देव, सज्जन और दुष्ट, वास्तविक और कल्पित सभी प्रकार के होते हैं जिनके गुण-दोषों का आरंभ में निर्देश-सा कर दिया जाता है। उनके पात्र स्थिर होते हैं, परिवर्तन-शील नहीं। वह एक निश्चित लीक पर उत्तरोत्तर बढ़ते हैं और अन्त में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। आरंभ में पात्रों के जिन रूपों के धूमिल रेखा-चित्र लेकर नाटककार उपस्थित होता है अन्त में उन्हीं रूपों का स्पष्ट और अनुरंजित चित्र देकर वह रंगमंच से तिरोहित हो जाता है। प्रथम झांकी में पात्रों के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा बँधती है वही अन्त तक बनी रहती है। उसमें किसी प्रकार का कहीं भी परिवर्तन नहीं होता। हरिश्चन्द्र, नील देवी आदि ऐसे ही पात्र हैं। विश्वामित्र इसके अपवाद रूप हैं।

भारतेन्दु का चरित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। उनके सभी पात्र जीते-जागते होते हैं और हमारे हृदय को छूने और उसे अनुप्राणित करने में समर्थ होते हैं। उनके पात्र सामान्य भूमि से ऊपर उठे हैं और कुछ अतिरंजित भी हैं। हरिश्चन्द्र और चौपट्ट राजा ऐसे ही पात्र हैं। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानव की सरल मनोवृत्तियों का ही अंकन मिलता है। सूक्ष्म मनोभावों की इनमें बड़ी कमी है। मानव हृदय का अन्तर्द्वन्द्व इन पात्रों में नहीं है। भारतेन्दु के पात्र अपने मनोविकारों और कुवृत्तियों से उतना नहीं लड़ते जितना अपनी परिस्थितियों से। इसका एक कारण है। उनके पात्र वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। हरिश्चन्द्र उस वर्ग के प्रतिनिध हैं जो सत्य के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। चन्द्रावली, नील देवी आदि नारियाँ भी किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करती हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु ने अपने चरित्र-चित्रण में उन सभी

उपादानों से काम लिया है जनके कारण उसकी रोचकता में अभिवृद्धि होती है। चरित्र-चित्रण में निम्न उपादान होते हैं :—

१. कथोपकथन में पात्रों की उक्तियाँ,

२. उनका स्वागत भाषण,

३. उनके सम्बन्ध में अन्य पात्रों के कथोपकथन, और

४. उनका निजी कार्य-व्यापार।

भारतेन्दु सर्वप्रथम अन्य पात्रों के कथोपकथन द्वारा अपने नायकों का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं और तब उनके कार्य कलापों द्वारा अपने अभिमत की परिपुष्टि करते हैं। बीच-बीच में स्वागत-कथन और आकाश भाषित द्वारा पात्रों की मानसिक अवस्था और आन्तरिक भावनाओं पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। पात्रों की भाषा उनकी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल है।

३. कथोपकथन—भारतेन्दु के नाटक इतिवृत्तात्मक होते हैं, इसलिए उनमें कथोपकथन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। नाटक की रचना में नाटकत्व और कवित्व लाने, कथानक के प्रवाह को गतिशील और रोचक बनाने तथा पात्रों के मनोवेगों और भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए कथोपकथन की आवश्यकता होती है। यह जितना ही सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, शिष्ट, चुटीला और देश-काल तथा पात्र के अनुकूल होता है उतना ही नाटक की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु ने पात्रोचित भाव और भाषा पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया है। जो पात्र जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है अथवा जिस संगति में रहता है उसके भाव भी वैसे ही हैं; दुष्टों के विचार दुष्टतापूर्ण और सज्जन के सज्जनतापूर्ण। भारतेन्दु में जब सिद्धान्तों के प्रतिपादन और राष्ट्रीयता के भाव तीव्र हो जाते हैं तब उनके कथोपकथन कुछ अस्वाभाविक हो जाते हैं; ऐसा जान पड़ता है वह नाटककार नहीं वक्ता हैं। ऐसे अवसरों पर कथोपकथन की रोचकता नष्ट हो जाती है और दर्शक का जी ऊब जाता है। कथोपकथन छोटा, संयत

गम्भीर, संदर्भपूर्ण और चुटीला होना चाहिए। भारतेन्दु स्थान-स्थान पर वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं और उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि के फेर में पड़ गये हैं।

४. अन्य विशेषताएँ— भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटक अभिनय-शील हैं। उनमें मनोरंजन का केन्द्र आदि से अन्त तक बना रहता है। उनके नाटकों में कविता का विशेष स्थान रहता है। उनमें ऐसे अनूठे और विलक्षण दृश्य नहीं रहते जो रंगमंच पर न दिखाये जा सकें। उनमें प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत संगम रहता है। उनके सभी पात्रों में भारतीय संस्कृति भरी रहती है और वह अपनी तत्कालीन परि-स्थितियों से परिचित और प्रभावित रहते हैं। उनकी वेश-भूषा भारतीय होती है। वह उच्च उद्देश्यों और आदर्शों के पोषक और रक्षक होते हैं। जीवन की उदात्त वृत्तियाँ उनमें भरी रहती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु का वही स्थान है, जो संस्कृत के नाट्य-साहित्य में भरत मुनि का है। उन्होंने हिन्दी का रंगमंच तैयार किया और जनता का ध्यान उसकी ओर आक-र्षित किया। उनके समय में नाटकों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उनका न तो अपना रंगमंच था और न अपनी शैली! पारसी रंगमंच पर अश्लील अभिनय होते थे। इसलिए शिक्षित समाज में नाटक का नाम लेना ही निन्दनीय समझा जाता था। लोगों की यह धारणा हो चली थी कि नाटक देखना चरित्र भ्रष्ट करने का एक साधन है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु ने हिन्दी-नाटकों की लोकप्रियता सिद्ध की। इतना ही नहीं, उन्होंने नाटक लिखे; उनका अभिनय किया और स्वयं उनमें सक्रिय भाग लिया। इसका फल यह हुआ कि शिक्षित वर्ग का नाटकों के प्रति जो प्रतिकूल दृष्टिकोण था उसका परिमार्जन हो गया। पर केवल दृष्टि-कोण का परिमार्जन न करना ही उस समय अलम न था। नाटकों को प्रेम के अश्लील क्षेत्र से निकालकर धार्मिक क्षेत्र में लाने की भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने

कुछ तो प्राचीन संस्कृत नाटकों के अनुवाद द्वारा की और कुछ मौलिक रचनाओं द्वारा। उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता के उच्च उद्देश्य ही जनता के सामने रखे। देश के तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों से भी उन्होंने अपने नाटकों को सजाया और इस प्रकार उन्हें पूर्ण बना दिया। हिन्दी आज उनकी इस कार्य-कुशलता का आभार मानती है और अपने नाट्य-साहित्य में उन्हें प्रथम स्थान देती है।

भारतेन्दु की काव्य-साधना

नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी बहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है। वस्तुतः उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वह साधारण कवि नहीं, आशु कवि थे। इसलिए लिखने का सामान सदैव उनके साथ रहता था। उनके मन में जब तरंग उठती थी तब वह लिखने बैठ जाते थे और धारावाही रूप से लिखते थे। उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह भावावेश में जो कुछ लिखते थे वह कविता ही होती थी। भावुकता उनमें इतनी अधिक थी कि उसका उद्रेक होने पर उन्हें अपनी स्थिति तक का ध्यान नहीं रहता था। वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

भारतेन्दु का काव्य कई रूपों में हमें मिलता है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व हुआ है। वह प्रत्येक युग की जिन विशेषताओं से प्रभावित थे उन्हीं के अनुरूप उन्होंने कविता की थी। वह अपनी रचनाओं में कभी भक्ति-कालीन हैं, कभी रीति-कालीन और कभी एकदम शुद्ध आधुनिक। इन विविध रूपों के अतिरिक्त उन्होंने बँगला और उर्दू कविताएँ भी लिखी हैं। वह अपने समय के उर्दू के प्रतिष्ठित कवि थे और मुशायरों—उर्दू-कवि-सम्मेलनों—में बराबर भाग लेते रहते थे। 'रसा' उनका उपनाम था। उनकी बहुत सी कविताएँ इस श्रेणी में आती हैं। अपनी सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कविताओं को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. भक्ति प्रधान, २. शृंगार प्रधान, ३. देश-प्रेम प्रधान और ४. सामाजिक समस्या प्रधान।

१. भक्ति-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु पुष्टि-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त थे। इससे उनकी कविता का सबसे बड़ा भाग वैष्णव-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैष्णव-कृष्ण-भक्ति काव्य के जितने भी अंग हैं, उन सब पर उन्होंने कुछ-न-कुछ लिखा है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण इस पद में देखिए :—

हम तो मोल लिये या घर के,
दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।

भारतेन्दु का भक्त-साहित्य गीति-काव्य की श्रेणी में आता है। इसके अन्तर्गत हमें लगभग डेढ़ हज़ार पद मिलते हैं। इतने सुन्दर पद इतनी बड़ी संख्या में अष्टछाप के कवियों के पश्चात् भारतेन्दु ही ने लिखे हैं। इन पदों का विषय राधा-कृष्ण-लीला है, पर अन्य विषयों का समावेश भी कुछ पदों में हुआ है। बाललीला, राधाकृष्ण-प्रेम-विलास, मान, रूप-वर्णन, वंशी, दान, विरह, मिलन, भ्रमर-गीत, नैन और मन के प्रति कहे पद उनके रीति-काव्य में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति, विनय, दैन्य, होली, वसंत, फाग वर्षा आदि का वर्णन भी उनके पदों में पाया जाता है। इनमें हम कवि को कृष्ण-भक्त-कवियों की परम्परा का विकास करते पाते हैं। भारतेन्दु का समस्त कृष्ण-काव्य सूर के काव्य के आधार पर खड़ा है। वही विषय, वही भाषा, वही शब्द-विन्यास, वही दैन्य, वही भाव-भंगिमा। जयदेव के गीतगोविन्द की छाप भी इन पर पड़ी है, पर सूर की अपेक्षा कम। कुछ नमूने देखिए :—

चिर जीवो मेरे कुँवर कन्हैया।
इन नैनन हौं नित नित देखौं राम-कृष्ण दोऊ भैया॥

× × ×

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥

× × ×

लम्बी अवधि के पश्चात् शांति स्थापित हुई थी। अतः भारतेन्दु
स काल में लोगों का ध्यान देश की ओर आकर्षित किया।
ाथम उन्होंने भारत-दुर्दशा में अपने प्रेम का परिचय इस प्रकार
:—

रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इसी नाटक के छठे अंक में उन्होंने भारत-भाग्य से यह भी
ाया :—

अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कुछ बची बड़ाई।
फिरि पछताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में उनकी राष्ट्रीय आत्मा का जैसा स्पष्ट
देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी प्रायः समस्त
ाएँ ऐसे चित्रों से भरी पड़ी हैं। चाहे जैसा अवसर हो, चाहे जैसी
ां हो वह अपने देश को कभी नहीं भूलते। घूम-फिरकर उन्हें उसके
गौरव, उसकी वर्तमान हीनावस्था और उसके भविष्य का ध्यान
ही जाता है। उस समय वह अपने विचारों को रोक नहीं सकते।
त के प्राचीन गौरव का स्मरण करके उनका यह कहना—'सोइ भारत
आज यह भई दुरदसा हाय'—उनके क्षोभ, उनकी निराशा और
की उद्विग्नता को सूचित करता है। 'कहाँ करुनानिधि केशव सोए'
उनकी आत्मा का बड़ा ही मार्मिक रुदन है। विदेशी सत्ता के फौलादी
ं में कसा हुआ भारत पग-पग पर जिन कठिनाइयों का अनुभव कर
था उनसे वह भलीभाँति परिचित थे। वह जानते थे कि भारत के
ं में विदेशी शासन घातक है। वह यह भी अनुभव करते थे कि
त में जितनी आह और कराह है, जितना रुदन और कोलाहल है
का कारण आर्थिक संकट है। इसलिए कर-वृद्धि और विदेशी वस्तुओं

के विरुद्ध भी उन्होंने अपनी रचनाओं में संकेत किया। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' और 'उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख वहै' आदि पंक्तियों में उनकी यही भावना चित्रित हुई है। वह यह भी कहते हैं :—

कछु तो वेतन में गयो, कछुक राजकर माँहि।
बाकी सब व्योहार में गयो रह्यो कछु नाहिं॥

सारांश यह कि उनके हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जाग्रत हो उठती थी। वस्तुतः आज की राष्ट्रीयता का प्रथम मंत्रोचार उन्होंने ही किया था।

४. सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की सामाजिक विषयों में भी रुचि थी। वह प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन को सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। समाज के दोष उनसे छिपे नहीं थे। उनका कहना था :—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल वीरज मार्‍यो।
विधवा-व्याह निषेध कियो व्यभिचार प्रचार्‍यो॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में तत्कालीन हिन्दू-समाज की उन समस्याओं का विवरण है जिनकी ओर सुधारवादियों का ध्यान था। धार्मिक पाखण्ड, विभिन्न मत-मतांतरों का प्रचार, अनेक जातियों की उत्पत्ति, छूआछूत की दूषित प्रणाली, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अंधविश्वास, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि समस्याएँ भारतेन्दु के सामने थीं। उन्होंने इन समस्याओं को अपने दृष्टिकोण के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न किया। समाचार-पत्रों द्वारा उन्होंने सामाजिक आन्दोलन चलाया और कविताएँ लिख-लिखकर जनता को सामाजिक दोषों की ओर आकर्षित

किया। उनके समय में समाज-सुधारकों के तीन दल थे—१. अ
वर्तनवादी सनातनी, २. वैदिक धर्म के पक्षपाती और ३. अँ
सभ्यता के पोषक। अपरिवर्तनवादी युग-परिवर्तन की ओर आँखें
करके लकीर के फकीर बने थे, वैदिक धर्म के पक्षपाती स्वामी दय
के नेतृत्व में सनातनियों का खंडन कर रहे थे और ईसाई तथा इ
धर्म का विरोध। अँगरेजी सभ्यता के पोषकों को न तो अपने समा
चिन्ता थी और न अपने देश की। भौतिकता की आँधी में वे च
रहे थे। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अनुसरण वि
वह न तो हिन्दू-समाज को छोड़ने के लिए तैयार थे और न उसे
का त्यों अपनाने के लिए। उन्होंने समाज में सुधारों का सम
सामंजस्य की भावना की दृष्टि से किया। धार्मिक एकता स्थापित
हुए उन्होंने जैन कुतूहल में कहा :—

> खंडन जग में काको कीजै।
> सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै॥

× × ×

> नहिं मन्दिर में, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में।
> हरीचन्द वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥

भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। उनकी आन्तरिक अभि
थी कि स्त्रियां शिक्षित होकर वीर प्रसविनी बनें।

सारांश यह कि भारतेन्दु केवल साहित्यकार ही नहीं, समाज-सु
भी थे। उनका साहित्य उनके नेतृत्व का एक रूप है। उन्होंने
साहित्य भी लिखा है। ठुमरी, लावनी, गजल, ख्याल, नौटंकी के
और सामाजिक आहार-व्यवहार तथा उत्सवों पर गाये जानेवाले
की भी उन्होंने रचना की है। अपनी इस जन-शैली में उन्हें अभू
सफलता मिली है।

भारतेन्दु ने प्रकृति के भी चित्र उतारे हैं, पर इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। उनके मानव-प्रकृति के चित्र शुद्ध और यथार्थ हैं।

भारतेन्दु का प्रकृति-चित्रण

इसका एक कारण है। भारतेन्दु का समस्त जीवन एक नगर के बीच भव्य भवन में व्यतीत हुआ था। उन्हें उद्यानादि की भी विशेष रूचि नहीं थी। पर्यटन आदि में भी वह वन्य शोभा की ओर विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए थे। फलतः प्रकृति-चित्रण में उन्हें विशेष आनन्द नहीं मिला। शुद्ध प्राकृतिक वर्णन का इसीलिए उनके साहित्य में अभाव है। सत्य हरिश्चन्द्र में जिस गंगा का वर्णन है वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होनेवाली गंगा न होकर काशी के विशालकाय घाट माला के नीचे प्रवाहित होनेवाली गंगा-धारा है। इसी गंगा-धारा के धार्मिक महत्त्व से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने उसका जो चित्र अंकित किया है, उसमें मानव प्रकृति ही का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। देखिए :—

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमिआवत।
जिमि नर गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

चन्द्रावली में यमुना की शोभा भी कुछ इसी प्रकार चित्रित हुई है। उसमें कवि-कौशल ही अधिक है, शुद्ध प्रकृति की शोभा की ओर दृष्टि कम है। उसमें उन्होंने मानव-हृदय पर प्राकृतिक दृश्य द्वारा पड़े हुए प्रभावों को ही विशेष रूप से अंकित किया है। देखिए :—

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित वहु भाँतिन।
कहूँ सैवालिन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज शोभा।
कै उमँगे प्रिय-प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्रकृति के मनोमुग्धकारी व्यापारों पर

भारतेन्दु मुग्ध भी नहीं होने पाते थे कि मानव-प्रकृति का वेग उन्हें अपने साथ बहा ले जाता था और वह प्रकृति का वर्णन करते-करते मानव-प्रकृति का वर्णन करने लग जाते थे।

पक्षियों का नाम गिनाना या उनकी बोलियों को अपनी भाषा-द्वारा व्यक्त करना प्रकृति-चित्रण नहीं है। भारतेन्दु ने अपने प्रकृति-वर्णन में इस प्रकार का भी प्रयास किया है :—

कूजत कहुँ कल हंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल कुक्कुट धावत॥

यह प्रकृति का सांगोपांग चित्र नहीं, उसका इधर-उधर बिखरा हुआ वर्णन-मात्र है। इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण एक कवि का प्रकृति चित्रण नहीं कहा जा सकता। प्रकृति-चित्रण में कवि अपनी आत्मा का प्रकृति की आत्मा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है और तब उसका चित्रण करता है। प्रकृति के ऐसे चित्रों में सजीवता होती है। भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में सजीवता नहीं है। उसके पढ़ने से कवि का काव्य-कौशल तो सामने आता है, प्रकृति का यथार्थ चित्रण नहीं। ऐसी दशा में हम भारतेन्दु को प्रकृति-चित्रण का सफल कवि नहीं कह सकते। पर एक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है। उनके पहले प्रकृति-चित्रण एक बँधी हुई सीमा के भीतर केवल परम्परा-पालन की दृष्टि से किया जाता था। रीतिकालीन कवियों का प्रकृति के प्रति अनुराग नहीं था। वह तो नारी-सौंदर्य के उपासक थे। यदि कभी प्रकृति वर्णन की ओर झुके भी तो वह केवल नारी-सौंदर्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए। उनके ऐसे प्रकृति-वर्णनों में काव्य-कौशल ही रहता था, प्रकृति-सुन्दरी का चित्र नहीं। भारतेन्दु ने अपने युग में साहित्य के इस अंग-विशेष पर भी ध्यान दिया। प्रकृति-चित्रण का कोई आदर्श उनके सामने नहीं था। अतः उन्होंने अपने ढंग से उसका चित्र अंकित किया। इसका फल यह हुआ कि उनका संकेत पाकर तत्कालीन कतिपय कवियों ने

प्रकृति के बड़े ही भव्य चित्र उतारे और आज भी उतारते चले आ रहे हैं।

भारतेन्दु की रस-योजना उनके साहित्य में दो स्थलों पर देखने को मिलती है—१. नाटकों में और २. काव्यों में। भारतेन्दु के नाटकों की आलोचना करते समय हम यह देख चुके है कि उन्होंने अपने हरिश्चन्द्र नाटक में करुण, वीर, रौद्र, वात्सल्य, वीभत्स तथा भयानक रस के बड़े ही स्वाभाविक स्थल उपस्थित किये हैं। विद्यार्थियों की दृष्टि से लिखा जाने के कारण इसमें शृंगार का अभाव है। चन्द्रावली नाटिका में शृंगार-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। उसमें संयोग और वियोग दोनों के चित्र हैं। वियोग का चित्र संयोग के चित्र की अपेक्षा अधिक मार्मिक और व्यंजनापूर्ण है।

भारतेन्दु की रस-योजना

वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसके चार भेद मुख्य हैं—१. युद्धवीर, २. धर्मवीर, ३. दानवीर और ४. दयावीर। हरिश्चन्द्र प्रथम रूप को छोड़कर शेष तीनों रूपों में चित्रित किये गये हैं।

करुण रस से तो सत्य हरिश्चन्द्र भरा हुआ है। रोहिताश्व को धूल में लोटता हुआ देखकर कवि के हृदय में रस का उद्रेक देखिए :—

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ।
सो सुत लोटत धूरि में दास-बालकन साथ॥

शान्त, रौद्र, भयानक, वीभत्स, वात्सल्य, अद्भुत तथा हास्य रसों का परिपाक भी इतना ही सफल हुआ है। काव्य में शृंगार और शान्त रसों का प्राधान्य है। विलास, उद्दाम, काम-वासना अथवा व्यभिचार को प्रोत्साहन देना भारतेन्दु की शृंगारिक रचनाओं का उद्देश्य नहीं है। उनकी शृंगारिक रचनाएँ वस्तुतः उनके तत्सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरणस्वरूप ही हैं। इस दृष्टि से वह इस क्षेत्र में भी युगान्तकारी सिद्ध होते हैं। उन्होंने प्राचीन रसों में कुछ नवीन

रसों की योजना भी की है। मनोवैज्ञानिक एवं विद्वतापूर्ण तर्कों के आधार पर वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द इन चार रसों की उद्‌भावना हिन्दी-काव्य को उनकी मौलिक देन है।

भारतेन्दु की अलंकार-योजना

रसों के साथ-साथ भारतेन्दु की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी दिखाई देती है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग किया है, रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों की कलाबाजी से अपनी रचना को बहुत बचाया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, उदाहरण, संदेह, उदात्त, वक्रोक्ति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, प्रतीप, विभावना, निदर्शना, स्वाभावोक्ति, अनुज्ञा, सम, तुल्य योगिता, अत्युक्ति, व्याजस्तुति आदि अलंकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं, कहीं अपने स्वाभाविक रूप में और कहीं अपने कृत्रिम रूप में। सत्य हरिश्चन्द्र में प्रायः इन सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अन्य रचनाओं में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता है। रूपक का एक उदाहरण लीजिए :—

पल पटुला पै प्रेम-डोर की लगाय चारु
आभा ही के खंभ दोय गाढ के धरत हैं।
सुमका ललित काम पूरन उछाह भर्‌यो,
लोक बदनामी भूमि झालर झरत हैं॥
हरीचन्द आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे
पिया गुन गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोटन बढ़ाइ सदा,
विरह हिंडोरे नैन झूल्योइ करत हैं॥

इस उदाहरण में भारतेन्दु के काव्य-कौशल का चमत्कार अधिक है,

स्वाभाविकता कम। ऐसे अवसरों पर वह रीतिकालीन परम्परा में आ जाते हैं। यह दोहा भी रीतिकालीन परम्परा का एक उदाहरण है :—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकन्द।
जनहित कमला तजन जय, शिव नृप, कवि हरिचन्द॥

यह श्लेष का उत्कृष्ट उदाहरण है और शिव, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीकृष्ण, चन्द्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है। अनुप्रास और उत्प्रेक्षा की छटा इन पंक्तियों में देखिए :—

नव उज्जवल जलधार हार हीरक-सी सोहत।
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥

निदर्शना का एक उदाहरण लीजिए :—

यहाँ सत्य भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचन्द को, करन इन्द्र उर-सोक॥

भारतेन्दु की रचनाओं में ऐसे स्थल जहाँ अलंकारों की छटा दिखाई गई है, नीरस और क्लिष्ट हैं। इसका कारण है भावावेश का अभाव। भावावेश के प्रवाह में उन्हें अलंकारों की चिन्ता नहीं रहती। ऐसे अवसर पर अलंकार स्वाभाविक रीति से आते हैं।

रस और अलंकार-योजना के समान ही उनकी छन्द-योजना भी अत्यन्त सफल है। उन्होंने इस क्षेत्र में रीतिकाल की प्रक्रिया और प्रणाली को ही अंगीकार किया है, किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं की है। उसमें छंद-सौन्दर्य का नवीन उपक्रम भी लक्षित नहीं होता। भक्ति तथा रीतिकाल के पद, कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छन्दों का उनकी रचनाओं में प्रचुर विधान है। कवित्त में मनहरण और सवैया में मत्तगयन्द दुर्मिल तथा अरसात मिलते हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त हरगीतिका,

भारतेन्दु की छन्द-योजना

वसन्त तिलका, ललित पद, चौपाई, बरवै आदि भी मिलते हैं। उनका छन्दों का चुनाव विषय के अनुकूल हुआ है। भक्ति-भावना की अभिव्यंजना के लिए गेय पद ही उपयुक्त होते हैं। भारतेन्दु सूर की शैली के अनुकरण पर अपनी भक्ति-भावना का प्रकाशन गेय पदों में ही करते हैं। शृंगारी रचनाएँ अधिकांश कवित्त और सवैये में ही समर्थ होती हैं। भारतेन्दु ने उर्दू-छन्दों को भी अपनाने का प्रयास किया है, पर उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली है।

इन काव्य-छन्दों के अतिरिक्त लोक-साहित्य के सृजन के लिए भारतेन्दु ने ठुमरी, दादरा, ख्याल, नौटंकी की शैली के गाने, गजल, लावनी, कजली, बन्ने आदि में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया है। उनके समय में लावनी का बड़ा आदर था। इसलिए उन्होंने लावनी को साहित्यिक रूप देकर उसे हिन्दी-छन्द योजना में स्थान दिया है। यह नवीन प्रयोग तो नहीं था, पर इससे काव्य-क्षेत्र में कुछ नूतनता अवश्य आ गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की छन्द-योजना समयानुसार सफल है और कवि के पिंगल-ज्ञान की समर्थक है। उनकी छन्द-योजना निर्दोष, विषयानुकूल, और विविधरूपिणी है।

भारतेन्दु की भाषा

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु का लक्ष्य था हिन्दी का भारतीय जनता में प्रचार और इस प्रचार-द्वारा हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें जनता की भाषा अपनाना आवश्यक था। उस समय शिक्षित समाज की भाषा खड़ी बोली थी और उर्दू की गद्य-भाषा का बोलबाला था। हिन्दी का गद्य पिछड़ा हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशा उल्ला खाँ, सदासुखलाल प्रभृति लेखकों की गद्य-रचनाओं में उर्दू गद्य साहित्य जैसी मिठास थी और न चुलबुलापन था। किसी में ग्रामीणपन था, किसी में पूर्वीपन और किसी में पण्डिताऊपन। गद्य की भाषा में जैसी चुस्ती और शक्ति होनी चाहिए, वैसी इन

लेखकों की शैलियों में से किसी में भी नहीं थी। उनके शब्द-विन्यास असंयत, वाक्य-विन्यास शिथिल और प्रवाहशून्य होते थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की शैली परिष्कृत अवश्य थी, पर वह वास्तव में हिन्दी-अक्षरों में उर्दू-शैली थी। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इन सब से भिन्न थी। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हुई थी। हिन्दी के प्रचार में ये सब शैलियाँ बाधक थीं। आवश्यकता थी ऐसे भाषा की जो सरल, सुबोध, प्रवाहपूर्ण और प्रसादयुक्त होने के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल हो। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने की। उन्होंने गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों के अध्ययन से एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनकी इस शैली में न तो उर्दू-फारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृति के तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उनकी भाषा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा थी। अपनी इस भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उन्होंने तत्कालीन हिन्दी शब्द-कोष के ऐसे समस्त अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया जिनसे प्रवाह में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया उन पर हिन्दी की छाप लगा दी। भाषा का रंग-रूप सँवारने में उन्होंने हिन्दी व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखा। उन्होने कर्णकटु शब्दों को मधुर बनाया और उन्हें हिन्दी के साँचे में ढालकर अपनी भाषा में स्थान दिया। वह अपनी भाषा की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते थे। वह उसकी आवश्यकताओं से भी परिचित थे। इसलिए उन्होंने इस क्षेत्र में जो काम किया वह स्थायी रूप से हिन्दी के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपने इस कार्य में बड़ी-बड़ी बाधाओं का—भाषा-सम्बन्धी जटिलताओं एवं सरकारी कर्मचारियों की अड़चनों का—सामना करना पड़ा, पर उन्होंने अपने बुद्धि-बल और

अध्यवसाय से सब पर विजय प्राप्त की और हिन्दी को लोक-भाषा बना दिया।

खड़ी बोली का जैसा संस्कार भारतेन्दु ने किया वैसा ही उन्होंने ब्रज-भाषा का भी किया। उनके समय में ब्रजभाषा काव्य-भाषा थी, पर वह इतनी जटिल और दुरूह हो गई थी कि पाठकों को उसमें विशेष आनन्द नहीं मिलता था। खड़ी बोली में काव्य-रचना का प्रयास यद्यपि प्रारंभ हो गया था, तथापि उसमें अभी इतना साहित्य न था कि वह लोकरंजन में समर्थ हो सके। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने ब्रजभाषा का भी परिमार्जन किया। उन्होंने उसमें से ऐसे बहुत से शब्द निकाल दिये जो अप्रचलित और कुंठित हो गये थे। उन शब्दों के स्थान पर उन्होंने नये प्रचलित शब्दों को ब्रजभाषा में ढालकर चालू किया। सारांश यह कि उन्होंने गद्य और पद्य, साहित्य के दोनों क्षेत्रों, की भाषा को समुन्नत, ग्रहणशील और प्रसाद-गुणयुक्त बनाकर अन्य भाषाओं पर हिन्दी का सिक्का जमा दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी-भाषा के निर्माता थे। उनके समय में जो शब्द जिस रूप में जनता में प्रचलित था उसे उसी रूप में उन्होंने स्वीकार कर लिया। यही उनका भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण था। संस्कृत, अरबी, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओं से उन्हें चिढ़ नहीं थी, पर हिन्दी को व्यावहारिक रूप देने के लिए वह इन भाषाओं के उन्हीं शब्दों को ग्राह्य समझते थे जो जनता में प्रचलित थे, चाहे वह उनके तत्सम रूप हों चाहे तद्भव। उनके नाटकों में भाषा का यह अभिनवरूप स्पष्ट दिखाई देता है।

अब भारतेन्दु की भाषा पर विचार कीजिए। जैसा कि अभी बताया गया है उनकी भाषा के दो रूप हैं—१. खड़ी बोली और २. ब्रजभाषा। उनकी खड़ी बोली शुद्ध खड़ी बोली नहीं है। हिन्दी शब्दों का बाहुल्य होने के साथ साथ उसमें फारसी, अरबी, अंगरेजी और संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं, पर वह हैं सब हिन्दी के साँचे में ढले हुए। उन्होंने

विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में स्वीकार न करके तद्भव रूप में स्वीकार किया है। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास आ गई है। व्रजभाषा का भी पुट उनके शब्दों पर रहता है। फालतू और भरती के शब्द उनकी रचनाओं में बहुत कम रहते हैं। उनका शब्द-चयन अर्थपूर्ण होता है और उनके वाक्य भावानुकूल कभी बड़े कभी छोटे होते हैं। उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण सरल, सरस, प्रसादगुण युक्त, चुटीली और बोधगम्य होती है। उन्होंने कोमल शब्दों को अधिक-अपनाया है। अंचल के बदले आँचल, स्वभाव के बदले सुभाय, स्नेह के बदले नेह उन्हें अधिक पसन्द हैं। देशज शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है। फारसी, अरबी और अँगरेजी के शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी उन्होंने किया है। नाटकों में इनका प्रयोग कम हुआ है। जहाँ-कहीं भी उन्होंने इनका प्रयोग किया है, भाषा सजीव हो गई है। संस्कृत की उक्तियाँ और वाक्यांश भी उनकी भाषा में पर्याप्त हैं।

भारतेन्दु की शैली

भारतेन्दु के समय में हिन्दी-भाषा-शैली के दो रूप थे—१. राजा शिवप्रसाद की शैली और २. राजा लक्ष्मणसिंह की शैली। भारतेन्दु ने इन दोनों शैलियों को त्याग कर पहले पहल भाषा को सर्वविषयोपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंगात्मक, परिहासात्मक आदि जिस प्रकार के भी विषय थे उनके व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने तदनुकूल भाषा-शैली को जन्म दिया। अपनी शैली के इस गुण के द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में सर्वदा पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया। जो जिस स्थान का पात्र है, जिस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिस सभ्यता का उपासक है, उसी के अनुकूल उसकी भाषा है। उच्च पात्रों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है और निम्न वर्गों के पात्रों के लिए गँवारू भाषा का। मराठी और बंगाली पात्रों के उच्चारण और शब्द उन प्रान्तों के निवासियों के

अनुकूल ही हुए हैं। इससे उनके कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी शैली का आदर्श उनके नाटकों में मिलता है। विषय के अनुसार उनकी शैली के निम्नरूप हो सकते हैं :—

१. परिचयात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने साधारण अवस्थाओं में किया है। इतिहास के साधारण वर्णन में तथा अन्य छोटे-छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उनकी इस शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का बाहुल्य रहता है और न फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार। इस प्रकार उनकी यह शैली राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह की शैलियों के बीच की शैली है। इसमें वाक्य छोटे-छोटे और जनता के बीच प्रचलित शब्द होते हैं। इसलिए यह शैली सरल, सुबोध और प्रसाद-गुणयुक्त होती है। मुहावरे और कहावतों का प्रयोग भी इसमें होता है।

२. भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने अपनी भावनापूर्ण रचनाओं में किया है। हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध स्नेह, प्रेम आदि के चित्रण में इसी शैली का मान्य है। इसलिए भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली आदि नाटकों में यही शैली पाई जाती है। आवेशपूर्ण स्थलों पर छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग और उनका गठन, सरल शब्दों का प्रयोग तथा प्रवाह इस शैली की विशेषता है। भारतेन्दु की इस शैली में इन सब विशेषताओं का पूर्णरूप से समावेश हुआ है। उनकी यह शैली सर्वोत्कृष्ट है।

३. गवेषणात्मक शैली—भारतेन्दु-साहित्य में इस शैली के दो रूप मिलते हैं। इसका एक रूप उनके साहित्यिक निबन्धों में है और दूसरा रूप ऐतिहासिक निबन्धों में। साहित्यिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली ऐतिहासिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली की अपेक्षा, सरस, मधुर और आकर्षक है। इन दोनों रूपों की भाषा संस्कृत-शब्द-प्रधान है। तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त होती

है। इसमें वाक्य छोटे-बड़े होते हैं। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी होता है।

४. व्यंगात्मक शैली—भारतेन्दु व्यंगात्मक शैली के जन्मदाता हैं। उनके पहले इस शैली का हिन्दी-साहित्य में अभाव था। सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डी पण्डितों का खण्डन करने के लिए उन्होंने इस शैली का सहारा लिया। इस शैली का उनके जीवन-काल ही में अत्यधिक प्रचार हुआ। उनकी इस शैली में सरल हास्य-विनोद और व्यंग की मात्रा अधिक रहती है। शिष्ट शब्दों द्वारा वह अपनी बात को इतने अनूठे ढंग से कहते हैं कि पाठक पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। कंकर-स्तोत्र में उनकी व्यंगात्मक शैली देखने योग्य है।

संक्षेप में इन शैलियों की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

१. भारतेन्दु की शैली सरस, सरल, भावानुकूल, प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणयुक्त होती है।

२. भारतेन्दु की शैली विषयानुकूल परिवर्तित होती रहती है। जैसा विषय होता है, उसी के अनुकूल वह अपनी शैली का रूप स्थिर करते हैं।

३. भारतेन्दु की शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है। समसामयिकों की भाषा-शैली से वह मेल नहीं खाती। उसमें कृत्रिमता का अंश नहीं रहता।

४. लोक-जीवन में स्वतंत्र रहने पर भी भारतेन्दु अपनी शैली का लोक-जीवन के साथ समन्वय स्थापित करते हैं। उनकी शैली लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होती है।

५. भारतेन्दु की शैली में कहीं-कहीं पण्डिताऊपन भी मिलता है। इस दृष्टि से उनकी शैली सदल मिश्र की शैली से किंचित् मेल खा जाती है। भई, सो, करके इत्यादि शब्द पण्डिताऊपन के द्योतक हैं।

६. भारतेन्दु की शैली में व्याकरण के दोष हैं। श्यामता के लिए श्यामताई, अधीरमना के लिए अधीरजमना, कृपा की है के लिए कृपा

ा है व्याकरणसम्मत नहीं है। इस प्रकार के दोषों के लिए वह
 हैं। उनके युग में व्याकरण का इतना प्रचार नहीं था जितना
 है।

इस प्रकार हम देखते हैं भारतेन्दु कई शैलियों के जन्मदाता हैं और
शैलियों की विशेषताओं से वह भली भाँति परिचित भी हैं।

अब तक हमने भारतेन्दु-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार
ा है। हमने यह देखा है कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिक हैं।

द्दी-साहित्य भारतेन्दु का स्थान

उनके विषय नये हैं, उनकी भावना नई है, उनकी
भाषा और शैली नई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास
में उनके जन्म से एक नये अध्याय का, एक नये युग
का प्रादुर्भाव होता है। इस नये युग के वह नेता हैं।
अपने नेतृत्व से उन्होंने हिन्दी को गौरवान्वित किया
है। आज हम जो कुछ हिन्दी में देख रहे हैं वह
उन्हीं की देन है, उन्हीं का प्रसाद है। हिन्दी के
ालीन एवं परवर्ती लेखकों को उनसे स्फूर्ति मिली है। उन्होंने अपने
की लोक-भावना को वाणी दी है और उसका संस्कार किया है।
के साहित्य में हम उनका कई रूप देखते हैं। वह वैष्णव भक्त,
भक्त, समाज-सेवी और समाज-सुधारक सब एक साथ हैं और प्रत्येक
में महान् हैं। उनके जीवन में अद्भुत सामंजस्य है। उनका एक
दूसरे से भिन्न नहीं है, उनकी ईश्वर-प्रेम-भावना जीवन के प्रत्येक
 में देखने को मिलती है, उनका राष्ट्र-प्रेम जीवन के प्रत्येक स्थल
छूता हुआ प्रवाहित होता है, उसका सामाजिक प्रेम जीवन के प्रत्येक
को आन्दोलित और अनुप्राणित करता है। वह भक्त होते हुए भी
्-प्रेमी है और राष्ट्र-प्रेमी होते हुए हिन्दू-समाज-प्रेमी। वह अपने
 की, अपने राष्ट्र की, अपने समाज की, अपने साहित्य की आवश्यक-
ओं से परिचित है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी
ंच है। अपनी इस पहुँच के कारण ही उन्होंने सुधारों की योजना

प्रस्तुत की है। उनका साहित्य वस्तुतः लोक-साहित्य है, जीवन का साहित्य है। उसमें हम सब कुछ पाते हैं।

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु खड़ी बोली और ब्रजभाषा के उन्नायक हैं। खड़ी बोली को सजा-सँवारकर उन्होंने उसे साहित्यिक गद्य का रूप दिया है और इस योग्य बना दिया है कि वह पद्य की भाषा भी बन सकती है। वह बहुत से दोषों से मुक्त है। उनके नेतृत्व में उसका रूप निखर आया है। ब्रजभाषा का भी उन्होंने संस्कार किया है। अप्रचलित, रूढ़, कुंठित और कर्कश शब्दों को उसकी शब्दावली से निकालकर उन्होंने उसे जनता के बीच लोकप्रिय बना दिया है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में कविवर सुमित्रानन्दन पंत का यह कहना कि हमारी भारती की वीणा का निर्माण भारतेन्दु ने ही किया था, अक्षरशः सत्य है। उनके पहले किसी को भी यह ठीक-ठीक नहीं मालूम था कि हिन्दी-भाषा को किस रूप में ढाला जाय। वस्तुतः उनके पहले हिन्दी दलबन्दी के दलदल में फँसी हुई थी। उसे दलदल से निकालकर शुद्ध करना और फिर लोक-जीवन से उसका सम्बन्ध स्थापित करना उन्हीं-जैसे प्रतिभाशाली कलाकार का काम था। हिन्दी-जगत् उनके इस महत्त्व को आज मुक्त हृदय से स्वीकार करता है और उन्हें भाषा के सुधारकों में सर्वोच्च स्थान देता है।

भावना के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का महत्त्व कम नहीं है। उनके साहित्य की आलोचना करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को एक नहीं, अनेक नवीन भावनाओं से अलंकृत और अनुप्राणित किया है। उन्होंने अपने साहित्य में सभी युगों का प्रतिनिधित्व बड़ी सफलतापूर्वक किया है। संत कवियों की दार्शनिकता, भक्त कवियों की सरसता, रीतिकालीन कवियों की अलंकार-प्रियता और शृंगारिकता के साथ साथ उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-प्रेम और जातीय-प्रेम का भी अंकन हुआ है। उन्हें जहाँ प्राचीन युग से साहित्य-निर्माण की उत्प्रेरणाएँ मिली हैं, वहाँ उन्हें अपने युग से भी प्रोत्साहन मिला है।

दोनों युगों का सुन्दर सामञ्जस्य उनके साहित्य की एक विशेषता है। अपने युग के वह प्रथम राष्ट्रीय और सामाजिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक रचना राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत है। देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थियों के उन्होंने बड़े भावपूर्ण और मार्मिक चित्र उतारे हैं। उनके इन चित्रों में भारत की तत्कालीन भावनाओं का इतिहास अपने प्रकृत रूप में चित्रित हुआ है। इस दृष्टि से वह हिन्दी-साहित्य में अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कला का प्रकाशन साहित्य के संधिकाल में हुआ है। इसलिए उनका साहित्य प्राचीन और नवीन युग का संगम-स्थल है। उनकी रसिकता दुरंगी है। वह सात्विक तथा राजस दोनों है। सात्विक रसिकता साहित्य में ईश्वर-भक्ति और देश-भक्ति के रूप में प्रकट हुई है और राजस-रसिकता शृंगारी स्निग्ध रचनाओं के रूप में। इन दोनों प्रकार की रचनाओं से उनकी प्रकृति-अनुभूति लक्षित होती है। उनके प्रत्येक विषय में देश-भक्ति का राग अत्यन्त प्रबल है। समाज-सुधार की ओर भी उनकी प्रवृत्ति गई है। इस प्रकार वह एक में अनेक और अनेक में एक हैं। उनका प्रत्येक रूप अपने में महान् है।

एक साहित्यकार के नाते हम उनको कई रूपों में पाते हैं। वह नाटककार हैं, निबन्धकार हैं, इतिहास-लेखक हैं, कथाकार हैं, कवि हैं, आलोचक हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में वह हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं। हिन्दी में नाटक-रचना का सूत्रपात उन्हीं के नाटकों से हुआ है। उनके नाटक मौलिक भी हैं और अनूदित भी। नाट्य-शास्त्र पर उन्होंने एक निबन्ध भी लिखा है। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं जो भाषा, भाव और विषय आदि की दृष्टि से बड़े महत्त्व-पूर्ण हैं। सत्य हरिश्चन्द्र और भारत-दुर्दशा उनके नाटकों में सर्वोच्च हैं। ये अभिनेय भी हैं। इन नाटकों-द्वारा उन्होंने जनता की रुचि का परिष्कार किया है और उसे प्रकृत नाट्य-कला से परिचित कराया है। अंधेरनगरी आदि उनके व्यंगपूर्ण नाटक हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त

उन्होंने कई गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण आदि उनके ऐतिहासिक निबन्ध हैं। सुलोचना, शीलवती, सावित्री आदि उनके आख्यान हैं। उन्होंने गंभीर और हास्य एवं व्यंगपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। तत्कालीन जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत करने के लिए उन्होंने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा बाला-बोधनी का सम्पादन भी किया है। इन साहित्यिक सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी काम किया है। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, छूआछूत, धार्मिक पाखण्ड, समुद्रयात्रा, गोरक्षा आदि सामाजिक विषयों पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और उन विचारों से तत्कालीन जनता का परिचय कराया है। अपने युग में वह इन सब बातों के केन्द्र रहे हैं। हिन्दी का कोई कवि इतनी समस्याओं को एक साथ लेकर साहित्य की सेवा में संलग्न नहीं हुआ। अतः इस दृष्टि से भी वह सर्वोपरि हैं, सब से ऊँचे हैं।

भारतेन्दु ने कुल चौंतीस वर्ष की आयु पाई। अपने जीवन के सोलहवें वर्ष से उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और लगभग अठारह वर्ष तक वह बराबर एक हृदय से, एक मन से हिन्दी, हिन्दू-जाति और राष्ट्र की सेवा करते रहे। इस अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है। जब तक हिन्दी-भाषा और उसके बोलनेवाले संसार में जीवित रहेंगे, तब तक भारतेन्दु मर कर भी अमर हैं। हिन्दी के लिए उनकी सेवाएँ महान् हैं और वह आधुनिक युग के साहित्यकारों में सर्वप्रथम और सर्वोच्च है।

—२—

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म सं०	मृत्यु सं०
१९२२	२००२

महाकवि पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्ण ३, सं० १९२२ को निज़ामाबाद, ज़िला आज़मगढ़ में हुआ था।

जीवन-परिचय

उनके पूर्वज बदाऊँ-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। लोदी-वंश के राजत्वकाल में जब कुछ जातीय झगड़ों के कारण दिल्ली-निवासी गौड़ कायस्थों को इब्राहीम लोदी का कोप-भाजन बनना पड़ा तब हरिऔध के पूर्वज, धर्म पंडित, ने उन्हें अपना सगोत्र कहकर उनकी रक्षा की। लोदी-वंश के पतन के पश्चात् जब मुग़ल सम्राट् बाबर का प्रादुर्भाव हुआ तब गौड़ वंशज महाबल राय के साथ इस वंश के पंडितों का आगमन निजामाबाद में हुआ। गौड़ कायस्थों ने उन्हें अपना पुरोहित मानकर सम्मानित किया। थोड़े दिनों बाद जब महाबल राय गुरु नानक की शिक्षाओं के प्रभाव में आकर नानकपंथी

हो गये तब इस ब्राह्मण वंश के लोगों ने भी उस धर्म में दीक्षा ले ली। इस प्रकार दोनों वंश सिक्ख हो गये।

हरिऔध के पिता का नाम पं० भोलासिंह था। वह बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उनके भाई पंडित ब्रह्मासिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। वह निःसन्तान थे। अपने भतीजों को वह बहुत मानते थे। वस्तुतः उनके जीवन का प्रभाव उनके भतीजों पर बहुत पड़ा। उन्हीं की देख-रेख में हरिऔध की शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हुई थी। आरम्भ में उन्हें फ़ारसी पढ़नी पड़ी। सात वर्ष की अवस्था में उनका प्रवेश स्थानीय तहसीली स्कूल में हुआ। वहाँ से उन्होंने सं० १६३६ में सम्मान सहित मिडिल पास किया जिसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वह काशी के क्वींस कालेज में अँगरेजी पढ़ने के लिए भेजे गये, पर वहाँ स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वह आगे न पढ़ सके। इसलिए घर पर ही वह फ़ारसी, उर्दू तथा संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करते रहे।

सं० १६३६ में हरिऔध का विवाह हुआ। उनका प्रारम्भिक जीवन आर्थिक संकटों का जीवन था। उनके पिता और चाचा खेती बारी और पुरोहित का कार्य करते थे। अपने भाई गुरुसेवक सिंह की शिक्षा का भी उन्हें ध्यान था। इसलिए विवश होकर उन्हें सं० १६४१ में नौकरी करनी पड़ी। सर्वप्रथम वह निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और सम्वत् १६४४ में उन्होंने नार्मल परीक्षा पास की। इस प्रकार कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् बन्दोबस्त के समय में वह क़ानूनगो हो गये और अपने अध्यवसाय तथा योग्यता के कारण उत्तरोत्तर उन्नति करके रजिस्ट्रार क़ानूनगो, सैदर नायब क़ानूनगो तथा सदर क़ानूनगो हो गये। इन पदों पर लगभग चौंतीस वर्षों तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् उन्होंने पेन्शन ले ली और अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा में अर्पित कर दिया। इस समय काशी-विश्व-विद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए एक सुयोग्य

अध्यापक की आवश्यकता थी। अतः हरिऔध ने १ नवम्बर सन् १६२३ से वहाँ अवैतनिक अध्यापक के रूप में अध्यापन-कार्य करना स्वीकार कर लिया और सन् १६४१ तक वह बड़ी सफलतापूर्वक यह कार्य करते रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने आज़मगढ़ को स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाया और यहीं ६ मार्च सन् १६४७ को उनका स्वर्गवास हुआ।

हरिऔध का जीवन भारतीय जीवन का आदर्श था। उनके भाई गुरुसेवक सिंह ने इँगलैण्ड जाकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में सिक्ख-धर्म का बाना त्याग दिया, पर हरिऔध जी ने अपना पण्डिताऊ रहन-सहन नहीं छोड़ा। वह अपनी बाल्यावस्था से ही निज़ामाबाद के सिक्ख गुरु बाबा सुमेरसिंह के प्रभाव में आ गये थे। बाबा सुमेरसिंह के सत्संग से उनमें धार्मिक भावना का जो विकास हुआ उसने उनकी जीवन-दशा को ही परिवर्तित कर दिया। इसलिए कर्मकाण्डी पंडितों के वंश में जन्म लेने पर भी उनमें वास्तविक अर्थ में शुद्ध सनातनी पंडितों की धार्मिकता का विकास नहीं हो पाया। सिक्ख-धर्म में उनका विश्वास था और अन्त समय तक वह सिक्ख बने रहे।

हरिऔध आज़मगढ़ की दिव्य-विभूति थे। अपनी जन्म-भूमि निज़ामाबाद से उन्हें विशेष प्रेम था। वह अपने गाँव के छोटे-बड़े प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह जानते और पहचानते थे। सरकारी नौकरी करते समय वह प्रायः आज़मगढ़ में ही रहते थे, पर प्रति शनिवार को सन्ध्या समय वह निज़ामाबाद में आजाया करते थे। वह सदर क़ानूनगो थे। उस समय सदर कानून होना साधारण बात नहीं थी, पर अपने इस पद का गर्व उनमें नहीं था। उनके स्वभाव में कृत्रिमता नहीं थी, चांचल्य नहीं था। बाल्यावस्था से ही वह सौम्य और गंभीर थे। स्त्री के देहावसान के पश्चात् तो वह और भी गंभीर हो गये और उनमें वैराग्य की भावना आ गई। उनके स्वभाव में कोमलता और व्यवहार में उदारता थी। अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति उनका अटल

अनुराग था। हास-परिहास में भी वह भाग लेते थे, पर बहुत कम। एकान्त-जीवन उन्हें अधिक प्रिय था। वह अच्छे वक्ता और आलोचक भी थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वह सभापति भी रह चुके थे। प्रिय प्रवास पर उन्हें सम्वत् १९९५ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला और वह सम्मेलन की 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से भी विभूषित किये गये थे। उनके इकलौते पुत्र पं० सूरजनारायण इस समय आज़मगढ़ में रहते हैं।

हरिऔध की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। हरिऔध की अनूदित रचनाएँ दो प्रकार की हैं—गद्य और पद्य। १. गद्य में 'वेनिस का बाँका' अनूदित उपन्यास है; 'रिपवान विंकिल' हिन्दी में उर्दू-रिपवान विंकिल का अनुवाद और कहानी है; 'नीति-निबन्ध' अनूदित निबन्धों का संग्रह है। २. पद्य में उपदेश-कुसुम के तीन भाग जो गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय के अनुवाद हैं और विनोद-वाटिका जो गुलज़ार दबिस्ताँ का रूपान्तर है। हरिऔध की मौलिक रचनाएँ चार प्रकार की हैं :—

हरिऔध की रचनाएँ

१. महाकाव्य—प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास।

२. स्फुट काव्य-संग्रह—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रसकलस, पद्यप्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन, प्रेम-पुष्पोहार, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह और प्रेमाम्बु-वारिध।

३. उपन्यास—ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल।

४. आलोचनात्मक—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना आदि।

हरिऔध की इन रचनाओं से उनकी साहित्यिक प्रतिभा तथा अध्ययनशीलता का अच्छा परिचय मिल जाता है।

हरिऔध पर प्रभाव

हम पहले बता चुके हैं कि आरम्भ में हरिऔध की जीवन-दिशा को मोड़ने में बाबा सुमेरसिंह का हाथ था। बाबा सुमेरसिंह अपने समय के सिक्ख गुरु ही नहीं, एक प्रसिद्ध कवि भी थे। बालक हरिऔध अपने पिता और चाचा के साथ उनके यहाँ प्रायः जाया करते थे और सत्संग में भाग लिया करते थे। उनके सत्संगों में दो ही बातों की चर्चा होती थी—सूर, कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों की पवित्र वाणियों का कीर्तन या समस्या-पूर्ति। प्रति दिन उनके सत्संग मे कोई-न-कोई नया गायक या कवि आ ही जाता था और अपनी वाणी से बाबाजी का मनोरंजन करता था। ऐसे सत्संगों में हरिऔध को विशेषरूप से आनन्द आता था। वह घंटों बैठकर गायकों की पवित्र वाणी और कवियों की समस्या-पूर्ति का रसास्वादन करते थे। ऐसे वातावरण में रहकर जहाँ हरिऔध में धार्मिक चेतना जाग्रत हुई, वहाँ उनकी साहित्यिक अभिरुचि को भी पर्याप्त बल मिला। बाबा सुमेर सिंह ने उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों का नेतृत्व किया। वह हरिऔध के धार्मिक गुरु ही नहीं, साहित्यिक गुरु भी थे। उनका उपनाम था 'हरिसुमेर' अथवा 'सुमेर हरि'। इस उपनाम से प्रभावित होकर अयोध्या सिंह ने अपना उपनाम रखा 'हरिऔध'। बाबा सुमेर सिंह भारतेन्दु के समकालीन थे। ब्रजवाणी का उस समय बोल-बाला था और कवि वही समझा जाता था जो इस भाषा में घनाक्षरी अथवा सवैया में समस्यापूर्ति कर लेता था। इसलिए हरिऔध का काव्य-जीवन समस्यापूर्तियों से ही प्रारम्भ हुआ। वह रीतिकालीन समस्त परम्पराओं को लेकर काव्य-क्षेत्र में आये और उसी भाव-धारा में कुछ समय तक डूबते-उतराते रहे, पर द्विवेदी-युग का अभ्युदय होने पर उनकी काव्य-धारा में परिवर्तन आ गया। इस युग के प्रभाव में आकर उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में कविता करना-प्रारम्भ किया। खड़ी बोली में उनकी काव्य प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ और उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की इसी भाषा में रचना

की। द्विवेदी-युग केवल भाषा के संस्कार का युग था। उस युग में गद्य और पद्य दोनों की भाषाओं का सम्यक् परिमार्जन हुआ। इसलिए हरिऔध को इस युग में अपनी भाषा को सजाने-सँवारने और परिष्कृत करने का अच्छा अवसर मिला। द्विवेदी-युग समाप्त होने पर नवीन युग अपनी नई समस्याओं, नई अनुभूतियों और नई कल्पनाओं को लेकर आया और उसने हिन्दी-साहित्य को नये ढंग से अनुप्राणित किया। हरिऔध इस युग के प्रभाव से भी न बच सके। इस युग में उन्होंने जो कुछ सोचा, विचार किया और लिखा उस पर नवीनता की स्पष्ट छाप है। उसे देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि हरिऔध इसी युग की उपज थे; पर यह कथन सम्पूर्णतः सत्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक दृष्टि से हरिऔध का केवल एक बार जन्म हुआ, पर यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो हरिऔध का तीन बार जन्म हुआ है—भारतेन्दु काल के हरिऔध, द्विवेदी-काल के हरिऔध और नवजागरण-काल के हरिऔध। भारतेन्दु-काल उनके काव्य-जीवन का शैशव काल था, द्विवेदी-काल उनके काव्य-जीवन का तरुण काल था और वर्तमान युग—प्रसाद, पन्त और निराला का युग—उनके काव्य-जीवन का प्रौढ़ काल था। उनके साहित्य में इन तीनों युगों की समस्याएँ हैं, तीनों युगों की चेतनाएँ हैं और तीनों युगों की मान्यताएँ हैं। अपने व्यक्तित्व और प्रखर प्रतिभा के आलोक में उन्होंने इन तीनों युगों की मान्यताओं को अपनी साहित्य-साधना के साथ बड़ी सुन्दरता से घुला-मिला दिया है। अपनी साहित्य-साधना में वह बैरोमीटर की भाँति सदैव सचेत रहे हैं। इसीलिए उनका साहित्य भाव और भाषा के उतार-चढ़ाव का साहित्य है। वह अपने साहित्य में कभी नीचे से ऊपर गये हैं और कभी नीचे से ऊपर आये हैं। स्थिर रूप से एक युग में रहकर उन्हें अपनी प्रतिभा का विकास करने का अवसर ही नहीं मिला। वह कभी भावों के पीछे दौड़े, कभी भाषा के पीछे और कभी भाव और

भाषा दोनों के पीछे। प्रत्येक युग में उनका विकास एक निश्चित सीमा के भीतर हुआ। इसीलिए प्रसाद की भाँति हम उनकी रचनाओं में विकास की रेखा नहीं पाते। युग के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी काव्य-धारा में मोड़ आता रहा, जो उन्हें कभी ऊँचे ले गया और कभी नीचे। उनकी साहित्य-साधना का यही रहस्य है।

हरिऔध का गद्य-साहित्य

हरिऔध का गद्य-साहित्य हिन्दी के उस काल का साहित्य है जब उसका परिमार्जन और परिष्कार हो रहा था। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य का उदय काल है और द्विवेदी-युग उसकी पुष्टि और परिमार्जन का। इन दोनों युगों के संक्रामक काल में ही हरिऔध का गद्य-साहित्य पनपा और पुष्पित हुआ है। **वेनिस का बाँका** उनके गद्य-साहित्य की पहली कड़ी है। यह अनूदित उपन्यास है। इसकी भाषा क्लिष्ट और पंडिताऊपन लिये हुये है। इसके बाद **रिपवानविंकिल** का उर्दू से हिन्दी में अनुवाद है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है। **ठेठ हिन्दी का ठाठ** सं० १९५६ की रचना है। यह उनका प्रथम मौलिक उपन्यास है। यह उस समय की कृति हैं जब हमारे साहित्य में उपन्यास-तत्त्व का प्रवेश भी नहीं हुआ था। उस समय बँगला-साहित्य में बंकिम बाबू के उपन्यासों की बड़ी धूम थी। हरिऔध ने बँगला भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् बंकिम बाबू के उपन्यासों का अध्ययन किया। वह उनके देश तथा जाति-प्रेम से अत्यधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार इन उपन्यासों के प्रभाव ने देश और जाति की दुर्दशा के प्रति वेदना की अनुभूति का संचार करके उनकी कला के स्वरूप-निर्माण के लिए एक सामग्री प्रस्तुत की। इन्हीं दिनों डा० ग्रियर्सन ने खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना के अध्यक्ष श्री रामदीन सिंह का ध्यान ठेठ हिन्दी में कोई ग्रन्थ प्रकाशित करने की ओर आकर्षित किया। बाबू रामदीन सिंह हरिऔध से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके अनुरोध से हरिऔध ने **ठेठ हिन्दी का ठाठ** लिखा।

यह उपन्यास इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए स्वीकार कर लिया गया। हरिऔध का यह सामाजिक उपन्यास था। इसके बाद अधखिला फूल लिखा गया। इन दोनों उपन्यासों का औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं है जितना कि भाषा के महत्त्व तथा हरिऔध की कला के विकास की दृष्टि से। वस्तुतः इन दोनों उपन्यासों से उनकी मानसिक क्रान्ति का श्रीगणेश प्रतिबिम्बित होता है।

कबीर ग्रंथावली तथा प्रियप्रवास की भूमिका के रूप में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक रुचि का अच्छा परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास नामक ग्रन्थ से उनकी अध्ययनशीलता, पांडित्य, सारग्रहणी शक्ति और आलोचनात्मक शैली का पर्याप्त आभास मिल जाता है। उन्होंने कुछ मौलिक निबन्ध भी लिखे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस युग में उन्होंने गद्य-साहित्य निर्माण करना आरम्भ किया उस युग की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। उनका गद्य-साहित्य आज के गद्य-साहित्य की आधार-शिला है।

हरिऔध की काव्य-साधना

हरिऔध अपने गद्य की अपेक्षा अपने काव्य के लिए हिन्दी साहित्य में अधिक लोकप्रिय हैं। वह आरम्भ से ही हमारे सामने कवि के रूप में आते हैं और इसी रूप में उनके साहित्यिक जीवन का अवसान होता है। उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ दोहों में हैं। एक दोहा देखिए :—

जाकी माया-दाम में बँधे विरंचि लखाहिं।
प्रेम-डोर गोपिन बँधे सो डोलत जग माहिं॥

इस प्रकार के दोहों की रचना हरिऔध ने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही की थी। इसके तीन वर्ष पश्चात् सन् १८८५ ई० में उन्होंने

रुक्मिणी-परिणय और प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों का काव्य-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व न होने पर भी हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उनके प्रेमाम्बु वारिधि, प्रेमाम्बु प्रस्रवण और प्रेमाम्बु प्रवाह नामक तीन संग्रह सन् १८६६ के लगभग प्रकाशित हुए हैं। इन काव्य ग्रन्थों में श्रीकृष्ण कहीं ब्रह्म के रूप में और कहीं साधारण मानव के रूप में अंकित हुए हैं। प्रेम-प्रपंच भी इसी समय के लगभग की रचना है। पहले ये चारों पृथक्-पृथक् थे, पर बाद को काव्योपवन में उनका संकलन कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में कई ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उनकी ये समस्त रचनाएँ भारतेन्दु-काल में आती हैं और उन समस्त विशेषताओं से प्रभावित हैं जिनके लिए भारतेन्दु-काल प्रसिद्ध है। शृंगार-सिन्दूर के रूप में रस-कलस की भूमिका भी इसी काल में लिखी गई है।

हिन्दी में जब द्विवेदी-युग आया तब हरिऔध की काव्य-प्रतिभा ने अपनी दिशा में परिवर्तन कर दिया। उस समय व्रजवाणी के स्थान पर खड़ी बोली को अपना कर उन्होंने प्रियप्रवास नामक महाकाव्य की रचना की। अपने इसी भिन्न तुकान्त वर्णिक महाकाव्य के कारण वह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं। इसी युग का उनका दूसरा महाकाव्य वैदेही-वनवास है। काव्य-कला की दृष्टि से इस महाकाव्य का उतना महत्त्व नहीं है जितना प्रियप्रवास का, पर भाषा-सौष्ठव इसमें भी देखने-योग्य है। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में बोलचाल, चोखे चौपदे और चुभते चौपदे जैसी उनकी कृत्तियाँ हैं। बोलचाल में बाल से लेकर तलवे तक सब अंगों तथा चेष्टाओं के प्रचलित मुहाविरों पर बोलचाल और चलती हुई भाषा में भावमयी कविताएँ हैं। इन साढ़े तीन सहस्र से अधिक चौपदों में हरिऔध ने समाज और राज, व्यष्टि और समष्टि, लोक और परलोक, नीति और धर्म, संस्कृत और सभ्यता, आचार और

विचार आदि जीवन के प्रायः सभी पक्षों पर सूक्तियाँ सजा दी हैं। देखिए :—

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूँछ क्या हैं ऐंठते।

ऐसी सूक्तियों से हिन्दी-साहित्य का कोश समृद्ध ही हुआ है। चोखे चौपदे में भी ऐसी ही सूक्तियाँ हैं, पर इनमें समाज-कल्याण और मानव-हित की शुद्ध भावनाओं का चित्रण हुआ है। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उनका एक चौपदा देखिए :—

मन्दिरों, मसजिदों कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ-कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें।

इन चौपदों में भाषा का लालित्य तो है ही, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के प्रति कटु व्यंग और भावों का सौष्ठव भी है। अतः यह कहना कि उन्होंने काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उद्देश्यों और व्यंगों-द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार होने के कारण ही इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की, अन्याय और निष्ठुरतापूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपनी ऐसी कृतियों में मानसिक व्यायाम अधिक करना पड़ा हैं, पर उनकी साहित्यिकता नष्ट नहीं हुई है। मुहावरों में जो मिठास, चुटीलापन और साहित्यिक सौन्दर्य होता है उसका सर्वत्र बड़ी सफलता पूर्वक निर्वाह हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से बोलचाल में परिभाषित स्थायी साहित्य की यथेष्ट सामग्री है, किन्तु चोखे चौपदे में उसकी प्रचुरता है। कवित्त्व की दृष्टि से 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' दोनों ही से चोखे चौपदे का स्थान ऊँचा है। चोखे चौपदे में शक्ति है, यथेष्ट भाव-विभव है, चमत्कार सौंदर्य है, अलंकारों की

स्वाभाविक आभा है और शृङ्गार, वात्सल्य आदि के मनोरम चित्र और स्फीत उद्गार हैं।

सारांश यह कि हरिऔध ने भारतेन्दुकाल के पश्चात् खड़ी बोली के आन्दोलन में विजातीय शैली को हिन्दी का रूप देकर इतनी सुगमता से अपना लिया कि वह भी हमारे साहित्य की अद्वितीय सम्पत्ति बन गई। इसलिए ऐतिहासिक तथा साहित्य-निर्माण की दृष्टि से भी इन मुहावरेदार कला-कृतियों की एक विशेषता है।

खड़ी बोली में साधारण बोलचाल की जिन रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा अभी की गई है उनके अतिरिक्त हमें हरिऔध की व्रजभाषा की कृतियाँ भी द्विवेदी-युग में मिलती हैं। 'रस-कलस' उनका ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है। व्रजवाणी के प्रति साहित्यिक जीवन के उषाकाल में उनका जो मोह था वह भारतेन्दु-काल से छनता, निखरता और परिष्कृत होता हुआ द्विवेदी-युग में अपनी चरम-सीमा पर पहुँचा है। इसलिए व्रजभाषा के हरिऔध को हम उस क्रान्ति-युग में भी जीवित पाते हैं। द्विवेदी-युग के हरिऔध में काव्य-जीवन के तीन रूप हैं—१. प्रियप्रवास के हरिऔध २. चौपदों के हरिऔध और ३. रसकलस के हरिऔध। अपने इन तीनों रूपों में हरिऔध एक दूसरे से भिन्न हैं, पर अपने तीनों रूपों पर उनका समान अधिकार है। उनकी प्रतिभा की धारा एक ही कवि-हृदय से निकलकर तीन दिशाओं में प्रभावित होती है, पर उनका कहीं भी मेल नहीं होता। प्रियप्रवास के हरिऔध को आप चौपदों और रस-कलस के हरिऔधों से मिलाकर देखिए, प्रत्येक अवसर पर हरिऔध का एक पृथक् व्यक्तित्व मिलेगा। प्रियप्रवास में यदि वह भावुक हो गये हैं तो चौपदों में उपदेशक और रसकलस में प्राचीन काव्य-रीतियों के आचार्य। हमें आश्चर्य होता है उनकी प्रतिभा पर, उनकी काव्य-शक्ति पर। प्रत्येक युग की माँग के प्रति उनकी प्रतिभा को इतना मोह है कि वह उसका संवरण नहीं कर सकती।

रसकलस हरिऔध का एक श्रेष्ठ रीति-ग्रन्थ है। इसमें हरिऔध की

प्रतिभा अपने दो रूपों में है—१. परम्परागत और २. मौलिक। रीतिकालीन परम्परा के रूप में उनकी प्रतिभा ने उन समस्त विशेषताओं को अपनाया है जिनके लिए रसगंगाधर-कार, साहित्य दर्पण-कार, केशव, बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। हरिऔध ने अपनी ऐसी रचनाओं में कला-पक्ष और भाव-पक्ष का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। अलंकारों की सजावट अथवा रस-निरूपण के झोंक में उन्होंने न तो कहीं भाषा के सौष्ठव पर आघात किया है और न विषय के संतुलन पर आँच आने दी है। उन्होंने प्रत्येक रस को उचित स्थान दिया है और उसके उदाहरणों में सहृदयता और सरसता भर दी है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में एक त्रुटि है। उनमें शृंगार और उसके उदाहरणों के प्रति रीतिकार की जैसी अभिरुचि दिखाई देती है वैसी अन्य रसों और उनके उदाहरणों के प्रति नहीं; पर रसकलस इन दोषों से मुक्त है। यह तो हुई उनकी रीतिकालीन परम्पराओं की आलोचना। मौलिकता की दृष्टि से उन्होंने अपने नायिका-भेद-वर्णन में कुछ ऐसी नायिकाओं की उद्भावना की है जो हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। लोक-सेविका, निजतानुरागिनी, जन्मभूमि-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका और परिवार-प्रेमिका उनकी ऐसी ही नवीन नायिकाएँ हैं। इन नायिकाओं की कल्पना एवं उद्भावना के पीछे हरिऔध की धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जातीय, सुधारवादी तथा उपदेशात्मक मनोवृत्ति ही प्रमुख रूप से दिखाई देती है, इसीलिए इन नायिकाओं के वर्णन में रसानुभूति का अभाव है। नायिका-वर्णन के साथ-साथ उन्होंने स्वतंत्र निरीक्षण के आधार पर ऋतु-वर्णन द्वारा भी अपनी काव्य-शक्ति और भावुकता का परिचय दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोहों और घनाक्षरी छन्दों का यह रस-ग्रन्थ भाषा, भाव और मौलिकता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। हरिऔध ने अपनी इस रचना में नारी और पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण का शारीरिक

एवं मानसिक धरातल पर बड़ी संयत और सभ्य भाषा में वर्णन किया है।

हरिऔध समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए हैं। 'पारिजात' यद्यपि उनकी द्विवेदी-काल की स्फुट रचनाओं का संग्रह है, तथापि उसमें नवीन युग के अंकुर वर्तमान हैं। इस काव्य-ग्रन्थ में उनकी अधिकांश दार्शनिक रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं से उनके आध्यात्मिक विचार और भावों की गंभीरता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं उनमें हरिऔध् अपने नवीन रूप में मिल सकते हैं। नवीन धारा की उनकी एक रचना का अंश देखिए :—

> क्या समझ नहीं सकती हूँ,
> प्रियतम, मैं मर्म तुम्हारा ?
> पर व्यथित हृदय में बहती,
> क्या रुके प्रेम की धारा ?

हरिऔध की इस शैली पर 'प्रसाद' के आँसू-छन्दों का प्रभाव है। नवीन भाव और नवीन शीर्षक के साथ गेय गान, अकल्पनीय की कल्पना इत्यादि पारिजात में सुन्दर रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ हरिऔध के विकास में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात करती हैं और उन्हें नव-युग के कवियों में लाकर बैठा देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी काव्य-प्रतिभा विविधरूपिणी है। वह अपनी रचनाओं में कहीं रीतिकालीन हैं तो कहीं भारतेन्दुकालीन और कहीं, द्विवेदीकालीन हैं तो कहीं नवयुगकालीन। उनके इन समस्त रूपों में उनका द्विवेदी-कालीन रूप ही प्रमुख है। अपने इसी रूप में वह पनपे और विकसित हुए हैं। इस युग की उनकी समस्त रचनाएँ तीन प्रकार की हैं—१. भावात्मक, २. उद्गारात्मक और ३. उपदेशात्मक। अपनी भावात्मक रचनाओं में हरिऔध पूर्णतः कवि हैं। गोधूलि के समय कृष्ण गायें

चराकर लौट रहे हैं। उस समय उनकी शोभा का उन्मादकारी चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

कुकुभ-शोभित गोरज बीच से
निकलते व्रजवल्लभ यों लसे
कदन ज्यों कर वर्धित कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है।

इन सरस पंक्तियों में उन्होंने उपमाओं और उत्प्रेक्षा के सहारे कृष्ण का जो काल्पनिक चित्र उतारा है उसमें भाव और भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य तो है हाँ, तल्लीनता, सजीवता और आकर्षण भी है। दूसरे प्रकार की उनकी रचनाएँ उद्गारात्मक हैं। माता के हृदय के स्फीत उद्गारों का करुणापूर्ण चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

प्रिय पति ! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है ?

मातृ-हृदय के इन स्वाभाविक और वात्सल्य रसपूर्ण उद्गारों में पत्थर को भी पिघला देने की शक्ति है। ऐसे मार्मिक स्थलों के चित्रण में हरिऔध कुशल हैं। उनकी तीसरी प्रकार की रचनाएँ उपदेशात्मक हैं। उपदेश देने की प्रवृत्ति हरिऔध में अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी कोई काव्य-पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें वह उपदेशात्मक न हों। दार्शनिक तत्वों के निरूपण में, भावों के चित्रण में, उद्गारों के वर्णन में उनकी यह प्रवृत्ति उनके विकास में बाधक हुई है। इसका एक कारण है। हरिऔध में लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। अपनी जाति, समाज और देश की समस्यों से वह इतने अधिक प्रभावित हैं कि वह अपने काव्य-जीवन से उनको पृथक करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। इसीलिए उनका अधिकांश काव्य किसी-न-किसी सामाजिक

समस्या को लेकर ही सामने आयी है। एक बूँद में उनकी सामाजिक भावना देखिए :—

> ज्यों निकल कर बादलों की गोद से,
> थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी।
> सोचने फिर-फिर यही जी में लगी—
> आह, क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी॥
> दैव, मेरे भाग्य में है क्या बदा,
> मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में।
> या जलूँगी गिर अंगारों पर किसी,
> चू पड़ूँगी या कमल के फूल में॥

हरिऔध की इन पंक्तियों में जो सामाजिक भावना है, वहिंजगत् में मानस जगत् की जो प्रतिष्ठा है, उसके पीछे उनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही काम कर रही है। इसलिए ऐसी रचनाओं में वह कवि की अपेक्षा उपदेशक ही हो सके हैं। उनका महाकाव्य प्रियप्रवास भी इस दोप से नहीं बचा है।

हरिऔध : महाकवि

हम हरिऔध के काव्य-साहित्य पर संक्षेप में विचार कर चुके। अब हम उनके महाकाव्य प्रियप्रवास पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उन्होंने महाकवि के रूप में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में उनका सम्मान उनकी युगेतर रचना प्रिय प्रवास-द्वारा ही बढ़ा है। यह उनके काव्य-जीवन की विमल कीर्ति है। यदि उन्होंने उपन्यास न लिखे होते, चोखे चौपदे आदि ग्रन्थों की रचना न की होती, रसकलश आदि की ओर अपनी प्रतिभा न दौड़ाई होती तो केवल यही महाकाव्य उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर बनाने के लिए पर्याप्त था।

आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली के वह पहले महाकवि हैं। उन्होंने प्रि
प्रवास हिन्दी को उस समय दान किया जब उसके पास तुलसी, जाय
और केशव के महाकाव्यों के अतिरिक्त कोई महाकाव्य नहीं थ
इसलिए प्रियप्रवास स्वर्गीय देन के रूप में हिन्दी को मिला और
निहाल हो गई। फिर तो हिन्दी में कई महाकाव्यों की रचना हुई;
उन सबमें 'साकेत' के अतिरिक्त कोई उसके समकक्ष आने का सा
न कर सका। स्वयं हरिऔध अपने दूसरे महाकाव्य 'सीता वनवा
में उतने सफल नहीं हुए जितने 'प्रियप्रवास' में। बात यह है कि जि
ऊँची उठान के साथ उन्होंने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है उस
निर्वाह बड़ी सफलतापूर्वक अन्त तक पाया जाता है। अतः हम
महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं :—

[१] प्रियप्रवास का संदेश—प्रत्येक महाकाव्य का मानव
के लिए एक सन्देश होता है। 'प्रियप्रवास' इससे शून्य नहीं है।
बता चुके हैं कि हरिऔध में लोक-संग्रह की भावना बड़ी प्रबल
अपनी इस भावना को उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बनाया है अ
इस आदर्श के अनुकूल ही उन्होंने 'प्रियप्रवास' द्वारा हिन्दू-जाति
समाज-सेवा, स्वार्थ-त्याग, विश्व-प्रेम, परोपकार, देश-सेवा आदि उद
वृत्तियों का सन्देश दिया है। विषाद और विरह की पृष्ठ-भूमि पर
उदात्त और मंगलमय वृत्तियों के जैसे सुन्दर चित्र कृष्ण और राधा
रूप में उतारे गये हैं, वह अपने में महान् और काव्य-सौष्ठव
प्रतीक हैं।

[२] प्रियप्रवास में महाकाव्य के लक्षण—साहित्य दर्पण
के अनुसार महाकाव्य के सभी लक्षण प्रियप्रवास में नहीं हैं। हरिऔ
ने इस महाकाव्य में रूढ़ियों का उल्लंघन करके एक प्रकार से अप
स्वतंत्र बुद्धि का परिचय दिया है। वास्तव में महाकाव्य भावाभिव्य
की दृष्टि से महाकवित्व होना चाहिए। उसका उद्देश्य ऐसा हो
चाहिए जो समाज के लिए स्वस्थकर हो और उसके लिए कल्पद्रुम

काम दे सके। इस दृष्टि से जब हम प्रियप्रवास पर विचार करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि इसमें १७ सर्ग हैं, कथानक पौराणिक है, कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं, नाटकों की संधियाँ अवश्य ठीक नहीं हैं, वात्सल्य और करुण-रस का संचार है, काम की सिद्धि है, किसी सर्ग में एक-से और किसी में अनेक प्रकार के छन्द हैं, सर्गों में निबन्धन है पर अन्त में आगामी सर्ग की सूचना नहीं है, प्राकृतिक दृश्यों का विशद वर्णन है, चरित्र के नाम पर नाम-संस्करण हुआ है और प्रत्येक सर्ग एक विषय को लेकर सामने आया है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से यह एक महाकाव्य है।

[३] **प्रियप्रवास का कथानक**—प्रियप्रवास की कथा है कृष्ण का गोकुल से प्रवास। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन में यह घटना अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। जिस गोकुल की धूल में खेलकर वह बड़े हुए, जिस यशोदा और नन्द की गोद में उन्होंने अमृतपान किया, जिन गोप-गोपिकाओं के साथ उन्होंने बाल-क्रीड़ाएँ कीं और जिस राधा के साथ उन्होंने प्रेम लोक में विहार किया, उन सबको सहसा त्यागकर राजभोग के लिए मथुरा चले जाना एक ऐसी घटना है जो समस्त गोकुलवासियों के लिए विरह, विषाद और विलाप का कारण बन जाती है। इसी वातावरण की विरहाकुल आधार-शिला पर प्रियप्रवास का प्रासाद खड़ा किया गया है। इस प्रासाद में यदि हम झाँकें और उसे भीतर से देखें तो हमें उसमें करुणा का वेदनामय स्वर मिलेगा, छटपटाते हुए जीवन की झाँकियाँ मिलेंगी, वात्सल्य रस के स्फीत उद्गार मिलेंगे और मिलेंगे मोह-मग्ना राधा की उदात्तवृत्तियों के मोहक चित्र। इन चित्रों में हमें राधा के जीवन-विकास की रेखाएँ मिलेंगी। हम यह देखेंगे कि कृष्ण के वियोग में छटपटाती हुई राधा व्यक्तिगत प्रेम के संकुचित प्रकोष्ठ से निकलकर किस प्रकार अपना अवशिष्ट जीवन और उस जीवन की समस्त कामनाओं को विश्व प्रेम और लोक-सेवा में परिणत कर देती है। राधा की यह चेष्टा अपूर्ण मानव का पूर्ण होने

के लिए प्रयास है; मूर्ति से अमूर्ति की ओर बढ़ने का प्रयत्न है। विरह और निराशा के वेदनामय वातावरण में साँस लेने के पश्चात् वह किस प्रकार अपने जीवन का उत्सर्ग करती है और विश्व के मंगलमय जीवन में अपने आनन्द की आभा देखती है, यही प्रियप्रवास के कथानक की 'थीम' है। हरिऔध अपने इस 'थीम' के प्रतिपादन में आदि से अन्त तक सफल हैं। पर, जहाँ अपने कथानक के चुनाव में उन्हें सफलता मिली है वहाँ महाकाव्य की दृष्टि से उसमें एक दोष आ गया है। प्रियप्रवास का विषय एक खण्ड-काव्य का विषय है। महाकाव्य के लिए कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन सामने आना चाहिए था। हरिऔध ने इस दोष का परिहार कृष्ण के जीवन की महत्त्वपूर्ण और मार्मिक घटनाओं के संघटीकरण से किया है, पर इन घटनाओं से कथानक के विकास में विशेष सहायता नहीं मिली है। वस्तुतः इन घटनाओं का आयोजन कृष्ण के चरित्र चित्रण के लिए हुआ है। ऐसी दशा में प्रबन्ध-काव्य का जैसा गठन और सौष्ठव हमें तुलसी और जायसी में मिलता वैसा हरिऔध में नहीं है। हरिऔध का प्रबन्ध-काव्य अव्यवस्थित और बिखरा हुआ है।

[४] प्रियप्रवास में चरित्र-चित्रण—प्रियप्रवास चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। इसमें कृष्ण, यशोदा और राधा—तीन ही चरित्र प्रमुख हैं। हम इन तीनों चरित्रों पर यहाँ संक्षेप में आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे :—

१. श्रीकृष्ण—प्रिय-प्रवास में पूर्ववर्ती साहित्य के अवतारी, माखनचोर और गोपियों के साथ दिन-रात अठखेलियाँ करनेवाले श्रीकृष्ण कर्मयोगी के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनके इस रूप में तीन गुणों की प्रधानता है—शक्ति, शील और सौंदर्य; अपने इन तीन गुणों के कारण वह मनमोहक हैं, लोक-सेवक हैं, परोपकारी हैं, कर्तव्य-परायण हैं। जब तक वह गोकुल में गोप-ग्वालों और गोपियों के बीच रहते और उनके साथ आनन्दोत्सव में भाग लेते हैं तब तक ग्रामवासियों के प्रति

उनकी उदारता और कार्यशीलता का स्पष्ट परिचय हमें उनके कार्य-कलापों से मिलता रहता है। महावृष्टि कालिया नाग और अग्नि से पीड़ित ग्वालों की रक्षा के लिए उनके हृदय के उद्गार इन पंक्तियों में देखिए :—

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का।
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।

श्रीकृष्ण की इन पुनीत भावनाओं में हमें उनके लोकोपकारी और लोक-संग्रही रूप का दर्शन मिलता है। यह उनके गोकुलवास की झाँकी है। इस झाँकी के लोकोत्तर आनन्द का अवसान होता है उस समय जब अक्रूर के आने पर नन्द को श्रीकृष्ण के साथ कंस की सेवा में उपस्थित होना पड़ता है। 'प्रियप्रवास' का आरम्भ यहीं से होता है। कंस की दूषित मनोवृत्ति की धारणा से गोप-गोपिकाओं और यशोदा तथा राधा के हृदय पर इस अकस्मात् प्रवास से जो ठेस लगती है उससे व्रजमण्डल का समस्त वातावरण विरह-वेदना से छटपटा उठता है। यह छटपटाहट उस समय और भी तीव्रतर हो जाती है जब नन्द और उनके साथी कृष्ण की बाँसुरी लेकर गोकुल लौट आते हैं। कृष्ण के जीवन का दूसरा अध्याय इसी घटना से प्रारम्भ होता है। गोकुल में कृष्ण का जो रूप है उसमें प्रेम और कर्तव्य की छीना-झपटी है। ऐसा जान पड़ता है कि उनका भौतिक प्रेम उन्हें कर्तव्यों की ओर उन्मुख कर रहा है। गोकुल-वासियों की ओर ज्यों-ज्यों उनके प्रेम की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों वह उनके प्रति कर्तव्य-परायण भी होते जाते हैं। इसकी परीक्षा का समय उनके जीवन में प्रथमबार आता है गोकुल से मथुरा जाने पर और कंस का वध करने के पश्चात्। उस समय उनके सामने प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष साकार हो जाता है। एक ओर व्रज-

वासियों का अनन्त प्रेम और दूसरी ओर कर्तव्यों की पुकार। एक ओर व्यक्तिगत ऐश्वर्य का मोहक चित्र और दूसरी ओर कर्तव्य परायणता का कंटकाकीर्ण शून्य पथ। ऐसे ही अवसरों पर मानव विचलित होता है। श्रीकृष्ण भी मानव हैं। उनके हृदय में भी एक ज्वार आता है और इस ज्वार का शमन उस समय होता है जब वह अपने व्यक्तिगत सुखों को, अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य को लोक-हित की पवित्र वेदी पर उत्सर्ग कर देते हैं। उनके इसी प्रकार के उत्सर्ग में उनके जीवन का सौंदर्य है। उद्धव उनकी इस कर्तव्य-परायणता का परिचय इस प्रकार देते हैं :—

वे जी से हैं जगत-जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।

पर अपने कर्तव्य-परायणता की धुन में वह अपने शैशव के सहचरों और राधा को नहीं भूलते। उनकी याद भी उन्हें सताती रहती है :—

शोभा संभ्रम शालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका।
माता प्रीति थी. प्रीति-प्रतिमा वात्सल्य धाता पिता।
प्यारे गोप कुमार प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप गोप से थे।
भूले हैं न सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा।

श्रीकृष्ण के हृदय और मस्तिष्क का, मनोविकारों और बुद्धि का, अनुराग और विराग का, प्रेम और कर्तव्य का यह संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व जितना ही स्वाभाविक और वास्तविक है उतना ही करुण, सजीव और आकर्षक है, श्रीकृष्ण का अपनी मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय लाभ है।

२. यशोदा—प्रियप्रवास में यशोदा का चित्र बड़ा ही मर्म-स्पर्शी है। जिस वृद्धा की लकड़ी किसी क्रूर ने छीन ली हो, जिसकी आँख का तारा, दाम्पत्य जीवन की समस्त कामनाओं का आधार लुट

गया हो उसकी वेदनाओं का अनुमान करने के लिए बहुत पोढ़े कलेजे की आवश्यकता है। वास्तव में यशोदा कृष्ण की सगी माता नहीं हैं। देवकी के गर्भ से जन्म लेकर कृष्ण ने यशोदा की पवित्र गोद में अपना शिशुत्त्व व्यतीत किया है। यशोदा के चरित्र की यह महत्ता है कि उन्होंने कृष्ण को कभी पर-पुत्र के रूप में नहीं देखा। वह सदैव उन्हें अपना ही पुत्र समझती रही हैं। वही दुलार, वही प्यार, वही फटकार! उन्होंने कृष्ण को कभी यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि वह उनकी माता नहीं हैं। अक्रूर के आने पर उनका मातृ-हृदय भावी अनर्थ की आशंका से इतना प्रभावित हो उठता है कि वह कृष्ण को अकेले नहीं जाने देतीं, नन्द को उनके साथ कर देती हैं और कहती हैं :—

> मधुर फल खिला दृश्य नाना दिखाना।
>
> कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे।

इन पंक्तियों को पढ़कर यशोदा को कृष्ण की माता होने में किसी को सन्देह करने का स्थान ही नहीं मिलता। नन्द के लौटने पर जब श्रीकृष्ण नहीं आये तब उनका विलाप देखिए :—

> प्रिय पति, मेरा वह प्राण प्यारा कहाँ है?
>
> दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?

यशोदा के इस विलाप में उनका मातृ-हृदय झलक रहा है। कृष्ण का मथुरा-गमन उनके जीवन की एक पहेली बन गई है। कृष्ण के प्रति उनके हृदय में बड़ी ममता है। वह निराश होकर उनके आगमन की आशा से कभी द्वार पर बैठती हैं, कभी पथिकों से पूछती हैं। इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते, आशा और निराशा के बीच जीते और मरते जब बहुत दिन बीत जाते हैं, तब एक दिन उद्धव का

आगमन होता है। उद्धव से और कुछ न पूछकर वह केवल यही पूछती हैं :—

मेरे प्यारे सकुशल, सुखी और सानन्द तो है।
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती।

प्रत्येक माता अपने इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर पाकर जिस स्वर्गीय सुख का अनुभव करती है, यशोदा भी उसी सुख से अपने व्याकुल हृदय की दुर्बलताओं को धो डालना चाहती हैं; पर इतने ही से उन्हें सन्तोष नहीं होता। देवकी के प्रति उनका व्यंग भी मातृ-हृदय की दुर्बलता का एक उदाहरण है। देखिए :—

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।

यशोदा की इन पंक्तियों में आहत हृदय से निकले हुए उनके व्यंग तो हैं ही, साथ ही कृष्ण पर उनके अधिकार की अमिट छाप है। यशोदा अपने इस अधिकार की माता के रूप न सही, धात्री के रूप में ही रक्षा करना चाहती हैं। माता होने का जो अधिकार ईश्वर की ओर से देवकी को मिल चुका है उससे वह उनको वंचित नहीं करना चाहतीं, पर साथ ही वह अपना अधिकार भी नहीं खोना चाहतीं। देखिए :—

प्यारे जीवें मुदित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला जायँ वारेक और।

कैसी मंगल कामना है यशोदा की इन पंक्तियों में! अपने मातृ-हृदय की व्याकुलता और छटपटाहट दूर करने के लिए वह धात्री होना ही स्वीकार करती हैं और यह सब इसलिए कि कृष्ण उन्हें मिल जायँ, उनकी साध पूरी हो जाय। यशोदा अपनी इसी साध के कारण जग-वन्दनीया हैं।

३. राधा—राधा प्रियप्रवास के कथानक की नायिका हैं। कृष्ण 'प्रियप्रवास' के भौतिक शरीर हैं और राधा उस शरीर की आत्मा हैं। प्रियप्रवास का पूरा ढाँचा उनकी ही आत्मा को लेकर खड़ा किया गया है। आदि में, मध्य में और अन्त में हमें राधा ही राधा के दर्शन होते हैं। राधा प्रियप्रवास की क्रिया-केन्द्र हैं। शैशव के स्नेहपूर्ण वातावरण से निकलकर जब राधा और कृष्ण बाल्यावस्था में पदार्पण करते हैं तब दैनिक बाल-क्रीड़ाओं में भाग लेने के कारण उनमें एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है और यौवन-काल के आते-आते यह आकर्षण प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है। कृष्ण राधामय हो जाते हैं और राधा कृष्णमय। पर जीवन का प्रवाह सदा एक गति से नहीं बहता। अक्रूर के आने पर दोनों के जीवन में मोड़ आ गया। राधा व्रज में रह गईं और कृष्ण मथुरा चले गये। कृष्ण ने कर्तव्य की गुरुता को राधा के प्रेम की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया और वह फिर व्रज में लौटकर नहीं आये। ऐसी दशा में विरहणी राधा के अन्तस्तल की वेदना फूट पड़ी है। भ्रमर को उलाहना देते हुए वह कहती हैं :—

अय अलि ! तुझमें भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है ध्यान दे के नहीं तू।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर होके दृगों से।
मत बन निर्मोही नैन के सामने तू।

इन पंक्तियों में वियोगिनी राधा के अन्तःकरण से प्रसूत व्यंग और उपालंभ भरे हुए हैं। जीवन की ऐसी मार्मिक परिस्थितियों में पड़कर प्रत्येक नारी उबल ही पड़ती है। राधा यद्यपि उच्चवंशीय नारी-रत्न हैं और कृष्ण की प्रेमिका हैं, तथापि उनका नारी-सुलभ हृदय उन समस्त दुर्बलताओं का आगार है जिनके कारण नारी-जाति कोमल समझी जाती है। इन्हीं दुर्बलताओं के बीच राधा के चरित्र का विकास होता है। एक बात और है, राधा कृष्ण की प्रेमिका हैं, प्रेम-पात्री नहीं। यही

कारण है कि कृष्ण के वियोग में राधा की जो स्थिति है, वह राधा के वियोग में कृष्ण की स्थिति नहीं है। ऐसी दशा में राधा की दुर्बलताओं का चित्र काव्य का सौंदर्य बनकर आया है। कृष्ण पहले कर्तव्य-परायण हैं, बाद को प्रेमी हैं; राधा पहले प्रेमिका है, बाद को कर्तव्यशीला, पर समय उनकी इस शोकाकुल परिस्थिति में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। इस नवजाति परिवर्तन से सम्पूर्ण प्रकृति कृष्ण का प्रतिरूप बनकर राधा के सामने आती है। कृष्ण के इस नवरूप में वह इतनी तन्मय हो जाती हैं कि वह अपना विरह-सन्ताप भूलकर चिर आनन्द का आभास पाने लगती हैं और अन्ततः अपने जीवन को लोक-जीवन में घुला-मिलाकर विराट् भावना में परिणत कर हैं। इस प्रकार राधा को कृष्ण के उदार उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना प्रेम दबाना पड़ता है। राधा सेवा-भाव और विश्व-प्रेम को अपनाती हैं। राधा के व्यक्तिगत प्रेम-प्रधान जीवन में मोड़ लाने का सारा श्रेय कवि की कल्पना का विलास ही कहा जायगा, पर आधुनिक समाज के कोलाहलपूर्ण वातावरण में जब हम नारी-समाज को भौतिकता की ओर झुकता हुआ पाते हैं तब हम उसके त्राण के लिए, उसके भौतिकतापूर्ण जीवन का परिष्कार और संस्कार करने लिए, उसमें मातृत्व की ममता और आकांक्षा जागृत करने, उसमें विश्व-प्रेम, लोक-सेवा और राष्ट्र-सेवा की लगन उत्पन्न और उद्भासित करने के लिए साहित्य के पुनीत क्षेत्र में इस प्रकार की कल्पना-विलास का सहर्ष अभिनन्दन करते हैं। इस दृष्टि से हरिऔध का यह प्रयोग सफल और स्तुत्य है। एक बात और है, साहित्य-क्षेत्र में अब तक नवधा भक्ति का उपयोग केवल मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में ही होता रहा है। हरिऔध ने अपने बौद्धिक विलास के कारण उसका उपयोग मातृभूमि और समाज-सेवा के लिए उपयुक्त समझा है और इसका महत्त्व राधा के मुख से वर्णन कराया है। इस प्रकार प्रियप्रवास की राधा न तो सूर की राधा हैं और न रीति-कालीन कवियों की। अपने नवीन रूप में हरिऔध की राधा लोक-सेविका हैं।

[५] **प्रियप्रवास में विरह-वर्णन**—हम अन्यत्र बता चुके हैं कि विरह की आधारशिला पर ही प्रियप्रवास का प्रासाद खड़ा किया गया है। अतः इस महाकाव्य में हमें विरह के अनूठे चित्र देखने को मिलते हैं और हम यह कहने के लिए वाध्य हो जाते हैं कि यह विरह-वर्णन-प्रधान महाकाव्य है। इसका विषय ही कुछ ऐसा है जो विरह से भरा हुआ है। अक्रूर का व्रज में जाना और कृष्ण का उनके साथ आजीवन के लिए मथुरा चले जाना—बस यही एक घटना समस्त व्रज-वासियों के विषाद और विरह का कारण बन जाती है। इस विरहाग्नि में सभी जलते और छटपटाते हैं, पर यशोदा और राधा की दशा अत्यन्त करुणाजनक है। यशोदा इसलिए दुःखी हैं कि उनका पुत्र अब देवकी का पुत्र हो गया है और राधा इसलिए दुखी हैं कि वह जिसे प्यार करती थीं वह उनसे बिछुड़कर मथुरा चला गया है। जायसी भी अपने महाकाव्य पद्मावत में कुछ ऐसी हीं परिस्थितियों से गुज़रे हैं। रत्नसेन के सिंहल चले जाने पर उनकी माता उसी प्रकार कातर होती और छटपटाती हैं जिस प्रकार यशोदा; पर यशोदा और रत्नसेन की माता की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। यशोदा वास्तव में माता नहीं, धात्री के रूप में उन्होंने कृष्ण को पुत्रवत् ही माना है। कृष्ण भी उन्हीं को अपनी माँ समझते हैं। ऐसी दशा में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा के मातृ-हृदय पर बड़ी ठेस लगती है। वह यह जानकर और भी व्याकुल हो जाती हैं कि अब उन्हें कृष्ण नहीं मिलेंगे। इसलिए उनकी विरह वेदना में निराशा और मातृ-हृदय की व्यंजना अधिक है। रत्नसेन की माँ के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह जानती हैं कि उनका पुत्र राजा है, वीर है और पद्मावती को लेकर लौट आयेगा। इसलिए उनका वियोग-सन्ताप केवल एक निश्चित अवधि तक ही सीमित है। यशोदा कृष्ण के तरुण होने और उनकी शक्ति और वीरता का परिचय पाने पर भी उन्हें बालरूप ही में देखती हैं। इसलिए मथुरा-गमन के अवसर पर वह नन्द को कृष्ण के साथ कर देती हैं, पर

रत्नसेन की माता एक वीर राजा के रूप में अपने पुत्र को देखती हैं, इसलिए उनके मातृ-हृदय में उन कोमल वृत्तियों का प्रस्फुरण नहीं हो पाता जिनके लिए माता यशोदा के हृदय का द्वार सदैव खुला रहता है। इस प्रकार यशोदा के विरह-वर्णन में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण हरिऔध को जो सफलता मिली है वह जायसी को नसीब नहीं हुई है। अब रहा राधा और नागमती का विरह-वर्णन। नागमती रत्नसेन की विवाहिता पत्नी हैं और रानी हैं। वह जानती हैं कि रत्नसेन पद्मावती की रूप-प्रशंसा सुनकर उसे अपनाने के लिए जा रहा है और कभी-न-कभी वह अवश्य लौटेगा। पर राधा की दशा इससे भिन्न है। राधा कृष्ण की प्रेमिका हैं। प्रेमिका अपने प्रेम-पात्र का सदैव सामीप्य चाहती है। वह एक क्षण के लिए उसे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकती। ऐसी दशा में कृष्ण का सहसा मथुरा चले जाना और फिर लौटकर कभी न आना ही राधा की विरह-वेदना का कारण बन जाता है। परिस्थितियों में इस प्रकार की विभिन्नता के कारण जायसी और हरिऔध के विरह-वर्णन में अन्तर आ गया है। जायसी ने नागमती के विरह के जो चित्र उतारे हैं उनमें एक हिन्दू-सती के हृदय के उद्‌गार हैं अवश्य, पर उनमें काम की लिप्सा भी है। नागमती जानती हैं कि पति के लौटने और सामीप्य प्राप्त होने पर भी वह रत्नसेन को अपना नहीं सकेगी। पर राधा की चिन्तनधारा इससे भिन्न है। उसके विरह में आध्यात्मिकता है। वह कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं, कृष्ण के सामीप्य के लिए छटपटाती हैं और अन्त में उनकी छटपटाहट कृष्ण की कर्तव्य-निष्ठा के आदर्श, समय के प्रभाव तथा ज्ञान के प्रादुर्भाव से विश्व-प्रेम, लोक-सेवा और विराट् भावना में परिणत हो जाती है। राधा की विरह-वेदना में एक आदर्श है, अपूर्ण से पूर्ण होने की एक चेष्टा है। नागमती की विरह-वेदना में पति-पत्नी के आदर्श प्रेम का प्रलाप है। एक बात और है जिसे हम जायसी के विरह-वर्णन में नहीं पाते। हरिऔध ने अपने विरह-वर्णन में कालिदास के मेघदूत की भाँति पवन-

दूत की उद्भावना की है। विरह-वेदना से सन्तप्त राधा प्रातःकालीन शीतल मन्द सुगन्ध पवन को मेघ के समान अपना दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती हैं और कहती है :—

छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुम्ही को लगा के।

हरिऔध के इस पवन दूत पर कालिदास के मेघदूत की स्पष्ट छाप अवश्य है, पर राधा के विरह-वर्णन में इससे जो गंभीरता आ गई है वह सराहनीय है। जायसी का विरह-वर्णन अधिक ऊहात्मक है। उस पर फ़ारसी-साहित्य का प्रभाव है। हरिऔध के विरह-वर्णन पर संस्कृत साहित्य का। विरह-वर्णन में प्रकृति की सम्वेदनशीलता दोनों में समान है।

[६] प्रियप्रवास में प्रकृति-वर्णन—प्रकृति ईश्वर की परम विभूति है। उसमें नियम भी है, नैसर्गिक सुषमा भी। वैज्ञानिक उसमें नियम खोजता है और कवि सुषमा। कवि की असाधारण प्रतिभा इस दिशा में कई प्रकार से काम करती है। प्रकृति-प्रेमी कवि कभी उसके नैसर्गिक सौंदर्य से प्रभावित होता है, कभी उसे अपने मनोभावों के रंग में रंगा हुआ पाता है, कभी उसे अपने विचारों के प्रस्फुरण में सहायक पाता है, कभी उसमें मानव जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता पाता और कभी समस्त सृष्टि के व्यापारों के पीछे एक विराट् सत्ता का आभास पाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस कवि की जितनी पहुँच है, प्रकृति के प्रति जिसका जितना अनुराग है, उसी के अनुसार वह प्रकृति का चित्रण करता है। हिन्दी के काव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण की जितनी शैलियाँ प्रचलित हैं, हरिऔध ने अपने महाकाव्य में अवसरानुकूल इन समस्त शैलियों का प्रयोग किया है और प्रकृति के बड़े कलापूर्ण और भावात्मक चित्र अंकित किये हैं। पर हमें उनके चित्रों में प्रकृति की सहज प्रफुल्लता और उसका मनोमुग्धकारी रूप

देखने को नहीं मिलता। बात यह है कि प्रियप्रवास विरह-प्रधान काव्य है। आदि से अन्त तक उसका एक ही स्वर है विरह, विलाप और रुदन। नन्द, यशोदा, राधा, गोप-गोपिकाएँ कृष्ण के वियोग में विकल हैं। ऐसे विषादमय वतावरण को अपने कथानक का विषय बनाने के कारण महाकाव्यकार को प्रकृति का सुस्मित रूप दिखाने का कहीं अवसर ही नहीं मिला। इसलिए यदि यह दोष हरिऔध और उनकी काव्य-कला का नहीं; वरन् उनके विषय का दोष है। वैदेही-वनवास भी उनका इसी प्रकार का महाकाव्य है। इसलिए हम उसमें भी प्रकृति के मनमोहक चित्र नहीं पाते। ऐसा जान पड़ता है कि विरह के प्रति हरिऔध का इतना झुकाव है, उसके प्रति उनके हृदय में इतनी आत्मीयता है कि वह उसका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी दशा में हमें यह देखना चाहिए कि हरिऔध ने जिन परिस्थितियों के बीच प्रकृति का चित्रण किया है और उसमें वह कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सर्वप्रथम प्रकृति का सरल स्वरूप चित्रण मिलता है :—

> दिवस का अवसान समीप था।
> गगन था कुछ लोहित हो चला।

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण, हरिऔध उसी कला से करते हैं जो एक चित्रकार में होती है। चित्रकार रेखाओं की सहायता से चित्र अंकित करता है और हरिऔध अपने शब्दों से। इसीलिए प्रकृति के इन चित्रों से हमें कवि-हृदय की प्रेरणा का आभास नहीं मिलता। ऐसा लगता कि कवि सान्ध्य प्रकृति-सुन्दरी के प्रति विरक्त होकर बैठा है और निर्लिप्त मन से उसकी नैसर्गिक सुषमा के साधारण चित्र उतारता चलता है। इसका कारण कवि-हृदय की भावी आशंका है जो उसे प्रकृति में तल्लीन होने से रोकती है। कृष्ण के आगमन पर उनके दर्शन की लालसा से गोप-गोपिकाओं की जन

भीड़ लग जाती है तब कवि प्रकृति के प्रति पहले की अपेक्षा अनुरक्त अवश्य होता है, पर थोड़ी ही देर में जब वह यह देखता है कि :—

> अरुणिमा जगती-तल रंजिनी।
> वहन थी करती अब कालिमा।
>
> मलिन थी नवरागमयी दिशा
> तरल धार विकाश विरोधिनी

तब उसके हृदय का सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस विरह-कथा को लेकर वह अपने महा-काव्य का ढाँचा खड़ा करने जा रहा है उसका आभास वह सर्वप्रथम प्रकृति-चित्रण द्वारा करा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके ये चित्र साधारण हैं, पर उनसे उद्देश्य को चरितार्थ करने में वे सफल हैं।

प्रकृति के इन सादे और साधारण चित्रों के साथ हमें ऐसे भी चित्र मिलेंगे जिनमें उन्होंने मानवी मनोविकारों का आरोप किया है। राधा, कृष्ण के प्रयाण का समाचार सुनकर कहती हैं :—

> यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं,
> यह सदन हमारा है हमें काट खाता।

प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप इन पंक्तियों में देखिए :—

> नीला प्यारा उदक सरि का देखके एक श्यामा।
> बोली खिन्ना विपुल ब्रज के अन्य गोपांगना से।

कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
　　प्यारी न्यारी जलद-तन की मूर्ति है याद आती।

उपाध्याय जी ने जिन प्राकृतिक दृश्यों को लिया है उनका सफलता-पूर्वक वर्णन किया है। कुछ स्थलों पर केशव का भी प्रभाव उन पर पड़ा है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने पेड़ों के नाम गिनाने की झोंक में देश और काल की चिन्ता नहीं की है; और फिर भी आश्चर्य यह कि करील भूल गये। पर सौभाग्यवश ऐसा बहुत स्थलों पर नहीं हुआ है। उन्होंने प्रकृति के इन साधारण चित्रों के साथ-साथ वर्षा आदि ऋतुओं का भी वर्णन बड़े अनूठे ढंग से किया है। बिजली के चमकने, मेघों के गरजने इत्यादि के दृश्य तथा शब्द सब की ओर उनका ध्यान गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में उनकी कला सफल है। उन्होंने प्रकृति के उत्तेजक और उन्नायक दोनों रुपों के चित्र उतारे हैं। प्रकृति के उन्नायक रूप का चित्र देखिए :—

कंजों का या उदित शशि का देख सौंदर्य आँखों,
　　कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित अब हूँ शान्ति सानन्द पाती,
　　प्यारे के पाँव मुख मुरली-नाद जैसा उन्हें पा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में राधा ने अपने ही रूप में राधा को उनके प्रियतम का दर्शन करा दिया। केवल यही नहीं, विश्व-नियन्ता, उस विराट् पुरुष के दर्शन भी राधा को प्रकृति की गोद में रहकर ही हुआ है। इस दिव्य दर्शन से प्रकृति के नगण्य पदार्थ का महत्त्व बढ़ गया और राधा की दृष्टि में उसका अपरिमित मूल्य हो गया। हरिऔध के प्रकृति-चित्रण की यह कला उनकी कवित्त्व शक्ति का समुज्जवल रुप हमारे सामने प्रस्तुत करती है। पात्र-रूप में पवन

दूत का विधान करके उन्होंने प्रियप्रवास का और भी महत्त्व बढ़ा दिया है। यह बात अवश्य है कि उनके प्रकृति-चित्रण में हमें उसकी आधुनिक शैलियाँ नहीं मिलतीं; पर उनके समय को देखते हुए हम उन्हें इस दिशा में सफल पाते हैं।

हरिऔध की अलंकार-योजना

अब तक हमने 'प्रियप्रवास' के केवल भाव-पक्ष पर विचार किया है। उसके कला-पक्ष की मीमांसा हम हरिऔध की समस्त कृतियों को ध्यान में रखकर अगली पंक्तियों में करेंगे। हम यह देखेंगे कि उन्होंने अपने अलंकार, रस तथा छन्द योजनाओं में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। पहले उनकी अलंकार योजना लीजिए। वर्तमान युग अलंकारों का युग नहीं है, पर जिस समय में हरिऔध ने अपनी लेखनी उठाई थी वह अलंकारों का युग था। इसलिए उनके काव्य-ग्रन्थों में, विशेषतः रसकलस में, हम उनकी एक निश्चित अलंकार-योजना पाते हैं। वह अलंकारप्रिय हैं; पर उनकी कविता-कामिनी अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को ऐसे और इतने अलंकारों से सजाया है जितने से उसकी स्वाभाविक सौंदर्य-वृद्धि में उन्हें सहायता मिली है। उन्होंने दोनों प्रकार के अलंकार—शब्दालंकार और अर्थालंकार—का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। शब्दालंकार की योजना से उन्होंने अपनी भाषा की सौष्ठव-वृद्धि की है और अर्थालंकारों के सम्यक प्रयोग से भावों की। इस प्रकार भाषा और भाव दोनों का सुन्दर समन्वय उनकी रचनाओं में हो सका है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का प्रयोग मिलता है और अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, श्लेष, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन अलंकारों के उदाहरण 'प्रियप्रवास' में अत्यन्त सुन्दर मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि 'प्रियप्रवास' की रचना करते समय उनकी कला अपनी चरम सीमा पर थी।

हरिऔध की रचनाओं में उनकी रस-योजना भी दर्शनीय है। शृंगार, वात्सल्य और करुणा के उन्होंने बड़े सुन्दर और आकर्षक चित्र उतारे हैं। उनके इन चित्रों में मानव-हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। उनके शृंगार-वर्णन में वियोग-पक्ष की ही प्रधानता है। 'प्रियप्रवास' में विरह-वर्णन के अन्तर्गत हम उनके विप्रलंभ शृंगार की और यशोदा के चरित्र-चित्रण में हम उनके वात्सल्य-भाव की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम करुण रस पर संक्षेप में विचार करेंगे। करुण रस का स्थायी भाव है शोक। शोक से प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास भरा हुआ है। इस रस ने उनमें इतनी वेदना, इतनी टीस, इतनी छटपटाहट और व्याकुलता भर दी है कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते आखों में आँसू छलछला आते हैं। उनके प्रेम-मूर्त्ति राधा और माता सीता के वियोग के चित्रों में मानव हृदय का इतना हाहाकार और इतनी वेदना भरी हुई है कि उससे पत्थर भी पिघल जाता है। पर इन सब रसों का अवसान शान्त रस में होता है।

हरिऔध की रस-योजना

हरिऔध की छन्द-योजना बड़ी विस्तृत है। उन्होंने छन्दों का प्रयोग काव्य-विषय के अनुकूल ही अपनी रचनाओं में किया है। उनकी छन्द-योजना हमें चार रूपों में मिलती है—१. ग्रामीण छन्द, २. उर्दू-शैली के छन्द ३. रीति-कालीन छन्द और ४. संस्कृत साहित्य के छन्द। ग्रामीण छन्दों में उनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। एक नमूना देखिए :—

हरिऔध की छन्द-योजना

बिगरल मोर करमवाँ नहिं जानों कौन करनवाँ,
घर गाँव छूटल, दियार देस छूटल छुटि गैलें सिगरे सजनवाँ

उनके इस प्रकार के ग्रामीण छन्दों तथा लोक-गीतों पर भारतेन्दु

और प्रेमघन का यथेष्ट प्रभाव है। प्रेमघन तथा प्रतापनारायण आदि भारतेन्दु-कालीन कवि अपने इन्हीं छन्दों द्वारा ही जनता तक पहुँचे थे। अतः हरिऔध ने भी उन पर अपनी लेखनी उठाई और सफलता प्राप्त की। उनकी उर्दू-शैली के छन्दों का प्रयोग हमें काव्योपवन, प्रेम पुष्पोहार आदि में मिलता है। वह आरम्भ से ही द्विपद, चतुष्पद और षट्पद—छप्पय नहीं—लिखा करते थे। उर्दू और फ़ारसी के वह अच्छे जानकार थे। इसलिए आरम्भ में उन्होंने इन्हीं भाषाओं की शैलियों को अपनाया। नमूने देखिए :—

इस चमकते हुए दिवाकर से।
रस बरसते हुए निसाकर से।

× × ×

मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
ख़ूब जो उर्दू न होवे जानता।
आप पढ़ते भी नहीं इसको कभी।
किस तरह है आप का मन मानता।

हरिऔध ने शार्दूल विक्रीडित छन्दों को हिन्दी मात्रिक छन्द का रूप दिया था। इसमें १८-१२ के विराम से ३० मात्राओं की पंक्ति का विधान था। इन्हीं के आधार पर बोल-चाल और चौपदों की उन्होंने रचना की।

तीसरे प्रकार की उनकी छन्द-योजना रस-कलस में मिलती है। इसमें दोहा, सवैया और कवित्त आदि छन्दों का विधान रीति-कालीन परंपरानुगत किया गया है। इन छन्दों की भाषा ब्रजभाषा है। चौथे प्रकार की उनकी छन्द-योजना संस्कृत-साहित्य की देन है। भारतेन्दु-काल समाप्त होने पर जब द्विवेदी-युग का सूत्रपात हुआ तब उसकी प्रेरणा से तत्कालीन कवि मैथिलीशरण गुप्त, देवीप्रसाद पूर्ण, गिरिधर शर्मा, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक आदि

संस्कृत-वृत्त का हिन्दी में प्रयोग करने लगे। संस्कृत-वर्णवृत्तों में सहज आकर्षण भी था। इसलिए अधिक से अधिक कवि उनकी ओर झुके। द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशज, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा आदि की वैजयन्तियाँ हिन्दी के साहित्याकाश में भ्रमण करने लगीं और दोहा चौपाइयों, कवित्तों, सवैयों और लावनियों का सारा शृंगार हतप्रभ हो गया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के पुनीत काव्य-क्षेत्र में संस्कृत वर्णवृत्तों का समावेश हुआ। इनके समावेशन से भाषा और भाव, शरीर और प्राण दोनों का सौंदर्य बढ़ा। गुप्त जी, रामचरित्र उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा गिरिधर शर्मा आदि इन नवीन छन्दों में बड़ी सुन्दर रचनाएँ करते थे। पर तुक-अन्त्यानुप्रास—का बन्धन उन्हें अब तक जकड़े हुए था। हरिऔध ने सबसे पहले अतुकान्त संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग किया और वह सफल हुए। प्रियप्रवास उनके अतुकान्त संस्कृत वर्णवृत्तों का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हिन्दी-जगत में प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसने यह घोषित कर दिया कि अन्त्यानुप्रास की मधुरिमा से पृथक् होकर भी कविता मधुर रह सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध अपनी छन्द-योजना में पूर्णतः सफल हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राचीन तथा नवीन सभी छन्दों का प्रयोग किया है।

छन्दों के निर्वाचन में हम हरिऔध की कला-प्रियता का परिचय पा चुके; अतः अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। वस्तुतः

हरिऔध की शैली

शैली ही लेखक अथवा कवि का वह साधन है जिसके आलोक में हम उसके व्यक्तित्व की, उसके योग्यता की परीक्षा करते हैं। इस दृष्टि से आंकने पर हम यह कह सकते हैं कि हरिऔध अपनी शैली के स्वयं जन्मदाता हैं। उनकी शैली पर किसी का स्पष्ट प्रभाव नहीं है। प्रियप्रवास, रस-कलस, वैदेही-वनवास बोल-चाल तथा चौपदे उनकी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन्होंने गद्य

और पद्य दोनों पर अपनी लेखनी उठाई है। गद्य में उनकी शैली कुछ पंडिताऊपन लिए हुए अलंकृत शैली है। अनुप्रास की छटा, लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द, मुहावरों की भरमार, संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य, कहीं-कहीं लम्बे वाक्य उनकी गद्यशैली में अधिक पाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में प्रासाद, माधुर्य और ओज सभी गुण मिलता है। उनकी शैली में प्रवाह और चमत्कार भी है। काव्य-साहित्य में उनकी शैली के चार रूप हमें मिलते हैं—१. उर्दू की मुहावरेदार शैली, २. हिन्दी की रीतिकालीन शैली, ३. संस्कृत काव्य की शैला और ४. वर्तमान शैली। अपनी इन शैलियों में हरिऔध सर्वथा नवीन हैं। प्रिय-प्रवास की शैली उच्च हिन्दी का निदर्शन है, पर लम्बे-लम्बे समासों के कारण कहीं-कहीं उसका स्वरूप छिप-सा गया है। अप्रसिद्ध शब्द भी आ गये हैं। विदेशी शैली का तुर्का और पायजामा उतारकर उन्होंने उसे हिन्दी की साड़ी में इस प्रकार सजाया और सँवारा है कि उसमें चटकीलापन आ गया है। इस दिशा में हरिऔध का प्रयास अत्यन्त सफल है। मुहावरे भाषा के प्राण बनकर उनकी शैली में आये हैं। उनका समस्त साहित्य मुहावरों का एक विशाल कोष है। संस्कृत-काव्य की शैली में अतुकान्त कविता के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। वर्तमान शैली के नमूने पारिजात और वैदेही-वनवास में अधिक मिलते हैं। वृत्तों और विषय के अनुकूल भाषा का होना उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में कृत्रिमता नहीं, स्वभाविकता है। उन्होंने अपनी शैली को प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए अनुप्रासों, उपमाओं और रूपकों से सहायता ली है, पर अपनी इस चेष्टा में उन्होंने अपने भाषा की स्वाभाविकता और उसके प्रवाह पर आँच नहीं आने दी है। संस्कृत और फारसी के ज्ञाता होने के कारण वह प्रत्येक शब्द की आत्मा और विशिष्टता से परिचित हैं। इसलिए उनका शब्द-शोधन कवित्वपूर्ण और अद्वितीय है। उनकी शैली में संगीत का तत्त्व है, पर अभिव्यंजना की प्रणाली नहीं है।

हरिऔध की छन्द-योजना और शैली के अनुरूप ही हमें उनकी भाषा भी कई रूपों में मिलती है, जिससे ज्ञात होता है कि भाषा पर उनका बड़ा अधिकार है। वह भाषा के धनी हैं। गद्य और पद्य—साहित्य के इन दोनों क्षेत्रों में—उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। वह सरल से सरल भाषा लिख सकते हैं और कठिन से कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। वह अपने आस-पास की शुद्ध ग्रामीण भाषा भी लिख सकते हैं और शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भी। उनकी भाषा के मुख्यतः चार रूप हमें मिलते हैं—१. उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी, २. व्रजभाषा ३. सरल साहित्यिक हिन्दी और ४. तत्सम शब्द-प्रधान हिन्दी। बोल-चाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोहार काव्योपवन आदि काव्य-ग्रन्थों में उनकी भाषा उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी है। यह इतनी सरल, सुबोध और मुहावरेदार है कि उसे समझने में किसी को देर नहीं लग सकती। रस-कलस में उनकी रचनाओं की भाषा व्रजवाणी है। वह अपने शुद्ध रूप में नहीं है। उस पर खड़ी बोली का यथेष्ट प्रभाव है; पर है वह सरल, साहित्यिक और व्रजभाषा के नियमों से बँधी हुई। शिथिलता उसमें नहीं है। रीति-कालीन कवियों ने तुकबन्दी और व्यर्थ शब्दों की ठूँस-ठाँस से जिस प्रकार अपनी भाषा को बिगाड़ा है उस प्रकार का प्रयत्न हरिऔध ने नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को उन्होंने व्रजवाणी के साँचे में ढालकर मधुर बना दिया है। इस प्रकार भाषा को अपनी रूचि और आवश्यकता के अनुसार नया रूप देने में वह बड़े ही कुशल हैं। उनकी तीसरे प्रकार की भाषा है सरल हिन्दी। प्रियप्रवास और 'वेनिस का बाँका' के अतिरिक्त उनके शेष खड़ी बोली के ग्रन्थों में सरल हिन्दी है। प्रियप्रवास के बाद 'वैदेही-वनवास' की भाषा प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी-जनता के सामने आई है। प्रियप्रवास की भाषा चौथे प्रकार की है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से इतनी

हरिऔध की भाषा

बोझिल और दबी हुई है कि कहीं-कहीं उसमें हिन्दी खो-सी गई है। देखिए :—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कल हासिनी, सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।

वृत्तों के अनुकूल ऐसी भाषा के लिखने में हरिऔध ने न तो अपने पाठकों का ध्यान रखा है और न उस भाषा के व्याकरण का जिसमें वह प्रियप्रवास लिख रहे थे। इसलिए उनसे व्याकरण-सम्बन्धी भूलें भी हुई हैं और वह अपनी भाषा को बहुत आकर्षक भी नहीं बना सके हैं। इससे उनके काव्य की रोचकता भी नष्ट हुई है। उनका शब्द-चयन भी शिथिल है। ब्रजभाषा के कुछ शब्द भी खड़ी बोली में आ गये हैं जो खटकते हैं। पर इन दोषों के रहते हुए भी हरिऔध के भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रति उनकी लालसा है, उनका मोह है। इस लालसा और इस मोह की प्रियप्रवास में उन्होंने पूर्णतः रक्षा की है। भाषा के क्षेत्र में उनका प्रयास नवीन और मौलिक है। उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह, संगीत और लालित्य है और वह उनके भावों को वहन करने में पूर्णतः समर्थ है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीनों शक्तियों से काम लेकर शब्दालंकारों से उन्होंने अपनी भाषा के अभ्यान्तरिक तथा बाह्य स्वरूप को जिस प्रकार सौंदर्य प्रदान किया है वह अद्वितीय है।

हरिऔध की काव्य साधना के भाव और कला-पक्षों पर सम्यक् विचार हो चुका। अब हम उनकी तथा उनके समकालीन गुप्त जी की कला-कृतियों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त

हरिऔध के सम्बन्ध में हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपनी आँखों से हिन्दी के उत्थान काल के तीन युग भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल और वर्तमान काल—देखे हैं। भारतेन्दु काल में बाबा सुमेर सिंह से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रजवाणी को अपनाया।

द्विवेदी-काल में खड़ी बोली को प्रोत्साहन मिलने से उन्होंने खड़ी बोली में अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया, पर इसके साथ ही ब्रजवाणी के प्रति उनका जो मोह था उसका परित्याग नहीं किया। नवीन काल में यद्यपि उनकी काव्य-प्रतिभा अधिकांश द्विवेदी-कालीन रही तथापि हिन्दी को उन्होंने अपनी फुटकल रचनाओं के रूप में योग-दान दिया और इस प्रकार वह अपने तीनों कालों में समान रूप से हिन्दी-काव्य की अभिवृद्धि करते रहे। गुप्त जी को काव्य-प्रेरणा मिली अपने पूज्य पिता से। उनके पिता जी कवि थे और ब्रजवाणी में कविता करते थे, पर गुप्त जी ने ब्रजवाणी को नहीं अपनाया। उनके काव्य-जीवन का प्रभात काल द्विवेदी-युग का प्रभात काल था। इसलिए द्विवेदी-युग के प्रभाव से उन्होंने खड़ी बोली में कविता करना आरंभ किया। इस प्रकार गुप्त जी ने अपनी आँखों से हिन्दी-काव्य के दो युग देखे हैं—द्विवेदी-युग और वर्तमान युग। द्विवेदी-युग से गुप्त जी अत्यधिक प्रभावित हैं। उनके काव्य-जीवन का विकास इसी काल में हुआ है। हरिऔध भी द्विवेदी-युग से उतने ही प्रभावित हैं जितने गुप्त जी, पर हरिऔध पर रीति-कालीन परम्पराओं का यथेष्ट प्रभाव है। गुप्त जी इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त हैं। वह शुद्ध द्विवेदी-कालीन हैं।

धार्मिक क्षेत्र में हरिऔध के सिद्धान्त अधिक व्यापक हैं। वह मानवता के रूप में अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह ना नास्ति किंचन। उनके इस विचार के अनुसार मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्त्व की प्राप्ति है। यही उनका अवतारवाद है। वह ईश्वर को साकार रूप में स्वीकार नहीं करते। अपनी इस धारणा के कारण उन्होंने प्रियप्रवास में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित किया है। इसी धारणा के कारण उनमें सामाजिक चेतना का विकास हुआ है और विश्व-प्रेम की उद्भावना हुई है। राधा और कृष्ण उनकी इसी भावना के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आते हैं। गुप्त जी

की धारणा इससे भिन्न है। गुप्त जी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। इसलिए पौराणिक अवतारवाद में उनका विश्वास है। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। जो 'रमा है सब में राम' वही निर्गुण से सगुण साकार बनकर अपनी भक्त वत्सलता का परिचय देता है। उसका उद्देश्य है—

पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू भार को।

गुप्त जी की यह भक्ति-भावना भक्त-कालीन कवियों में उन्हें लाकर बिठा देती है। हरिऔध की विचार धारा पर सन्तकवियों का प्रभाव है। सिक्ख-धर्म में दीक्षित होने के कारण उनकी साहित्य-साधना सन्त कवियों की साहित्य-साधना बन गई है। उनका काव्यगत दृष्टिकोण उनकी धारणा के अनुकूल है। गुप्त जी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शों से ओत-प्रोत हैं। उनकी राम-कथा-सम्बन्धी रचनाओं में उनका वही स्वर है जो रामचरितमानस में तुलसी का। राष्ट्रीयता के नव जागरण काल में जन्म लेने के कारण जातीय तथा धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं का भी सम्मिश्रण ऐसी रचनाओं में कर दिया है; पर गुप्त जी भक्त कवि नहीं, प्रमुखतः राष्ट्र-कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना के समान ही उनकी राष्ट्र-भावना का विकास हुआ है। हरिऔध सामाजिक प्रवृत्तियों के कवि हैं। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गुप्त जी का जितना मोह है, उतना हरिऔध का नहीं है। इसीलिए जहाँ हरिऔध सुधारक और उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं वहाँ गुप्त जी हमारी राष्ट्रीय चेतना में प्राण फूँकते पाये जाते है। इसका कारण कुछ तो आदर्शों की विभिन्नता और कुछ सामाजिक परिस्थियाँ हैं। गुप्त जी स्वतंत्र वातावरण में पनपे और विकसित हुए हैं। हरिऔध को अपनी जीविका चलाने के लिए सरकारी नौकरी करनी पड़ी है। इसलिए राष्ट्र-प्रेमी होते हुए भी हरिऔध जी ने राष्ट्रीय चेतनाओं का कभी खुलकर समर्थन नहीं किया। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक भावना उनकी

राष्ट्रीय भावना को दबाकर आगे निकल गई। गुप्त जी की राष्ट्रीय भावनाओं का विकास सामाजिक भावनाओं के बीच हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों में बराबर भाग लेने के कारण उनकी सामाजिक भावनाओं को राष्ट्रीय भावनाओं के सामने दब जाना पड़ा। हिन्दू होने के नाते दोनों महाकवि अपनी जातीय समस्याओं से परिचित हैं और उनके प्रति उदार हैं। उनका उद्देश्य ही उनके काव्य-कर्म की मुख्य प्रेरणा है।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में हरिऔध की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। उपन्यास और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य पर उनकी विवेचना उनकी गद्य-शैली के द्योतक हैं। प्रियप्रवास तथा वैदेही वनवास उनके दो महाकाव्य हैं। रस-कलस उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। गुप्त जी ने एक महाकाव्य साकेत, जयद्रथ वध आदि कई खण्ड काव्य तथा गीति काव्यों की रचना की है। गद्य की ओर उनकी प्रतिभा उन्मुख नहीं हुई है। आलोचना भी उनका विषय नहीं है। वह केवल कवि हैं। उनके कथानकों का आधार पौराणिक कथाएँ हैं। 'किसान' आदि उनकी स्वतंत्र रचना के उदाहरण हैं। हरिऔध ने अपने दो महाकाव्यों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही की है, पर उनमें पौराणिकता नहीं है। अपने आदर्शों के आलोक में उन्होंने अपनी कथाओं को नवीन और मौलिक रूप दिया है। गुप्त जी के कथानकों में इस प्रकार की चेष्टा नहीं है। इसलिए हरिऔध की भाँति वह किसी नूतन आदर्श की अपने रचनाओं में स्थापना नहीं कर सके हैं। हरिऔध अपनी महाकाव्येतर रचनाओं में मुख्यतः सामाजिक है, गुप्त जी मुख्यतः राष्ट्रीय। नवीनधारा से, काव्य के नवीन वादों से गुप्त जी हरिऔध की अपेक्षा अधिक प्रभावित हैं। गुप्त जी अब छायावादी और रहस्यवादी कविताएँ भी लिखने लगे हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हरिऔध को जो सफलता राधा के चरित्र-चित्रण में मिली है वह उन्हें माता सीता के चरित्र-चित्रण में नसीब नहीं हुई। 'साकेत' की उर्मिला भी राधा की भाँति वियोगिनी है, पर जहाँ राधा का विरह निराशा-जन्य है

वहाँ उर्मिला का आशाजन्य। उर्मिला जानती है कि लक्ष्मण चौदह वर्ष पश्चात् अवश्य लौटेंगे। इसलिए उसकी विरह वेदना में वह तड़पन नहीं है जो राधा के विरह में है। राधा विचारशीला हैं। वियोग ही में उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रकृति से सहानुभूति की प्रेरणा पाकर वह विश्व को कृष्णमय समझने लगती हैं और अन्त में लोक-सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देती है। उर्मिला मौनव्रती है। वह अपनी आग में सुलगती है, पर इस प्रकार कि वह उसका धुआँ तक बाहर नहीं जाने देती। सास, परिचारकाएँ, इत्यादि उनकी मुखाकृति से यह नहीं भाँप पातीं कि उसे पति-वियोग का दुःख है। बड़ा संयम है उर्मिला को अपने मनोगत भावों पर। राधा का विरह ऐसा नहीं है। उसकी विरहाग्नि का धूम्र चारों ओर फैलता है और जो उसके सम्पर्क में आता है वहीं सन्तप्त हो जाता है। उर्मिला का विरह एक बड़े घर की लज्जाशीला बधू का विरह है और राधा का एक प्रेमिका का। उर्मिला हमारे सामने एक पारिवारिक जीवन का आदर्श उपस्थित करती है और राधा एक आदर्श प्रेमिका का। हरिऔध की समस्त रचनाओं में राधा का चरित्र ही उच्च कोटि का है, गुप्त जी की रचनाओं में कई चरित्र महान् हैं। मानव के चरित्र में गुप्त जी की कला का हरिऔध की कला की अपेक्षा अच्छा विकास हुआ है। गुप्त जी के कथोपकथन का क्षेत्र विस्तृत और विशाल है। हरिऔध के कथोपकथन एक सीमित क्षेत्र क भीतर चलते हैं। इसलिए गुप्त जी की अपेक्षा हरिऔध को अपनी उक्तियों का, अपने उद्देश्यों और विचारों का समन्वय करने में बाधाएं मिली हैं। चरित्र-चित्रण की भाँति गुप्त जी का प्राकृतिक वर्णन भी श्रेष्ठ है। उनकी रचनाओं में हमें प्रकृति के अनेक रूप मिलते हैं। उन्होंने प्रकृति के आनन्दमय रूप के बड़े आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं। देखिए :—

सखि, निरख नदी की धारा।
ढल मल ढल मल चंचल अंचल झल मल झल तारा।

× × ×

सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तरता तरता।

हरिऔध के प्रकृति वर्णन में केवल विषाद के चित्र हैं। उनकी प्रकृति रोती अधिक है, हँसती कम है। विषय की विभिन्नता के कारण प्रकृति-चित्रण में गुप्त जी हरिऔध की अपेक्षा आगे है। हरिऔध के प्रकृति वर्णन पर नवीन युग की छाप नहीं है, गुप्त जी ने नवीन शैली को अपना कर अपने प्रकृति-वर्णन को और भी सजीव बना दिया है।

काव्य-कला के क्षेत्र में हम हरिऔध को गुप्त जी से आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। हरिऔध आचार्य हैं। उनकी रचनाओं में अलंकार, रस, छन्द भाषा का अत्यन्त सुन्दर विधान हमें मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा दोनों महाकवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से आये हैं। इसके आयोजन में हरिऔध को वियोग-शृंगार, वात्सल्य और करुण रसों के परिपाक में प्रशंसनीय सफलता मिली है, पर इन रसों के अतिरिक्त रस कलस में उन्होंने सभी रसों का परिचय दिया है। भाषा वह हर तरह की लिख और बोल सकते हैं। गुप्त जी में आचार्यत्व नहीं है। उनकी भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद सब कुछ है, पर यह सब है खड़ी बोली में। उस पर उनका अधिकार हरिऔध की अपेक्षा अधिक है; पर वह व्रजभाषा में नहीं लिख सकते और न बोलचाल की भाषा ही अधिकार के साथ लिख सकते हैं। गुप्त जी की भाषा-साहित्यिक हिन्दी है जिसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और न उर्दू शब्दों की भरमार। हरिऔध के समान गुप्त जी का मुहाविरों पर अधिकार नहीं है। हरिऔध और गुप्त दोनों अपनी छन्द-योजना में नवीन हैं। हरिऔध ने संस्कृत-वृत्तों का उपयोग किया है और गुप्त जी ने हिन्दी-छन्दों का। गुप्त जी गीतिकार भी हैं। उर्दू के छन्दों का प्रयोग गुप्त जी ने नहीं किया है। इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से देखने पर हम गुप्त जी को हरिऔध से आगे पाते हैं।

हरिऔध हिन्दी के महान् कलाकार हैं। हिन्दी के ब्रजभाषा के युग में जन्म लेकर जाति, देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ उन्होंने अपने जीवन का विकास किया है और अपनी साहित्यिक धारणाएँ निश्चित की हैं। बाबा सुमेर सिंह से काव्य-प्रेरणा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने अपनी साहित्य साधना का पथ स्वयम् निर्माण किया। वह कई भाषाएँ जानते थे। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फ़ारसी साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन भाषाओं के अतिरिक्त वह अँगरेज़ी बँगला और गुरुमुखी भी जानते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। सरकारी कामों से छुट्टी पाने के पश्चात् उनके पास जो समय बचता था वह साहित्य-साधना में ही व्यतीत होता था। संस्कृत साहित्य का मन्थन जैसा उन्होंने किया था वैसा उनके समकालीन कवियों में नहीं देखा जाता। वह अध्यवसायी और परिश्रमी थे। आरंभ से ही उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया था। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् तो उन्होंने अपने शेष जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दी की सेवा में अर्पण कर दिया था। काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से हिन्दी की सेवा करते हुए उन्होंने ऐसे कई छात्रों को जन्य दिया जो इस समय हिन्दी का मस्तक ऊँचा कर रहे हैं।

हरिऔध का हिन्दी साहित्य में स्थान

साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में हम हरिऔध क दो रूपों में पाते हैं—गद्यकार और पद्यकार। पद्यकार की हैसियत से हरिऔध की रचनाएं दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। वेनिस का बांका, रिपवानविकिल तथा कुछ निबन्ध उनकी अनूदित रचनाएँ है। ठेठ हिन्दी का ठाठ, अध-खिला फूल, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। इन अनूदित तथा मौलिक रचनाओं में हरिऔध की गद्य-शैली परिष्कृत और अलंकृत है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि वह सरल और संस्कृत-गर्भित दोनों प्रकार की भाषाएँ लिख सकते थे। उनकी

आलोचनात्मक शक्ति का परिचय हमें उनकी भूमिकाओं से मिलता है। इस प्रकार गद्य में वह अपने काल के सफल लेखक थे। उनमें भाषण की शक्ति भी थी।

पद्यकार की हैसियत से हरिऔध ने हिन्दी को जो दान किया वह उनके गद्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में यद्यपि वह रत्नाकर से टक्कर नहीं ले सकते तथापि उनका व्रजभाषा काव्य आचार्यत्त्व की दृष्टि से अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। रीति-कालीन आचार्यों की शृंखला में वह आधुनिक युग की अन्तिम कड़ी हैं। 'रसकलश' उनके अचार्यत्त्व का प्रमाण है। खड़ीबोली के क्षेत्र में वह महाकवि हैं। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य उनकी कीर्ति का स्तम्भ है। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण को आलम्बन रूप में ग्रहण करके रीतिकालीन कवियों ने उनके प्रति जो अन्याय किया था, यह महा-काव्य उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया है। इसमें राधा और कृष्ण लौकिक रूप में चित्रित किये गये हैं। कर्तव्य परायणता की प्रेरणा से राधा के प्रेम को ठुकराकर कृष्ण का मथुरा-गमन और राधा का कृष्ण के वियोग में समस्त विश्व को कृष्णमय समझकर उसकी उपासना करना यही प्रियप्रवास का मुख्य 'थीम' है। यद्यपि यह थीम महाकाव्य का विषय होने की क्षमता नहीं रखता, तथापि हरिऔध ने अपनी काव्य-कला के साधनों से इस कथानक को विस्तृत रूप देकर महाकाव्य का विषय बना दिया है। 'वैदेही वनवास' उनका दूसरा महा-काव्य है। इसमें श्रीराम ने लोकापवाद के कारण वैदेही को जो वनवास दिया था उसका करुण वर्णन है। इस काव्य में करुण रस का उतना परिपाक नहीं हुआ है जितना आर्य आदर्शों के अनुसार नारी के कर्तव्यों के निर्वाह का ध्यान रखा गया है। इसलिए कवित्त्व की दृष्टि से इस महाकाव्य को वह गौरव नहीं मिल सका जो प्रियप्रवास को मिला। इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल आदि ग्रन्थ हैं। इनकी भाषा सरल और मुहावरों से लदी हुई है। इनमें

कवित्त्व कम और भाषा का लालित्य अधिक है। सामाजिक विष
लेकर उन्होंने इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। पिछले पृष्ठों
इन समस्त ग्रन्थों की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम केवल इत
कहेंगे कि 'प्रियप्रवास' में उनकी काव्य-कला का जितना सुन्दर
हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हरिऔध प्रियवास में महाकवि है
अन्य काव्य-ग्रन्थों में कवि। क्या मानव-प्रकृति-चित्रण और
बाह्य दृश्य-चित्रण, क्या भाव-पक्ष और क्या कला-पक्ष, प्रत्येक द
'प्रियप्रवास' उच्च कोटि का महाकाव्य है। उन्होंने दार्शनिक विष
लेकर भी अपनी रचना का कौशल दिखाया है। 'पारिजात' उनकी
ही रचनाओं का संग्रह है। इसमें उन्होंने अपनी आयु के अनुकूल
जगत्, सांसारिकता, प्रलय, संयोगवाद, वियोगवाद, सत्य का
परमानन्द आदि पारमार्थिक तत्त्वों का निरूपण किया है। क
तात्पर्य यह कि हरिऔध की काव्य-प्रतिभा ने अपने विकास के लिए
जगत् का कोना-कोना टटोला है और अपनी रुचि के अनुकूल
पाने पर उसे कवित्त्व के साँचे में ढालकर सरस और सुन्दर बनाया

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने काम किया है
प्रकार हम भाषा के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा को संलग्न पा
ब्रजभाषा, सरल हिन्दी, संस्कृत शब्द प्रधान हिन्दी सब और
समान गति है। संस्कृत-छन्दों में खड़ीबोली को स्थान देने क
सर्वप्रथम उन्हीं को प्राप्त हुआ है। द्विवेदी-समुदाय की गद्यात्मक
और कर्कशता उनकी भाषा में नहीं है। प्रियप्रवास, की भा
मधुरता और कवित्त्व दोनों हैं। इस प्रकार भाव, भाषा और
के क्षेत्र में उनके प्रयोग अपना एक निजी महत्त्व रखते हैं और
दृष्टि से सफल हैं। उनकी कला अछूती और शुद्ध है। हिन्दी-सं
उनका व्यक्तित्त्व इतना महान् है कि वह भुलाये नहीं जा सकते।

—३—

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

जन्म सं० १६२३ मृत्यु सं० १९८९
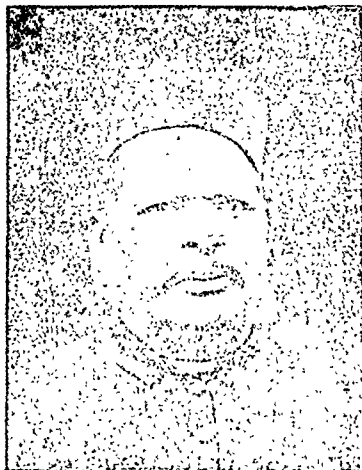
कविवर श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' का जन्म भादों सुदी ५, सं० १६२३ को काशी में हुआ था। वह अग्रवाल-कुल-भूषण थे। उनके पूर्वज पानीपत-निवासी थे और मुग़ल-सम्राटों के दरबार में उच्च पदों पर काम करते थे। कालान्तर में मुग़ल-

जीवन-परिचय

साम्राज्य का पतन होने पर वे लखनऊ चले आये परन्तु राज-घराने से उनका सम्बन्ध बना ही रहा। कहते हैं कि एक बार जहाँदारशाह के साथ सेठ तुला-राम काशी आये और तब से वह वहीं रहने लगे। वह रत्नाकर जी के परदादा थे। रत्नाकर जी के पिता का नाम श्री पुरुषोत्तम दास था। वह फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ फ़ारसी तथा हिन्दी-कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

से उनकी बड़ी मित्रता थी। वह प्रायः उनके कवि-समाज में सम्मिलित भी हुआ करते थे। इससे रत्नाकर जी को भी भारतेन्दु के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। इस प्रकार बचपन से ही उनके बाल-हृदय में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, और उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही अपनी कवित्त्व-शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि भारतेन्दु जी ने उनकी एक रचना से प्रसन्न होकर कहा—'यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा।' भारतेन्दु जी का वह आशीर्वाद विद्यार्थी जगन्नाथ दास ने सत्य करके दिखला दिया।

रत्नाकर जी की शिक्षा काशी ही में हुई। आरम्भ में उन्हें समय की प्रगति के अनुसार फ़ारसी भाषा का अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिन्दी भी सीखी। सन् १८९१ ई० में उन्होंने फ़ारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एम० ए० में भी फ़ारसी पढ़ी; परन्तु किसी कारण से वह एम० ए० की अंतिम परीक्षा न दे सके। एक धनिक परिवार में जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन में सैकड़ों बाधाएँ आ सकती थीं और इसीलिए बिना विक्षेप बी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना उनके लिए एक असाधारण घटना प्रतीत होती है। इसे हम उनके अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल ही कह सकते हैं।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् सन् १९०० ई० के लगभग रत्नाकर जी ने आवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी की। वहाँ का जल-वायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न था। ऐसी दशा में उन्होंने वहाँ से पद-त्याग दिया और काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर रहने के पश्चात् उन्होंने अयोध्या-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। सन् १९०६ ई० में उनके स्वर्गवास के पश्चात् अयोध्या की महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अन्त तक वह इसी पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक काम करते रहे। आषाढ़ सौर ७ सं० १९८९ को हरद्वार में उनका शरीरान्त हुआ।

रत्नाकर का व्यक्तित्व

रत्नाकर जी बड़े हँसमुख और विनोद-प्रिय व्यक्ति थे। उनके साथ बातचीत करने में साहित्यिक आनन्द प्राप्त होता था। उनका स्वभाव बड़ा कोमल और मधुर था। वह अँगरेज़ी के ग्रेजुएट थे; परन्तु अँगरेज़ी वातावरण का उन पर लेश-मात्र भी प्रभाव न था। उनकी रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों की-सी थी। उनकी मित्र-मंडली भी बहुत बड़ी थी। अपनी मित्र-मंडली में जब वह कविता-पाठ करते थे, तब उनकी मुद्रा देखने योग्य हो जाती थी। वह बड़े भावुक थे और उनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। काव्य-प्रेमी होने के कारण अपने विद्यार्थी-जीवन में वह 'ज़की' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे। धीरे-धीरे उनकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी। इस प्रकार उर्दू के 'ज़की' हिन्दी में 'रत्नाकर' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए। 'सरस्वती' के प्रथम प्रकाशन के अवसर पर सम्पादकों में उनका भी नाम आया था। वह कई कवि-सम्मेलनों के सभापति भी हो चुके थे। सं० १९७९ में वह कलकत्ता हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हुए थे। वह हिन्दी के वैष्णव-कवि थे और प्राचीन हिन्दी की काव्यधारा में स्नात थे। उनकी प्रकृति भी उसी साँचे में ढली थी। उनकी विशेषता लीक पर ही चलने की थी। वह 'मेथ्यू अर्निल्ड' की भाँति, हिन्दी के अन्तिम 'क्लेसिक' कवि थे। उन्होंने हमें पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का संधान किया। यद्यपि वह अपने काव्य में जीवन की कोई मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नहीं आये तथापि उनका उक्ति-कौशल, उनकी अलंकार-योजना, उनकी भाषा की कारीगरी और छन्दों की सुघरता हिन्दी को उनकी विशिष्ट देन है।

रत्नाकर की रचनाएँ

हिन्दी में प्रवेश करने पर उन्होंने कई मौलिक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य-रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी, गंगा-विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कल-काशी तथा उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रन्थ लिखे। उनकी सबसे पहली कविता-पुस्तक 'हिंडोला' है। यह सम्वत् १९५१ में प्रकाशित हुई थी। यह प्रबन्ध-काव्य है। समालोचनादर्श इसके बाद की रचना है। 'हरिश्चन्द्र' उनकी तीसरी रचना है। यह भी खण्ड-काव्य है। 'कल-काशी' उनकी अपूर्ण रचना है। इसके बाद 'उद्धव-शतक' का नम्बर आता है। इसकी पहली पाण्डु-लिपि चोरी हो जाने से दूसरी बार इसकी रचना हुई है। इसमें कुछ पहले की स्मृति से लिखी रचनाएँ हैं और कुछ पुनः रचित। गंगावतरण महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। यह जब अधूरा ही था तब महारानी ने उसकी रचना से प्रसन्न होकर उन्हें १०००) पुरस्कार दिया। उन्होंने यह पुरस्कार स्वयं न लेकर नागरी-प्रचारिणी को दान कर दिया। इस काव्य-ग्रन्थ पर उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी से ५००) का एक पुरस्कार भी मिला। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ फुटकर कविताएँ भी हैं। उन्होंने चन्द्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हित-तरंगिणी और दूलह के कंठाभरण का भी सम्पादन किया था। उन्होंने अँगरेज़ी-कवि पोप के समालोचना-सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य Essay on Criticism का रोला छन्दों में अनुवाद भी किया। कई वर्षों तक वह अपने सहयोगियों के साथ 'साहित्य-सुधानिधि' नाम का मासिक पत्र भी निकालते रहे। इस पत्र में उनके कुछ काव्य तथा दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे, जिन्हें डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी 'लाल चन्द्रिका' में उद्धृत किया। उन्होंने बिहारी-रत्नाकर नामक बिहारी सतसई की एक ललित टीका भी लिखी है जिसका हिन्दी-संसार में बड़ा आदर है। अपने अन्तिम जीवन में उन्होंने सूर सागर के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन की ओर भी

ध्यान दिया और बड़े परिश्रम से उसका कार्य किया; परन्तु उनकी अ
यिक मृत्यु से यह कार्य अधूरा ही रह गया। उनकी समस्त रचनाओं
एक संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने 'रत्नाकर' के नाम से प्रका
किया है। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह केवल कवि ही न
भाष्यकार, भाषा-तत्त्वविद और पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। प्राकृत का उ
अच्छा ज्ञान था।

रत्नाकर गद्य-लेखक भी थे। उन्होंने कई ऐसे लेख लिखे थे जिन
कारण आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। उनके लेख बड़े गवेषणापूर्ण
भावपूर्ण और रचनात्मक होते थे।

रत्नाकर की काव्य-साधना

रत्नाकर का काव्य-विषय शुद्ध पौराणिक है। उन्होंने सूर आदि
भक्त-कवियों की भाँति पौराणिक कथाओं को ही अपनाया है। उद्धव-शतक, गंगावतरण, हरिश्चन्द्र आदि उनकी रचनाएँ हमारे सामने प्राचीन युग का उच्च आदर्श ही उपस्थित करती हैं। भक्त-कवियों ने जहाँ इन कथाओं में अपनी भावुकता का मिश्रण करके अपने सरस हृदय का परिचय दिया है, वहाँ रत्नाकर ने उनमें भावों की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण
करके उन्हें ओजपूर्ण बना दिया है। इस प्रकार रत्नाकर हमारे
सामने एक कलाकार के रूप में ही आते हैं। भक्त-कवियों में रस की
धारा बहती है, रत्नाकर में सूक्तियाँ मिलती है। वस्तुतः उन्होंने भक्ति-
कालीन भावनाओं को रीतिकालीन अलंकारिकता के साथ अभिव्यंजित
किया है। उनकी रचनाओं में धार्मिक भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय
भावना भी मिलती है।

रत्नाकर की रचनाएँ दो प्रकार की है—प्रबन्ध और मुक्तक। उनके
प्रबन्ध काव्य में हरिश्चन्द्र, गंगावतरण तथा उद्धव-शतक की गणना की
जाती है। हरिश्चन्द्र में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है; गंगावतरण में
सगर-सुतों का पाताल-प्रवेश और गंगा का स्वर्ग से आगमन ...

उद्धव-शतक में गोपियों का उद्धव से सम्वाद है। यही शतक रत्नाकर की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें उनके भावों की मौलिकता तथा उक्तियों की नवीनता का अपूर्व आनन्द मिलता है। यह उनका कृष्ण-काव्य है। इन समस्त प्रबन्ध-काव्यों में रत्नाकर ने व्रजभाषा के प्राचीन कवियों की अपेक्षा अपनी भावुकता से अधिक काम लिया है। घटना और पात्रों का निर्वाह करने की चिन्ता में व्रजभाषा के प्राचीन कवियों ने प्रबन्ध-काव्य के भीतर जिन विषयों का समावेश नहीं कर पाया, उन विषयों की ओर रत्नाकर ने ध्यान देकर एक बहुत बड़ी कमी को पूरा कर दिया है।

रत्नाकर ने मुक्तक काव्य की भी रचना की है। उन्होंने इन फुटकर पदों में ऋतु-सम्बन्धी अष्टक लिखे हैं जो व्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन की तुलना में आगे बढ़े हुए हैं। इनमें उनका कलाविद् रूप अधिक स्पष्ट है। उन्होंने समयपूर्ति भी की है; परन्तु उनके ऐसे पदों में उच्च कोटि का संगीत नहीं है। उनसे मन को उत्तेजना मिल सकती है, मन में टीस उत्पन्न नहीं हो सकती।

भावना के क्षेत्र में रत्नाकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भाव-लोक के कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने भावों का चित्रण एक फोटोग्राफर की भाँति किया है। इतना ही नहीं, भावनाओं के चित्रण के साथ ही उन्होंने मानवीय व्यापारों की क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, प्रेम, घृणा आदि से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न प्रकार की वाह्य चेष्टाओं की—अत्यन्त सुन्दर, सजीव और आकर्षक तसवीरें उतारी हैं। इसका कारण है उनकी निरीक्षण-शक्ति। वह किसी दृश्य का काल्पनिक चित्र नहीं खींचते। वह दृश्यों के चित्रांकन में अपनी निरीक्षण-शक्ति से काम लेते हैं। इसीलिए उनकी शैली इतनी सजीव है, उनकी कला इतनी जागरुक है।

रत्नाकर केवल मानवीय व्यापारों के ही चितेरे नहीं हैं। वह पशु-जगत् के व्यापारों से भी परिचित हैं। उनका उन्होंने स्वयं निरीक्षण किया है।

यही कारण है कि मानवीय व्यापारों के चित्रांकन के समान ही उन्हें पशु-जगत् के व्यापारों के चित्रण में भी पूरी सफलता मिली है। रत्नाकर की दृष्टि, रीति-कालीन कवियों की अपेक्षा, बहुत पैनी है। वह रीति-कालीन कवियों की भाँति किसी परिपाटी का आँख मूँद कर अनुकरण नहीं करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने में वह उन समस्त उपकरणों से काम लेते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है। उनके प्रकृति के चित्रों में भी हम उनकी इसी मनोदिशा का परिचय पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रत्नाकर वाह्य तथा अन्तर दोनों जगत् के चित्रांकन में कुशल हैं। वह स्वयं काव्य-मंच से दूर हटकर खड़े हो जाते हैं और उन पुरुषों, स्त्रियों तथा प्राकृतिक दृश्यों को, सारी गोचर विशेषताओं के साथ, हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जिनके भावों की व्यञ्जना अपेक्षित है। उनके इस प्रकार के चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से उनका हृदय भी स्पष्ट झलकने लगता है।

रत्नाकर के काव्य-कला की एक विशेषता और है और वह है उनकी तन्मयता। कवि भाव-लोक का उन्मुक्त गायक होता है। जिन परिस्थितियों से, जिन भावों से, उसे काव्य-प्रेरणा मिलती है, उनमें जितना ही अधिक वह तन्मय हो जाता है, उतना ही मधुर काव्य वह प्रस्तुत करता है। वह अपने भाव में स्वयं तन्मय होकर, स्वयं डूबकर, स्वयं निमग्न होकर, दूसरों को भी अपने उन्हीं भावों से तन्मय कर देता है। रत्नाकर के काव्य में, अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा, तन्मयता अधिक है। उनमें स्वयं तन्मय होने और दूसरों को तन्मय करने की आश्चर्यजनक क्षमता है।

रत्नाकर की काव्य-कला में स्वाभाविक सौंदर्य है। उन्होंने लक्षणा और व्यञ्जना—शब्द की इन दो महान् शक्तियों के वल पर भाव और भाषा का बड़ी ही चतुरतापूर्वक समन्वय किया है। इससे उनकी रचना में स्वाभाविक निखार और नई जवानी का-सा सौंदर्य आ गया है। उन्होंने

अपनी कविता-कामिनी को कलात्मक अलंकारों से इस प्रकार सजाया है, सहज और स्वाभाविक कल्पना के सुमनों से इस प्रकार आभूषित किया है, शुद्ध भाव-रत्नों से इस प्रकार अलंकृत किया है कि उसके सामने रीति-काल के बड़े-बड़े कवियों की शृङ्गार से लदी कोमल काव्य-कामिनियों की चमक-दमक निष्प्राण हो जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि रत्नाकर में जहाँ ग्रहण-शक्ति है वहाँ उनमें चयन शति भी है। अपनी इसी चयन-शक्ति के कारण वह यह शीघ्र जान जाते हैं कि उनकी काव्य-कला के लिए क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक उपकरण हैं। वह अनावश्यक का वहिष्कार करके आवश्यक उपकरणों से अपनी काव्य-कला को उन्नत रूप देते हैं। चयन भाषा का भी होता है और भाव का भी। रत्नाकर दोनों प्रकार की चयन-शक्ति रखते हैं। उनकी शब्द और भाव-योजना में साम्य है। उन्हें अपने भावों के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भाव के साथ शब्द भी आ जाते हैं, आत्मा के साथ उसका सुन्दर शरीर भी आ जाता है।

रत्नाकर काव्य-कला के पंडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावों पर तो उनका इतना ज़ोरदार अधिकार है कि वह उनके प्रवाह में आकर वर्ण्य विषय से कभी नहीं भटकते। वह भावों के केन्द्रीयकरण के आचार्य हैं। उनकी विचार-धारा संयम की सीमा के भीतर बहती है, इसीलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं।

रत्नाकर की कल्पनाएँ भी बड़ी मधुर, आकर्षक और चुटीली होती हैं। काव्यगत कल्पनाओं में कवि को लोक-सीमा से बहुत दूर तक इधर-उधर उड़ने और विहार करने का अधिकार होता है; परन्तु जो कवि इस अधिकार का अनुचित लाभ उठाते हैं, जो अपनी रचनाओं में दूर की कौड़ी लाने के लिए लोक-प्राप्त व्यापारों का उल्लंघन कर स्वच्छन्द विचरण करने लगते हैं, उनकी कल्पनाएँ रोचक होने पर

भी काव्योपयोगी नहीं रह जाती। इसीलिए कवि प्रायः लोक-प्राप्त गोचर आधार के सहारे ही अपनी कल्पनाओं का भव्य प्रासाद खड़ा करते हैं। रत्नाकर की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार से उनकी रचनाओं में आई हैं। उनकी कल्पनाओं से उनकी रचनाओं को बल मिला है, उनकी अनुभूतियों को सौंदर्य प्राप्त हुआ है। रत्नाकर अपनी कल्पना के सहारे अपने भावों को तीव्रतर बनाकर पाठक के हृदय में उतारने की क्षमता रखते हैं। वह भाव-भूमि तक पाठकों को पहुँचाकर स्वयं कल्पना करने का उन्हें अवसर भी देते हैं। वह भावना की सीमा नहीं बाँधते। वह स्वयं भावुक हैं और अपने साथ अपने पाठक को भी भावुक बनाते हैं।

रत्नाकर की काव्य-साधना पर विचार करते समय हम यह कह आये हैं कि उनमें बाह्य दृश्य-चित्रण की अद्भुत क्षमता है। काव्य-परिशीलन में हम इसे 'विभाव-चित्रण' कहते हैं। रत्नाकर ने आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों विभावों का सफल चित्रण किया है। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत उन्होंने रूप और कार्य-कलापों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। रूप के चित्रण में उन्होंने दो उक्तियों से काम लिया है:—

रत्नाकर का बाह्य दृश्य-चित्रण

[१] अपनी पहली उक्ति के अनुसार रत्नाकर ने आलम्बन का चित्र प्रस्तुत करने में ऐसी सभी रेखाएँ स्पष्ट रूप से अंकित की हैं जो चित्र की पूर्णता के लिए अपेक्षित हैं। इन चित्रों से उनकी अन्तर्दृष्टि, निरीक्षण-शक्ति तथा संकलन-शक्ति का स्पष्ट रूप से आभास मिल जाता है। सुदामा का चित्र इन पंक्तियों में देखिए:—

जै जै महाराज जदुराज द्विजराज एक,
सहृद सुदामा राज-द्वार आज आए हैं।

कहै रत्नाकर प्रगट ही दरिद्र-रूप
फटही लंगोटी बांधि बाध सौं लगाए हैं ॥
छीनता की छाप दीनता की छाप धारे देह,
लाठी के सहारे काठी नीठि ठहराए हैं।
संकुचित कंध पै अधौटी-सी कधौटी किए,
तापर सछिद्र छोटी लोटी लटकाए हैं ॥

सुदामा का दीनतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए रत्नाकर की संकलन-बुद्धि ने केवल उन्हीं उपकरणों से काम लिया है जो दीनता-सूचक हो सकती हैं। आलम्बन विभाव के ऐसे सम्पूर्ण सुन्दर चित्र उनके काव्य में भरे पड़े हैं।

[२] अपनी दूसरी युक्ति के अनुसार रत्नाकर ने चित्र प्रस्तुत करने में आलम्बन की पूरी रेखाएँ स्पष्ट न करके केवल ऐसी सार्थक रेखाओं का प्रत्यक्षीकरण किया है जिनसे सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में सहायता मिलती है। अपने ऐसे चित्रों में वह पाठक की कल्पना के लिए बहुत-कुछ सामग्री छोड़ देते हैं। इसका एक कारण है और वह यह कि उनके ऐसे चित्र वाह्य-दृश्यों तथा क्रीड़ाओं की स्पष्ट रेखाओं से ही चित्रित नहीं रहते हैं, अपितु वह भाव-लहरियों से भी स्पंदित रहते हैं। महारानी शैव्या का यह चित्र लीजिए :—

रूप-सील, गुन-खानि सुघर सब ही विधि सोहति।
लाजति बोलति मंद, नैंकु सौंहैं नहिं जोहति ॥

इन पंक्तियों में थोड़े से शब्दों की सहायता से रत्नाकर ने कुल-बधू का जो रूप चित्रित किया है उसे पहचानने में किसी को देर नहीं लगती।

आलम्बन विभाव के अन्तर्गत रूप-चित्रण ही नहीं, कार्य-कलापों का संश्लिष्ट चित्रण भी रत्नाकर ने किया है। भाव-व्यंजना में ऐसे

चित्रों से बड़ी सहायता मिलती है।' आत्महत्या के लिए उद्यत होनेवाले हरिश्चन्द्र के कार्य-कलापों का सजीव चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

यह विचार दृढ़ करि पीपर के पास पधारे।
लीन्हीं डोरी खोलि, द्वैक घंटनि करि न्यारे॥
मेलि तिन्हैं पुनि एक छोर पर फाँद बनायौ।
चढ़ि इक साखा, बांधि छोर, दूजौ लटकायौ॥

कार्य-कलापों के इस चित्रण से हमें उनका ज्ञान ही नहीं; अपितु उनके साथ हमारा साक्षात्कार भी होता है। रत्नाकर की कुशल तूलिका ऐसे चित्र के अंकन में अप्रतिम है।

रत्नाकर के उद्दीपन विभाव के चित्र भी उनके आलम्बन विभाव के चित्र के समान उनकी पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देते हैं। उद्दीपन विभाग के अन्तर्गत प्रकृति का चित्रण होता है। प्राकृति के प्रति रत्नाकर की अनुरागपूर्ण दृष्टि है। ऐसी दृष्टि रखने के कारण उनकी अनुभूति सम्वेदनात्मक है। यह दो प्रकार की होती है—१. साधारण और २. विशेष। साधारण सम्वेदनात्मक अनुभूति को हम सत्य और स्वाभाविक कहते हैं, विशेष को हम आरोपित और अस्वाभाविक मानते हैं। साधारण अनुभूति सहृदयों को प्राप्त होती है; आरोपित अनुभूति हमारी चित्त-वृत्ति पर निर्भर रहती है। संयोगावस्था में प्रकृति के जिन दृश्यों से हमें प्रसन्नता होती है, वियोगावस्था में उन्हीं दृश्यों से हमें दुःख होता है। वसन्त के आगमन से सबको आनन्द मिलता है, पर-वियोगिन के लिए :—

कहै रत्नाकर त्यों किंसुक-प्रसून जाल,
ज्वाल बड़वानल की हेरि हियें हहरैं।

रत्नाकर ने ऐसे बहुत से छन्द लिखे हैं जो इसी उद्दीपन परिपाटी से सम्बन्ध रखते हैं। प्रकृति के ऐसे चित्रों से हमें नायक अथवा नायिका की

अनुभूति का आभास तो मिलता है, प्रकृति के स्वाभाविक विलास का साक्षात्कार नहीं होता। साधारण अनुभूति का आभास हमें उस प्रकृति-वर्णन से होता है जिसमें ऋतु-सुलभ दृश्य तथा व्यापार अपना वास्तविक स्वरूप संरक्षित रखते हैं। रत्नाकर ने प्रकृति के ऐसे भी चित्र अंकित किये। है इस वसन्त-वर्णन को देखिए :—

पथिक तुरन्त जाइ कंतहि जताइ दीजौ,
आइगो वसन्त उर अमित उछाह लै।
कहै रत्नाकर न चटक गुलाबन की,
कोप कै चढ़त तोप मैन बादसाह लै॥
कोकिल के कूकनि की तुरही रही है बाजि,
विरहिनि भाजि कहो कौन की पनाह लै।
सीतल समीर पै सवार सरदार गंध,
मन्द मन्द आवत मलिंद की सिपाह लै॥

रत्नाकर के ऐसे प्रकृति-चित्र आत्मव्यंजक हैं। अब हम उनके ऐसे प्रकृति-दृश्यों को लेते हैं जिनका चित्र उन्होंने एक द्रष्टा के रूप में अंकित किया है। ऐसे चित्रों में उन्होंने बिंब ग्रहण कराने के साथ-साथ उनका सम्वेदनात्मक अनुभव भी प्रत्यक्ष किया है। ऐसा करने में उन्होंने दो शैलियों से काम लिया है—एक तो संश्लिष्ट चित्रण से तथा दूसरे केन्द्रीय व्यापार के संशोधन से। संश्लिष्ट चित्रण की शैली का उदाहरण लीजिए :—

छोटे बड़े वृच्छनि की पांति बहु भांति कहूँ
सघन समूह कहूँ सुखद सुहाए हैं।
कहै रतनाकर वितान बन बेलिन के,
जहाँ तहाँ विविध वितान छवि छाए हैं॥
बैठत उड़त मँडरात कल बोलत औ,
डारन पै डोलत विहंग बहु भाए हैं।

विचरत बाघ वृक पूरत अतंक कहूँ,
कहूँ मृग ससक ससंक फिरैं धाए हैं॥

केन्द्रीय व्यापार के संशोधन द्वारा प्रकृति का चित्रण देखिए :—

भूमि भूमि झुकत उमंडि नभ मंडल मैं,
घूमि घूमि चहुँधा घुमंडि घटा घहरैं।
कहै रत्नाकर त्यों दामिनि दमकैं दुरैं,
दिसि विदिसानि दौरि दिव्य छटा छहरैं॥

इन पंक्तियों में घटाओं के झूम-झूमकर झुकने तथा बिजली के चमककर बादलों में छिप जाने से वस्तु का चित्र सजीव हो गया है।

रत्नाकर के ऋतु-वर्णन दो प्रकार के हैं—परम्परा-मुक्त और अनुभूति-पोषित। इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त उन्होंने प्रभात, संध्या आदि का भी मनमोहक वर्णन किया है। उनका भिन्न भिन्न रंगों का निरीक्षण भी सूक्ष्म है। उनके कुछ प्रकृति-चित्रण अलंकारक शैली के अन्तर्गत भी हुए हैं, पर अलंकारों की योजना से उनकी शोभा नष्ट नहीं हुई है। सारांश यह कि रत्नाकर अपने प्रकृति चित्रण में अत्यन्त सफल हुए हैं।

रत्नाकर की अलंकार-योजना

अलंकार के विधान में भी रत्नाकर रीतिकाल के किसी कवि से पीछे नहीं हैं। रीतिकाल में कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने अलंकार की छटा दिखाने के लिए भावों का हनन किया है। रत्नाकर की रचना में यह बात नहीं है। उनकी रचना अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने कहीं भी भावों की कमी को अलंकारों की अस्वाभाविक योजना से पूरा करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी कृतियों में, शब्द और अर्थ, दोनों प्रकार के अलंकारों को उचित स्थान मिला है। उनके अलंकारों ने भावों को रमणीयता

विभावों का चित्रण किया है और रस की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की है। उनका अलंकार-विधान भावों के स्पष्टीकरण के लिए साधन-मात्र है और इस साधन को सफल बनाने में उन्होंने शब्द-योजना तथा मुहावरों से पूरा काम लिया है। कहने का तात्पर्य यह कि उनकी रचना में अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, अपन्हुति उल्लेख, असंगति, अतिशयोक्ति, व्याजस्तुति आदि का आयोजन स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इन सब अलंकारों में सांगरुपक रत्नाकर का प्रिय अलंकार है। इसका आयोजन उन्होंने अपनी रचनाओं में बहुत किया है। सम्भवतः जितने अधिक सांगरूपक उन्होंने लिखे हैं, उतने किसी अन्य हिन्दी-कवि ने नहीं लिखे।

रत्नाकर की रस-योजना

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों का बड़ी सफलता-पूर्वक समावेश किया है, पर शृङ्गार-रस को उन्होंने प्रथम स्थान दिया है। ऐसा करने में उन्होंने मुक्तक शृङ्गारी रचनाओं की परम्परा का अनुसरण किया है। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उन्हें पुरानी शैली के कवि-समाजों में बैठने और उनका सत्संग करने का अवसर मिला था। उन समाजों में दी गई अनेक समस्याओं की पूर्तियाँ उन्होंने भी की थीं। उनके समय में ब्रजभाषा में दो प्रकार की शृंगारी रचनाएँ होती थीं। एक प्रकार की शृंगारी रचना तो वह थी जिसमें रूढ़ि के अनुसार नायिका-भेद की परिपाटी का अनुसरण होता था और दूसरे प्रकार की शृंगारी रचना वह थी जो अनुभूति पोषित होती थी। रत्नाकर ने दोनों प्रकार की शृंगारी रचनाएँ की हैं। उनकी शृंगारी रचनाओं में जहाँ कृष्ण नायक के रूप में राधा अथवा किसी गोप कन्या से प्रेम-चर्चा करते हैं; वहाँ उन्होंने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है; परन्तु जहाँ उन्होंने कृष्ण और राधा को उनके अलौकिक रूप में देखा है वहाँ उन्होंने दूसरी परिपाटी का सहारा लिया है। यही कारण है कि उनकी शृंगार-लहरी के कृष्ण उद्धव-

शतक के कृष्ण से भिन्न हैं। शृंगार-लहरी में कृष्ण का लौकिक रूप है। इस रूप के चित्रण में रत्नाकर की भावुकता बन्धन-मुक्त हो गई है। एक बानगी लीजिए। राधा दो-एक दिनों से यशोदा के यहाँ जाती हैं और वहाँ ही रह जाती हैं। कृष्ण अपने खिलौनों के चोरी जाने के संदेह से सतर्क रहते हैं; परन्तु खिलौनों के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की चोरी हो जाती है :—

आवनि लगी है दिन द्वैक तैं हमारे धाम,
रहे बिनु काम जाम जाम अरुझाई है।
कहै रत्नाकर खिलौननि सम्हारि राखि,
बार बार जननी चितावत कन्हाई है॥
देखी सुनी ग्वारिन कितेक ब्रज वारिनि पै,
राधा-सी न और अभिहारिनि लखाई है।
हेरत ही हेरत हरयौ है हमारौ कछू,
काहू धौं हिरानौ पै न परत जनाई है॥

इन पंक्तियों में रत्नाकर की कल्पना कितनी सुन्दर, सजीव और स्वाभाविक है, इसे काव्य-प्रेमी ही समझ सकते हैं।

शृंगार की भाँति ही उन्होंने वीररस को भी स्थान दिया है। वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसका चित्रण युद्ध-वीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर में होता है। रत्नाकर ने चारों प्रकार के वीरों का अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक चित्रण किया है। युद्ध-वीर का एक उदाहरण लीजिए :—

दुर्ग तैं तड़पि तड़िता-सी तड़कैं ही कढ़ी,
कड़कि न पाये कड़खाँहु अबै मुरगा।

कहै रतनाकर चलावन लगी यौं बान,
मानौ कर फैले फुफुकारी भारि उरगा ॥
आसा छाँड़ि प्रान की, अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
देवी दुरगावति मलेच्छ-दल गेरे देत,
मनौ दैत्य दलिन दरेरे देत दुरगा ॥

इन दोनों रसों के अतिरिक्त रौद्र, भयानक करुण, वीभत्स, अद्भुत शन्त, हास्य तथा वात्सल्य रसों के उदाहरण भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। हरिश्चन्द्र खण्ड-काव्य में प्राय: सभी रसों को स्थान मिला है।

रत्नाकर की छन्द-योजना

रत्नाकर ने अपनी समस्त रचनाओं में अधिकांश दो ही छन्दों का विधान किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों की भाँति कवित्त को अपनाया है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनके कवित्त बेजोड़ होते हैं। कवित्त-योजना में उनकी काव्य-कला का प्रसार और प्रदर्शन प्रशंसनीय हुआ है। उनकी अधिकांश भावना भक्तों से ली हुई है, पर भक्तों में उनकी तरह कविता-रीति नहीं थी। वे केवल भजनानंदी थे। उनके पश्चात् के रीति-कवियों में अनुभूति की कमी थी और भाषा-शृंगार अधिक। इस कवि परम्परा में पद्माकर अन्यतम थे। रत्नाकर इस विषय में अपने को पद्माकर से प्रभावित मानते थे।

रत्नाकर ने कुछ सवैये भी लिखे हैं। रोला छन्द उनका नवीन प्रयास है। इस छन्द में बहुत कम कवियों ने लिखा है। इन छन्दों के चुनाव में रत्नाकर ने अपने काव्य-विषय के महत्त्व को सामने रखा है। उनके छन्द भाव, भाषा और विषय के अनुकूल हैं। उद्धव-शतक

के लिए कवित्त और हरिश्चन्द्र के लिए रोला छन्द ही उपयुक्त हो सकता था।

रत्नाकर के उपर्युक्त काव्य-ग्रन्थों की भाषा व्रजभाषा है। वह व्रज-भाषा-प्रेमी थे। जिस समय उन्होंने हिन्दी के पुनीत प्राङ्गण में प्रवेश किया, उस समय काव्य-भाषा व्रजभाषा ही थी। उसी के प्राचीन साहित्य से वह प्रभावित हुए थे और उसी के माधुर्य पर वह मुग्ध थे। अतएव उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का उसी को माध्यम बनाया; परन्तु उन्होंने उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनके सामने व्रजभाषा का जो स्वरूप था उसे वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त समझते थे। रीतिकाल के पिछले कवियों की मनमानी नीति ने उसका स्वरूप इतना विकृत कर दिया था कि वह निर्जीव-सी, अप्रतिभ-सी होती जा रही थी और उसके स्थान पर खड़ी-बोली अपना सर उठा रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि द्विजदेव तथा भारतेन्दु ने उसका संस्कार कर दिया था; परन्तु उतने से उन्हें सन्तोष नहीं था। वह खड़ीबोली के सामने व्रजभाषा के माधुर्य को, उसकी कोमलता और उसकी सरसता को एक बार फिर लाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने, अन्य भाषाओं के अध्ययन से, उसे, पुनः नवजीवन प्रदान किया। वह अंगरेज़ी, फ़ारसी तथा उर्दू के विद्वान् थे। उन्होंने उन भाषाओं की साहित्यिक भाषा का रहस्य समझा था। इसलिए उन्होंने व्रजभाषा के संस्कार में उन समस्त विधियों से काम लिया जिनके कारण उसे खोई लोकप्रियता पुनः प्राप्त हो सके। ऐसा करने में उन्होंने भाषा की स्वतंत्र प्रकृति का पूरा ध्यान रखा। उन्होंने भूले हुए मुहावरों को अपनाया, लोकोक्तियों को स्थान दिया और बोल-चाल के शब्दों से भाषा को सुसज्जित किया। उन्होंने व्रजभाषा में में बहुत से ऐसे शब्दों और उनके प्रयोगों को हटा दिया जो बहुत घिसकर साधारण जनता के प्रयोगों से दूर हो चुके थे और केवल परम्परा के पालनार्थ ही रखे जाते

रत्नाकर की भाषा और शैली

थे। साथ ही ऐसे शब्दों तथा वाक्यांशों को भी उन्होंने छोड़ दिया जो प्रयोग-बाहुल्य से न तो श्रुति-सुखद थे और न अपनी भाव-व्यंजकता ही प्रकट करते थे। इसका फल यह हुआ कि उनके कलापूर्ण हाथों में पड़कर भाषा का स्वरूप निखर आया। उसमें नवीन आकर्षण तथा नवीन जीवन प्रतीत होने लगा।

रत्नाकर भाषा के जौहरी थे। वह शब्द-रत्न का मूल्य आँकने में अपने समय के आचार्य थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में उनकी शब्द-योजना निर्दोष है। उन्होंने भावों तथा परिस्थितियों के अनुकूल ऐसे सुन्दर शब्दों का चयन किया है और उन्हें अपनी रचनाओं में ऐसे कलापूर्ण ढंग से सजाया और सँवारा है कि उनके आन्तरिक भावों को समझने में कहीं बाधा नहीं पड़ती। अगोचर को गोचर बनाने, अव्यक्त को व्यक्त करने, अपने मन के भावों को पाठक के मन में उतारने तथा उनके सामने अपनी अनुभूतियों का चित्र अंकन करने में रत्नाकर ने अपनी भाषा को इतना सरल, स्वाभाविक और व्यापार के अनुकूल बनाया है कि उसमें बात-चीत का-सा आनन्द आता है। एक उदाहरण लीजिए :—

सुन सुर पति अति आतुरता-जुत कह्यौ जोरि कर।
"कौन भूप हरिचंद ? कहौ हमसहुँ कछु मुनिवर ॥"
"सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यौ नारद उछाह सौं।
ताकी चरचा करन माँह चित चलत चाह सौं॥

इस अवतरण में भाषा का प्रसाद गुण देखने योग्य है। रत्नाकर का अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और यह अधिकार उन्होंने बड़ी साधना के पश्चात् प्राप्त किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा मँजी हुई, खरादी हुई है; परन्तु उसे खरादकर उसमें स्वाभाविकता लाने का उन्होंने अपने ढंग से प्रयत्न किया है। 'हिंडोला' तथा 'समालोचना आदर्श' में उनकी भाषा मँजी हुई और स्वाभाविक नहीं

है; परन्तु वही खराद पर चढ़ने के पश्चात् उद्धव-शतक तथा गंगावतरण में इतनी निखर आई है कि उसमें नाम-मात्र को भी शिथिलता नहीं दिखाई देती। वास्तव में वही उनकी भाषा का प्रकृत रूप है। उस रूप से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने रीति-काल के बहुत से कवियों की भाँति अपनी भाषा को पांडित्य-प्रदर्शन का माध्यम नहीं बनाया और न उसकी चटक-मटक दिखाने के लिए कभी भावों का बलिदान ही किया। उनकी रचनाओं में अनुप्रास की जो योजना देखने में आती है उसमें आग्रह की अपेक्षा स्वभाविकता अधिक है। उनकी भाषा में उर्दू का लालित्य और ब्रज का माधुर्य है। उनकी रचनाओं में उनका एक-एक शब्द नगीने की भाँति चिपका बैठा है। आप कोई शब्द कहीं से निकाल नहीं सकते, उसके स्थान पर कोई दूसरा शब्द रख नहीं सकते। शब्द-चयन में, उन्हें अवसरानुकूल सजाने सँवारने में, उनकी आत्मा में घुसकर उनका मर्म परखने में रत्नाकर उर्दू-कवियों को भी मात करते हैं। व्याकरण सम्बन्धी दोष उनकी भाषा में नहीं हैं।

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। उन्होंने शब्द की इस शक्ति से काम लेकर अपनी दुरूह कल्पनाओं को इतना सहज एवं सरल बना दिया है कि पाठक को उनकी तह तक पहुँचने में विशेष कठिनाई नहीं होती। मुहावरों के प्रयोग में भी वह अपना सानी नहीं रखते। हिन्दी भाषा के पास मुहावरों की बहुत बड़ी शक्ति है और इस शक्ति से उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। कहावतें उनकी रचनाओं में कम हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

अहह जाति तव मत्सरता अजहूँ न भुलाई।
हेर फेर सो बेर जदपि मुँह की तुम खाई॥

× × ×

सानुकूल सुभ समय सबहि सोभा संग राखत।
पै सुबरन सोइ साँच, आँच सहि जो रँग राखत॥

रत्नाकर की भाषा में संस्कृति के तत्सम शब्द भी आये हैं; परन्तु
से व्रजभाषा का सौंदर्य क्षीण नहीं हुआ है। उन्होंने तत्सम शब्दों
अपने स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है। वह फ़ारसी तथा उर्दू
षा के विद्वान थे। वह चाहते तो उन भाषाओं के प्रचलित शब्दों का
तकर प्रयोग कर सकते थे; परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में बड़े संयम
काम लिया है। उन्होंने न तो कहीं कठिन अथवा अप्रचलित फ़ारसी-
ब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं स्वाभाविकता का तिरस्कार ही
या है। गोपियाँ श्री कृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग
ती हैं, पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकने-
ला नहीं। शब्दों के कुछ देशी प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलते हैं;
न्तु उनसे भाषा का सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ है। उन्होंने काशी की
ली से शब्द लेकर बड़े कौशल से उन्हें व्रजभाषा के साँचे में ढाला
। बहुतों ने इस मिश्रण-कार्य में विफल होकर भाषा की निजता ही
ट कर दी है, पर रत्नाकर 'गमकावत', 'बगीची', 'धरना', 'पराना'
ादि अविरल देशी प्रयोग करते चलते हैं और कहीं वे प्रयोग
स्वाभाविक नहीं जान पड़ते। कहीं-कहीं 'प्रत्युत', 'निर्धारित' आदि
काव्योपयोगी शब्दों के शैथिल्य और स्वाभि-प्रसेद 'यात थल' आदि
रूह पद-जालों के रहते हुए उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नहीं
ई है। फुटकर पदों और कृष्ण-काव्य में उनकी भाषा शुद्ध व्रज और
गावतरण में संस्कृत-मिश्रित होती हुई भी किसी-न-किसी मार्मिक
योग की शक्ति के कारण व्रज की माधुरी से पूरित हो गई है। उदाहरण
ीजिए :—

जग सपनों-सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
यातैं तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ।

कहै रतनाकर सुनैं को वात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस वयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यौं ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ ।
जोग जोग कवहूँ न जानें कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म ब्रह्म कवहूँ वहकि बररात हौ ॥

× × ×

भंजन भव भ्रम-काच-कुलिस-आगार मनोहर,
गंजन हिय-तम तोम तरनि उदयाचल सुन्दर ।
प्रेम-पयोधि-रतन-दायक मंदर कन जाके,
कंचन करन हरन-कलमस पारस मनसाके ॥

रत्नाकर की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। लम्बी-लम्बी समासान्त पदावली उनकी रचना में वहुत मिलती है। स्वाभाविक तथा श्रुति की मधुर ध्वनि की रक्षा के लिए भाषा को वड़े संयत ढंग से ले चलने की उनमें अद्भुत क्षमता है। इसी से उनकी भाषा में प्रवाह है। भाषा की तुलना में उनकी भाषा पद्माकर से टक्कर ले सकती है; परन्तु जहाँ पद्माकर की भाषा में हलकापन है वहाँ रत्नाकर की भाषा गम्भीर हो गई है। पद्माकर की भाषा का प्रवाह एक क्षीण पहाड़ी झरने-सा है, रत्नाकर की भाषा का प्रवाह गम्भीर-नदी-सा है। पद्माकर ने अपनी रचनाओं में भाषा का चमत्कार दिखाया है, रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में भावों की गम्भीरता प्रकट की है। पद्माकर की भाषा वालकों के स्वच्छन्द कल-कल हास्य के समान है, रत्नाकर की भाषा प्रौढ़ और संयत है। विहारी और रत्नाकर की भाषा में साम्य अवश्य है, पर विहारी की भाषा कहीं-कहीं अलङ्कारों से इतनी बोझिल हो गई है कि उसके भाव दव से गये हैं। इस दृष्टि से रत्नाकर की भाषा कुछ आगे हो जाती है; परन्तु घनानन्द की भाषा रत्नाकर की भाषा से भी

आगे बढ़ी हुई है। घनानन्द की भाषा ब्रज की शुद्ध साहित्यिक भाषा है। रत्नाकर की भाषा मिश्रित है। उस पर ब्रजभाषा की छाप है। घनानन्द का अधिकांश जीवन ब्रजभूमि में व्यतीत हुआ था। वह वहाँ की भाषा में रम-से गये थे। रत्नाकर को ब्रजभाषा का ज्ञान पुस्तकों द्वारा हुआ था। इसलिए रत्नाकर की भाषा में ब्रजभाषा का वह माधुर्य न आ पाया जो घनानन्द की भाषा को प्राप्त हो सका। घनानन्द की भाषा एक प्रकार से उनकी मातृभाषा हो गई थी। रत्नाकर की भाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी। अब रत्नाकर की शैली पर विचार कीजिए।

जिस प्रकार रत्नाकर की भाषा पर उनके सहृदयता की छाप है उसी प्रकार उनकी शैली—उनके भाव-स्पष्टीकरण की विधि—पर भी उनका अधिकार है। उन्होंने जिन विधानों से अपने जीवन में भाव ग्रहण किया है, उन्हीं विधानों की काव्योचित प्रतिष्ठा करके उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया है। हरिश्चन्द्र काव्य का एक प्रसंग लीजिए। नारद जब इन्द्र-सभा में पहुँचे तब उनके मुख पर प्रसन्नता के चिह्न देखकर इन्द्र ने पूछा :—

पुनि पूछ्यौ सुर राज, आज मुनि आवत कित तैं।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यौ जो चित तैं॥

नारद भगवान् इन प्रश्न के उत्तर में कहते हैं:—

अहो सहसदृग साधु! बात साँची अनुमानी।

ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर मानवीय व्यापारों को परखने तथा उनका यथातथ्य चित्रण करने में अत्यन्त कुशल हैं। यह उनकी शैली की विशेषता है। उनकी तरह अन्य कवियों ने भी इस शैली का अनुकरण किया है, परन्तु उसमें वह रोचकता, वह स्वाभाविकता नहीं आने पाई है जो रत्नाकर की शैली में है। रत्नाकर

की दृष्टि अनुभावों के निरीक्षण में बहुत पैनी है। एक उदाहरण और लीजिए। इसमें रत्नाकर ने क्रोध का कहीं नाम तक नहीं लिया; परन्तु इन पंक्तियों को पढ़ते ही विश्वामित्र की क्रोधावस्था का चित्र सामने आ जाता है:—

देखौ वेगहि जौ वाको नहिं तेज नसावौं।
तौ पुनि पन करि कहौं, न विश्वामित्र कहावौं॥
यौं कहि आतुर, दै असीस, लै विदा पधारे।
चपल धरत पग धरनि, किये लोचन रतनारे॥

इस अवतरण में रत्नाकर ने अवसर के उपयुक्त ऐसी शैली का विधान किया है जिसमें स्वाभाविकता है, ओज है। रत्नाकर की अधिकांश रचना इसी शैली में है। उनकी शैली में भाषा और भावों का इतना सुन्दर सामञ्जस्य है कि वह अपने वर्ग के कवियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में रत्नाकर का स्थान

अब तक रत्नाकर की कृतियों के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य के निर्माण में एक विशेष पथ का अनुसरण किया है। इस विचार से वह ब्रजभाषा काव्य के अन्तिम ऐतिहासिक कवि हैं। उन्होंने अतीत का वर्तमान में चित्रण किया है। इसलिए वह इतिहास के एक सीमित संस्करण-मात्र न होकर अतीत का वर्तमान से अभिसन्धि कराने में बीते युग को विशेष उत्कर्ष के साथ चित्रित करने में सफल हो सके हैं। उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है। वास्तव में, आधुनिकता के प्रति उनकी विशेषरुचि नहीं थी। उन्होंने अपनी आँखों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य के तीनों काल देखे थे, पर उन पर किसी का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 'सरस्वती' के निकलने के पश्चात् खड़ीबोली का जो आन्दोलन

ा उसने ब्रजभाषा के अनेक उपासकों को अपनी ओर आकर्षित कर
ा, पर रत्नाकर पर्वत की भाँति अचल रहे। सरदार,
क, हनुमान, नारायण आदि कवियों के संसर्ग में रहकर उन्होंने
ीन काव्य परम्पराओं का नवीन दृष्टिकोण से अनुशीलन किया।
य युग हिन्दी का स्वर्ण युग था और वह उसी युग के पुजारी थे।
लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी युग की भाषा, उसी युग के
व और उसी युग की शैली को स्थान दिया। उनके आचार-व्यवहार
भी उसी युग की छाप थी। उन्होंने अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन
ा था। फ़ारसी के वह विद्वान थे। इन भाषाओं के अध्ययन से
होंने जो सीखा, उसे उन्होंने हिन्दी साहित्य को दान कर दिया।
दान को भी उन्होंने मध्य युग के साहित्य के रूप में ही हिन्दी-
ता के सामने रखा। उन्हें मध्य युग का वातावरण ही पसन्द था।
ब्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध थे, इसलिए उन्होंने इसी भाषा को
नी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वह मध्य युग की धार्मिक
वना के उपासक थे, इसलिए उन्होंने पौराणिक कथाओं को ही अपना
व्य-विषय बनाया। वह मध्य-युग की काव्य-परम्परा के अनुयायी थे,
ालिए उन्होंने उन्हीं छन्दों और उन्हीं अलंकारों को अपनाया जिनको
कालीन कवि अपना चुके थे। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन हिन्दी
वेता की सम्पूर्ण विशेषताएँ परिपूर्णतः उनमें विहित होकर केन्द्रित
गई थीं; अपितु यह कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक छोटे-मोटे प्रसाधनों
मुक्त होकर एक खास रूप में विशेष आचार-विचार और संस्कृति का
मिष्टतः परिचय देता है उसी प्रकार रत्नाकर ने अपने काव्यों को अतीत
विभिन्न प्रसाधनों से यथानुरूप चित्रित कर गत युग को मूर्त किया था।
ध्य युग का प्रतिनिधित्व करने पर भक्ति-काल का कोई सन्तोषजनक
तिनिधित्व उनकी रचनाओं में नहीं दीख पड़ता। इससे हमारा तात्पर्य
वल ईश्वरोन्मुख भावना से नहीं, अपितु उन संगीतमय पदों से है
जनमें सूर और तुलसी की भावनाओं ने अमरता प्राप्त की है। वस्तुतः

रत्नाकर मुक्तकों और प्रबन्धों के कवि हैं, गीतों के कवि नहीं हैं। यह अभाव सूचित करता है कि रत्नाकर में काव्य-साधना है, आत्म-साधना नहीं है। वह श्रमनिपुण कवि थे, स्वभाव सिद्ध कवि नहीं थे। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में संकलन-बुद्धि से काम लिया था। वीर काल, भक्ति-काल और शृंगार-काल की भावनाओं का न्यूनाधिक परिमाण में संकलन कर उन्होंने अपनी भाषा और शैली में एक निजी व्यक्तित्व स्थापित किया था। उन्होंने सूर से माधुर्य भाव, तुलसी से प्रबन्ध-प्रद्धति और शृंगारी कवियों से मुक्तक-शैली लेकर अपनी संकलन-बुद्धि का यथार्थ परिचय दिया है। रत्नाकर सूक्तियों के कवि थे। उनकी रचनाओं में कथन की वक्रता रीति-प्रेरित कवियों की भाँति अधिक देख पड़ती है। उनके काव्य में उनका आन्तरिक साक्षातकार नहीं होता। इसकी अपेक्षा उनमें चमत्कार जन्य कौतूहल अधिक आकर्षक हो गया है। अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में उन्हें पद्माकर से अधिक स्फूर्ति मिली है। पद्माकर से उन्होंने मुक्तक कवितों का पद-प्रवाह लिया और वहीं से प्रबन्ध-काव्य की प्रेरणा भी ली। इस प्रकार काव्य की विषय सामग्रियाँ उन्होंने पद्माकर से लीं, पर उनमें आत्मा अपनी रखी।

रत्नाकर आधुनिक वर्ग के कवि नहीं थे; परन्तु अपने काल की रुचि और उसकी आवश्यकताओं की ओर से वह उदासीन नहीं थे। इसीलिए उन्होंने व्रजभाषा का संस्कार किया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह खड़ीबोली के सामने अपना माधुर्य प्रकट करने में समर्थ हो सके। रत्नाकर को इस कार्य में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनकी कल्पना-शक्ति, सुसंगठित निर्मल भाषा, उक्ति प्रवीणता, कलापूर्ण भाव-प्रदर्शन और मार्मिक मुद्रा-चित्रण के सहयोग से उनकी काव्य-धारा में गंगा की सी गम्भीरता और मधुरभाषी पक्षियों का सा कलरव है। उनकी रचनाओं को देखकर कौन कह सकता है कि वह जीवित नहीं हैं।

—४—

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म सं० १६४३ — जीवित

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म, श्रावण शुक्ल द्वितीय चंद्रवार, सं० १६४३ को चिरगाँव, ज़िला झाँसी में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण का हिन्दी-कविता के प्रति विशेष प्रेम था। वह कविता भी करते थे। उनकी रचनाओं में भक्ति-रस का प्रवाह रहता था। 'कनक लता' उनका उपनाम था। राम के विष्णुत्व में उनका अटल विश्वास था। वह प्रायः उन्हीं के गीत गाते थे। उनके यहाँ भक्त और कवि बराबर आते-जाते रहते थे। वैश्य होने के कारण वह व्यापार-कुशल भी थे। लेन-देन का काम उनके यहाँ अधिक होता था। ऐसे सात्विक वातावरण में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और बाबू सियारामशरण गुप्त ने जन्म लेकर अपने वंश का ही नहीं, अपनी जन्म-भूमि

जीवन-परिचय

का भी मस्तक ऊँचा कर दिया। सेठ जी के पाँच पुत्रों में से दो—मैथिलीशरण और सियारामशरण—कवि हो गये और शेष तीन रामदास, रामकिशोर और चारुशीलशरण—अपनी कुल-परम्परा के अनुसार व्यापार की ओर झुक गये।

गुप्त जी प्रारंभ में अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के लिए झाँसी गये, पर वहाँ उनका मन नहीं लगा। अपनी बाल्यावस्था में गुप्त जी बड़े खिलवाड़ी थे, अतः वह घर लौट आये। सेठ जी ने घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। सेठ जी की भक्ति-भावना और काव्य-साधना के प्रभाव से गुप्त जी ने प्रमुखतः हिन्दी-साहित्य को ही अपनी साधना का केन्द्र बनाया। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति काव्य की ओर झुकी और वह टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे। उनके पिता एक कापी में अपनी रचनाएँ लिखा करते थे। एक दिन अवसर पाकर गुप्त जी ने भी उसमें एक छप्पय लिख दिया। सेठ जी ने अपनी नवीन रचना लिखने के लिए जब कापी खोली तब उसमें उन्हें एक छप्पय लिखा मिला। अक्षर मैथिली-शरण के थे। उस छप्पय को पढ़कर वह मैथिलीशरण की काव्य-प्रतिभा पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनका वह आशीर्वाद सत्य हुआ। आज गुप्त जी की रचनाओं पर हिन्दी को गर्व है।

गुप्त जी अपने साहित्यक जीवन के प्रारंभ में जो रचनाएँ किया करते थे वह प्रायः कलकत्ते से निकलनेवाले जातीय पत्र में प्रकाशित होती थीं, पर स्वर्गीय द्विवेदी जी के सम्पर्क में आने पर उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश 'सरस्वती' द्वारा हुआ। द्विवेदी जी 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरंभ कर रहे थे। खड़ीबोली के वह आचार्य थे। अतः उन्होंने गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं की भाषा तथा भावों का परिशोधन किया। इससे गुप्त जी

का उत्साह बढ़ गया। गुप्त जी द्विवेदी जी को अपना काव्य-गुरु मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। इस समय उनकी समस्त रचनाओं का हिन्दी में बड़ा आदर है। 'साकेत' उनका महा-काव्य है। इस पर साहित्य-सम्मेलन से उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोपिक भी मिल चुका है।

गुप्त जी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। उनकी अनूदित रचनाओं में दो प्रकार का साहित्य है—कुछ काव्य और कुछ नाटक। विरहिणी व्रजांगना बंगाली के लब्धप्रतिष्ठ कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी-अनुवाद है। 'मधुप' उपनाम से उन्होंने वीरांगना, मेघनाद-वध तथा पलासी-युद्ध का बँगला से अनुवाद किया है। फ़ारसी के विश्व-विख्यात कवि उमर ख़ैयाम की रुबाइयों के अँगरेज़ी-कवि फ़िट्ज़ ज़ेराल्ड कृत अनुवाद को हिन्दी रूप देने में भी उन्हें सफलता मिली है। इन अनूदित काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के यशस्वी नाटककार भास के स्वप्न वासवदत्ता का भी उन्होंने अनुवाद किया है। अनघ, चन्द्र हास और तिलोत्तमा उनके पद्य-बद्ध रूपक हैं। मौलिक काव्य-ग्रन्थों में रंग में भंग, जयद्रथ वध, पद्य प्रबन्ध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु तेग़ बहादुर हिन्दू, शक्ति, सौरंध्री, वन-वैभव, वक-संहार, झंकार और साकेत की गणना की जाती है। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुप साकेत के बाद के प्रकाशन हैं। विकट भट, मौर्य-विजय, मंगलघट, त्रिपथगा, गुरुकुल भी उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उन्होंने अपनी अनूदित तथा मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है और अपनी इस वृद्धावस्था में भी बराबर साहित्य-सृजन का कार्य करते जा रहे हैं। उनका अब तक का साहित्य काव्य-शैली की दृष्टि से चार प्रकार का है—१. गीति-नाट्य, २. खण्ड-काव्य, ३.

गुप्त जी की रचनाएँ

महाकाव्य और ४. रीति-काव्य। विषय की दृष्टि से उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. भाव प्रधान और २. इतिवृत्तात्मक। गुप्त जी अपनी रचनाओं में प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। रंग में भंग, विकट भट, जयद्रथ वध, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी सिद्धराज, साकेत और यशोधरा उनकी इतिवृत्तात्मक रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ भी मुख्यतः दो प्रकार की हैं—१. कथा सूत्रग्राही इतिवृत्तात्मक जैसे रंग में भंग और २. विविध दृष्टान्तों के इतिवृत्तात्मक, जैसे हिन्दू।

गुप्त जी हिन्दी-साहित्य के मौन कलाकार हैं। व्यक्ति की दृष्टि से वह अत्यन्त सरल, उदार और मधुर-भाषी हैं। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। गार्हस्थ्य जीवन से उन्हें प्रेम है। उनका हृदय बाल-हृदय की भाँति सरल और निश्छल है, पर इसके साथ ही वह एक विचारक की भाँति गंभीर भी है। कभी वह बालकों की-सी बातें करते हैं और कभी एक चिन्तनशील व्यक्ति की भाँति। अपने स्वभाव की इस विलक्षणता के कारण वह बालकों में बालक और दार्शनिकों में दार्शनिक समझे जाते हैं। उनकी सहृदयता उनके जीवन का आभूषण है। वैश्य-कुल में जन्म लेने के कारण वह व्यापारकुशल हैं। वह वैश्य-कुल के आभूषण हैं। माता भारती की सेवा के साथ-साथ वह लक्ष्मी की आराधना भी करते रहते हैं, पर लक्ष्मी की आराधना उनके जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। धार्मिक क्षेत्र में वह श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्रीवैष्णव हैं। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। दाशरथि राम उनके इष्ट देव हैं, पर वह कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कहकर उपलक्षित भी किया है। तथापि उनका हृदय तुलसी की भाँति राम के रूप से ही द्रवित होता है। वह राम के सच्चे सेवक हैं। उनके हृदय की इस राम-मयता का स्पष्ट प्रमाण उनका मंगलाचरण है। महाभारत के कथानकों पर आश्रित

गुप्त जी का व्यक्तित्व

उनकी जो रचनाएँ हैं उनके मंगलाचरण के पद्य प्रायः रामोन्मुख होते हैं। उनके राम, प्राकृत अथवा अप्राकृत, प्रत्येक रूप में पूर्ण ब्रह्म हैं और अपनी माया के खेल खेला करते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त हैं। गुप्त जी का यही धार्मिक दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व की आधार-शिला है। इसी आधार-शिला पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व का भव्य प्रासाद खड़ा किया है। उनके जीवन में जो मिठास, जो भोलापन, जो दैन्य जो उदारता और जो गंभीरता है उसका श्रेय उनके हृदय की राम-मयता को है। साहित्य के क्षेत्र में उन्हें अपनी इस भावना से बहुत बल और प्रोत्साहन मिलता है।

पारिवारिक जीवन की परिस्थितियों ने जहाँ गुप्त जी के जीवन को समता प्रदान की है वहाँ उनके धार्मिक दृष्टिकोण ने उनके जीवन की धारा को पीड़ित मानवता की ओर उन्मुख कर दिया है। वह अपनी जाति, समाज और देश के प्रति उतने ही उदार हैं जितने तुलसी। यह बात अवश्य है कि उन्होंने तुलसी की भाँति किसी लोक-नायक का चरित्र-चित्रण करके हमारी वर्तमान समस्याओं का नेतृत्व नहीं किया है तौ भी यदि हम उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए विचारों का संकलन करें तो हम उनके आलोक में अपनी वर्तमान समस्याओं के हल तलाश कर सकते हैं। मानवता के वह अभिन्न उपासक हैं। उनकी उपासना का साधन है उनका साहित्य-प्रेम। साहित्य-प्रेम ने उनके व्यक्तित्व को वाणी दी है, ऐसी वाणी दी है जिसमें राष्ट्र का प्राण और मानव हृदय की उदात्त प्रवृत्तियों की विशद व्याख्या है। इस प्रकार गुप्त जी के व्यक्तित्व में हम तीन बातें मुख्य रूप से पाते हैं—राम-भक्ति, साहित्य-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम। राम-भक्ति ने उनके व्यक्तित्व को वाणी दी है और राष्ट्र-प्रेम ने उनकी वाणी को अनुप्राणित किया है। संक्षेप में यही गुप्त जी के व्यक्तित्व का रहस्य है।

अभी हमने गुप्त जी के व्यक्तित्व की व्याख्या की है। इस व्याख्या से उनके जीवन पर पड़े हुए प्रभाव स्पष्ट हो जाते हैं। उनके जीवन-परिचय से हमें ज्ञात होता है कि आरंभ में वह अपने पिता के आदर्शों से बहुत प्रभावित थे। उनके पिता कवि, कुशल व्यापारी और धार्मिक पुरुष थे। अपने दैनिक कार्यों से अवकाश पाने पर वह माता सरस्वती की आराधना भी किया करते थे। मैथिलीशरण पर उनकी दिनचर्या का बहुत प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण थोड़ी स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् गुप्त जी राम-भक्ति की ओर झुके और टूटी-फूटी भाषा में कविता भी करने लगे। पहले-पहल उन्होंने काव्य-रीतियाँ अपने पिता से ही सीखी थीं। इस दिशा में स्वाध्ययन से उन्हें बहुत बल मिला। ज्यों-ज्यों साहित्य के प्रति उनका अनुराग बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनके काव्य-जीवन का विकास होने लगा। खाने-पीने की उन्हें कमी नहीं थी। अर्थ-चिन्ता से वह मुक्त थे। इसलिए उनकी प्रगति में कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। वह कुछ-न-कुछ नियमपूर्वक बराबर लिखते रहे।

गुप्त जी पर प्रभाव

गुप्त जी के जीवन पर दूसरा प्रभाव पड़ा उनकी रामोपासना का। हम बता चुके हैं कि गुप्त जी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। राम की भक्ति में उनकी अविचल श्रद्धा है। इसलिए हम उनकी दृष्टि में समता देखते हैं। वह प्रत्येक मत, प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उदार हैं। उनकी इस प्रकार की उदारता ने उन्हें भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पुनरुत्थान का पक्षपाती बना दिया है। वह अपने चारों ओर प्रतिदिन घटित होनेवाली घटनाओं से पूर्णतया परिचित हैं और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। मार्क्स-वादी न होते हुए भी उन्होंने कार्ल मार्क्स की प्रशंसा में रचना की है। इसी प्रकार ये आधुनिक समय के आन्दोलनों की गतिविधि से भी

परिचित हैं। वह मानवतावादी हैं। वह न्याय और सत्य के समर्थक हैं। उन पर तीसरा प्रभाव गांधीवाद का है। गांधी जी की भाँति वह अहिंसा के समर्थक हैं और सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक, दासता तथा सांप्रदायिकता के कटु आलोचक हैं। वर्तमान समय की पीड़ित जनता के प्रति उनकी सहानुभूति है। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण से पिसे हुए अशिक्षित किसानों तथा श्रमजीवियों के पक्ष का समर्थन उन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में किया है। वह देश के कल्याण और समृद्धि के सच्चे इच्छुक हैं, पर उनके विचारों में संकीर्णता नहीं, विश्व-मंगल की भावना है। उनकी धार्मिक भावना तथा गांधीवाद की विचार-धारा ने उन्हें सहिष्णु और उदार बना दिया है। वह शान्ति के समर्थक, दलितों के उन्नायक, श्रमिकों के नेता और पूँजीवादी सत्ता के कटु आलोचक हैं। उनमें स्वाभिमान, आत्मविश्वास और आशा है। साहित्य-साधना के क्षेत्र में उनके अध्ययन का उनकी विचार-धारा पर बहुत प्रभाव है। भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर उन्हें अभिमान है। वह अपना अतीत गौरव नहीं भूले हैं। उन्होंने भारत के अतीत गौरव की पृष्ठभूमि पर ही अपने काव्य का प्रासाद खड़ा किया है। उनके साहित्य पर द्विवेदी-युग का प्रभाव है। द्विवेदी जी ने उनकी साहित्य-साधना रूपी नौका के लिए माँझी का काम किया है। इसीलिए द्विवेदी-युग की समस्त साहित्यिक चेतनाओं का सुन्दर समन्वय हमें गुप्त जी की रचनाओं में मिल जाता है। द्विवेदी-युग के पश्चात् साहित्य में नवीन युग आने पर हम गुप्त जी को रहस्यवाद और छायावाद की ओर भी उन्मुख पाते हैं। उनकी आधुनिक रचनाओं पर इन वादों की स्पष्ट मुद्रा है। वह युग के साथ बदले और पनपे हैं। उनकी प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता। इस दृष्टि से वह हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं।

हिन्दी-काव्य-साहित्य में गुप्त जी का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना है। उनका समस्त काव्य जीवन और जगत् की परिभाषा के रूप में व्यक्त हुआ है। प्राचीन खँडहरों की महत्त्वपूर्ण सामग्री लेकर उन्होंने जीर्णोद्धार ही नहीं किया, वरन् मूर्तियों को जोड़-तोड़कर उन्होंने उनमें नया रंग भी भर दिया है। उनकी काव्य-सामग्री दो प्रकार की है—१. वस्तु संबन्धिनी और २. भाव-सम्बन्धिनी। उनकी वस्तु-सम्बन्धिनी रचनाओं में उनके खण्ड-काव्य और महाकाव्य आते हैं। इस दिशा में हमें उनकी कृत्तियों में छः मुख्य दिशाएँ दिखाई देती हैं—१. राष्ट्रीय, २. महाभारत की कथाएँ, ३. रामचरित की कथाएँ, ४. बौद्धकालीन कथाएँ, ५. ऐतिहासिक कथाएँ और ६. पौराणिक कथाएँ। राष्ट्रीय रचनाओं में भारत-भारती और किसान आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत-भारती उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण का सन्देश दिया है और उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को संयत और विकसित किया है। इसमें कवित्व नहीं, एक देशभक्त के क्रान्तिकारी हृदय से निकले हुए उद्गार हैं जिनका चित्रण ऐतिहासिक सामग्री के बल पर किया गया है। अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेद-भावपूर्ण नीति तथा वर्तमान काल की विपन्नावस्था का वर्णन करके उन्होंने हमारे सामने यह समस्या रख दी है :—

गुप्त जी के काव्य-विषय

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।

इस समस्या में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल हमारे विचारों की अपेक्षा करते हैं। हम एक ही साथ तीनों कालों पर सोचते-विचारते हैं और अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसी के अनुरूप अपना पथ निश्चित करते हैं। इसी समस्या के कारण भारत-भारती का देश-व्यापी स्वागत हुआ। राष्ट्रीयता के उस प्रथम उत्थान-काल में गुप्त जी की यह

रचना भारतीय जनता के बीच जो संदेश लेकर आई उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली और यद्यपि आज हम उसके उद्बोधन से, उसकी प्रेरणा से स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुए हैं तथापि हम उसका उतना ही महत्त्व अनुभव करते हैं। वह हमारे राष्ट्रीय साहित्य की आधार-शिला है और भारत के मंगलमय भविष्य की कामना से ओत-प्रोत है। किसान भी उनकी ऐसी ही रचना है। यह काव्य-पुस्तक कृषि-प्रधान देश भारत की अधिकांश जनता के विचारों और उसकी संकटापन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है।

राष्ट्रीयता के दो पक्ष होते हैं—१. सामाजिक और २. राजनीतिक। राजनीतिक पक्ष में गुप्त जी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उद्धार की बात एक साथ सोचते हैं, पर सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण है। वह हिन्दू हैं और हिन्दुओं की परिस्थितियों से भली भाँति परिचित हैं। धार्मिक क्षेत्र में वह रामोपासक हैं, इसलिए वह अपनी उपासना की मर्यादा के अनुकूल ही हिन्दू समाज का नियंत्रण और सुधार करते हैं। अन्य मतों के प्रति वह उदार हैं। संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता से वह बहुत ऊपर उठे हुए हैं। बाल-विवाह, अछूतोद्धार तथा अन्य ऐसी कुरीतियों से हिन्दू-समाज को जो क्षति पहुँची है, उसका हल भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'हिन्दू' उनकी हिन्दू- भावनाओं से भरी हुई रचना है। जिस प्रकार वह भारत-भारती में समस्त राष्ट्र के लिए छटपटाते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार 'हिन्दू' में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सिक्ख, बौद्ध आदि विभिन्न वर्गों के उत्थान के लिए व्याकुल हैं। देखिए :—

वह साधन, वह अध्यवसाय; नहीं रहा हम में अब हाय।
इसीलिए अपना यह ह्रास; चारों ओर त्रास ही त्रास।

'हिन्दू' में हिन्दू-धर्म का पूरा चित्र है। उद्बोधन और उत्प्रेरणा

कवित्त्व फूट पड़ा है। वास्तव में यह काव्य उनके काव्य-इतिहास का विभाजक स्थल है। जयद्रथ-वध, भारत-भारती और अनघ का कवि पञ्चवटी में बिलकुल बदल गया है। उसमें भक्ति का अंकुर यहीं से फूटता है और वह अपनी सहृदयता का परिचय देने लगता है। एक दृष्टि से पञ्चवटी का और भी महत्त्व है। पूर्वकालीन महाकाव्यकारों ने लक्ष्मण को कर्तव्य परायण कठोर दास के रूप में ही चित्रित किया है। गुप्त जी ने पञ्चवटी में अपना दृष्टिकोण इससे भिन्न कर दिया है। उन्होंने लक्ष्मण को मानव-रूप में ग्रहण किया है। अतः इस काव्य-ग्रन्थ के पूर्व जहाँ उन्होंने महाभारत, पुराण तथा इतिहास के कथानकों को प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, वहाँ पञ्चवटी के कथानक में कुछ उलट-फेर कर दिया है। ऐसा एक स्थल है शूर्पणखा का रात्रि के समय लक्ष्मण से मिलने के लिए आना। अन्य कवियों ने शूर्पणखा की प्रणय-याचना के काण्ड का अभिनिवेश राम, सीता तथा लक्ष्मण के सामने दिन ही में कराया है। इससे उसकी निशाचरी संज्ञा सिद्ध नहीं होती। प्रणय का प्रस्ताव भी रात्रि में लक्ष्मण को अकेले पाकर होना चाहिए। इन सब बातों का विचार पञ्चवटी के कवि की नई कल्पना है। दूसरी बात जो पचवटी के कथानक में ध्यान देने योग्य है वह है राम-सीता और लक्ष्मण का अन्तरोल्लास। यहाँ ऐसा जान पड़ता है मानो राम विष्णु के अवतार नहीं साधारण पुरुष हैं। सीता और लक्ष्मण का हास-परिहास इसका एक उदाहरण है। पारिवारिक जीवन की झाँकी अनन्त सौंदर्य से भरी हुई है। इस अनन्त सौंदर्य में हमें न तो कवि की राष्ट्रीयता मिलती है और न गम्भीर दार्शनिकता। ऐसा जान पड़ता है कि कवि किसी चिर सुख की लालसा से जगत् के कोलाहलपूर्ण वातावरण से निकलकर जीवन की आनन्दमयी निधियाँ बटोर रहा है। प्रकृति के प्रति उसका अनुराग बढ़ गया है और अब उसके दो ही विषय रह गये हैं : काव्य और मानव-जीवन। साकेत में हमें यही बातें मुख्य रूप से मिलती हैं।

गुप्त जी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ हैं महाभारत-सम्बन्धी। इन रचनाओं में जयद्रथ-वध, वक-संहार, वन-वैभव, द्वापर और सैरंध्री आदि हैं। भाव, भाषा और काव्य की दृष्टि से यद्यपि पञ्चवटी की सी कला इनमें नहीं है तथापि अन्तरोल्लास वैसा ही है। बौद्ध-कालीन रचनाओं में यशोधरा और अनघ का मुख्य स्थान है। यशोधरा प्रबन्ध-काव्य है। इसमें भगवान् बुद्ध और यशोधरा की कथा है। अनघ पद्यबद्ध रूपक है। पलासी का युद्ध, गुरुकुल, पत्रावली, रंग में भंग आदि ऐतिहासिक कथानकों से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ हैं। पौराणिक रचनाओं में चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला और नहुप का स्थान है। इनमें से प्रथम दो रूपक हैं और शेष खण्ड काव्य हैं। इनके अतिरिक्त झंकार आदि में उनकी फुटकल कविताएँ संग्रहीत हैं। इन कविताओं से उनकी भावाभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही इन कविताओं की रचना हुई है।

क्रम-विकास की दृष्टि से हम गुप्त जी की इन समस्त रचनाओं को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. सन् १९०९ से १९२५ तक और २. सन् १९२५ से आजतक। रंग में भंग से आरंभ करके अनघ तक गुप्त जी अपनी प्रथम अवधि के भीतर आते हैं। इस अवधि में उनकी जितनी रचनाएँ हैं उनमें वर्णनात्मक काव्य है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानकों के आधार पर उन्होंने अपने राष्ट्रीय विचारों का ढाँचा खड़ा किया है और उसके द्वारा भारतीय जनता को नव सन्देश दिया है। दूसरे काल का प्रारंभ पञ्चवटी से होता है। इस काल के अन्तर्गत उनकी रचनाओं में अनूभूतियों का प्राधान्य होता गया है। कहने का तात्पर्य यह कि गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा का विकास वर्णनात्मक से भावात्मक रचनाओं की ओर हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी कथानक के सहारे ही विकसित हुई है और इसी कारण उनकी रचनाएँ अधिकांश खण्ड-काव्य अथवा महाकाव्य हैं, पर विकास की दृष्टि से उनकी प्रथम कोटि की रचनाओं में जहाँ हम

उन्हें हृदय को छूता हुआ पाते हैं वहाँ उनकी उत्तरार्द्ध रचनाओं में हम उनके हृदय का वेग पाते हैं। पूर्वार्द्ध में उनके भाव बौद्धिक-स्तर पर नहीं पहुँचे हैं, इसलिए उनमें हृदय को छूने की शक्ति तो है, हृदय को मथने और उसे स्थायी रूप देने की शक्ति नहीं है। उत्तरार्द्ध में इस अभाव की पूर्ति हो जाती है और कवि केवल कवि ही नहीं महाकवि के रूप में हमारे सामने आता है। राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से अनघ की रचना का विशेष महत्त्व है। इस गीति-नाट्य की रचना उस समय हुई थी जब महात्मा गांधी के सत्याग्रह-सम्बन्धी विचारों की पहली विजय हुई थी। इसकी गहरी छाप गुप्त जी पर पड़ी और उन्होंने अनघ के रूप में महात्मा जी का चित्र उपस्थित किया। अनघ के पूर्व उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ संकुचित था, पर अनघ में उसका विकास हो गया और वह कहने लगे :—

न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥

'अनघ' के बाद हम गुप्त जी का यही स्वर उनकी अन्य रचनाओं में पाते हैं। वह एकदेशीय नहीं, सर्वदेशीय हैं। अनघ और पञ्चवटी के बाद उन्होंने अपने कथानकों के बौद्धिक तत्त्व पर युग-वाणी का नहीं, युग-युग की वाणी का चित्र उपस्थित किया है। वह एक युग के नहीं, कई युग के, भूत, वर्तमान और भविष्य के महाकवि हो गये हैं।

गुप्त जी के काव्य-विषय की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उन्होंने मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों ही प्रकार की पर्याप्त कविताएँ लिखी हैं, पर उनका काव्य-गौरव मुक्तक कविताओं में उतना नहीं है, जितना उनके प्रबन्ध एवं खण्ड-काव्यों में है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुछ कवियों की वृत्ति कथात्मक होती है और कुछ कवियों की भावात्मक। कुछ कवियों में दोनों का चरमोत्कर्ष भी पाया जाता है। तुलसी के समान प्रतिभाशाली कवि का

गुप्त जी का गीति-काव्य

दोनों वृत्तियों पर पूर्ण अधिकार था, पर प्रायः यह देखा जाता है कि भावात्मक वृत्ति के कवि अपनी कथात्मक कृत्ति में और कथात्मक वृत्ति के कवि अपनी भावात्मक कृत्ति में समान रूप से सफल नहीं होते। तुलसी कथात्मक वृत्ति के कवि थे और सूर भावात्मक वृत्ति के। सूर को अपने गीतों में जो सफलता मिली, वह तुलसी को अपने गीतों में नहीं मिली। बात यह है कि अपने-अपने स्थान पर दोनों का कर्त्तव्य गुरुतर होते हुए भी भावात्मक कवि का कर्त्तव्य-क्षेत्र निरावलम्ब होता है और कथात्मक कवि का साधार। इस-लिए जहाँ प्रबन्ध-काव्यों में कवि-कल्पना विभिन्न आधारों पर विश्राम लेती हुई भावों के मुक्त आकाश में उड़ती हैं, वहाँ भाव-काव्यों में आधारों का अभाव रहने से उसे पूर्ण स्वावलम्बी बनकर वायु-मंडल में विहार करना पड़ता है। गुप्त जी प्रमुखतः कथात्मक वृत्ति के कवि हैं, पर जैसा कि हम कह चुके हैं उन्होंने मुक्तक गीतों की भी रचना की है। उनके मुक्तक गीतों से हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। उनके पूर्व भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न तथा श्रीधर पाठक के गीत मिलते हैं। इन गीतिकारों के गीतों में हृदय को स्पर्श करने की शक्ति तो है, हृदय को मथने की शक्ति नहीं है। गुप्त जी अपने युग के प्रथम गीतिकार हैं। उनको काव्य-कला का नवीन सन्देश तथा प्रकृति और मानव के अन्तःकरण का सहज सामञ्जस्य उनके गीतों में प्रस्फुटित हुआ है। उनके गीत दो प्रकार के हैं—१. आधुनिक शैली के और २. परम्परागत पद शैली के। आधुनिक शैली के अन्तर्गत उनके गीत दो प्रकार के हैं—१. राष्ट्रीय और २. रहस्यवादी। उनके राष्ट्रीय गीतों पर वर्तमान युग की गहरी छाप है। स्वदेश-संगीत में उनके राष्ट्रीय गीत हैं। झंकार गुप्त जी की मुक्तक और भावात्मक कविताओं का संग्रह है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ द्विवेदी-युग में प्रकाशित हो चुकी थीं। खड़ी-बोली के उस शैशव काल में भी काव्य की नवीन भावनाओं ने किस प्रकार कैसा रूप प्राप्त किया था, यह संकलन उसका एक उदाहरण है। इसमें

उस समय की काव्य-स्थिति के द्योतक शिशु-भाव भी हैं और क्रमशः विकास के अनुसार प्रौढ़ भाव भी। इसकी अधिकांश कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आ जाती हैं। गुप्त जी सगुणोपासक वैष्णव कवि हैं। इसलिए उनकी रहस्यवाद की कृत्तियों में भी सगुणोपासना का स्वर है। देखिए :—

सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं, तू न बीच में बोल।

इस प्रकार वह संसार से विरक्त होकर निर्गुण उपासना की अपेक्षा सांसारिक बंधनों में रहकर सगुण उपासना द्वारा ही अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहते हैं। यही कारण है कि वह अपनी राष्ट्रीय भावनाओं में भी क्रियाशील बने रहते हैं। स्वदेश-संगीत और झंकार के अतिरिक्त हमें उनके गीतों के दर्शन साकेत और यशोधरा में भी होते हैं। 'साकेत' में उर्मिला के गीत और 'यशोधरा' में यशोधरा के गीत हृदय के मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं। उनमें भावों का वेग अपने प्रकृत रूप में व्यक्त हुआ है। उर्मिला के गीतों में विरहिणी के क्षणिक उन्माद और शान्ति, विषाद और हर्ष का आरोह-अवरोह हुआ है। यशोधरा के गीतों में करुणा और मार्मिकता के अनूठे भाव हैं। विरह-सम्बन्धी गीतों के अतिरिक्त उनका निम्न क्रांतिकारी गीत देखिए :—

आ, जगत्प्राण उठ, जाग-जाग, धँस भीतर धधका एक आग।
इस वेणु रन्ध्र से निकल पड़े, नवजीवन का प्रज्ज्वलित राग।

गुप्त जी के गीति-काव्य का अन्तरंग व्यक्तिगत साधना पर अवलम्बित है। कोरी कल्पना के गीत वह नहीं गाते। वह अच्छी तरह गा भी नहीं सकते। उन्होंने अपने गीति-काव्य की सामग्री न तो ईश्वर-प्रेम से ली है और न विश्व-प्रेम से। देश-प्रेम अथवा हिन्दू-समाज की करुणाजनक परिस्थितियों से अनुप्राणित होने पर भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से गीतों की

रचना नहीं की है। प्रसंगानुकूल ही उन्होंने अपने गीतों की रचना की है। इसीलिए उनके गीतों में आवश्यकता से अधिक प्रसार आ गया है। इस प्रसार के कारण भाव, भाषा में, सूत की पूनी की भाँति खिंचकर कभी-कभी असंयत हो जाते हैं। इससे गीत का माधुर्य जाता रहता है। पर इस दोष के होते हुए भी उनके गीतों में नवीन आकर्षण, वियोगिनी की विरह-व्यथित वेदना का संचार, गहरी अनुभूति और भावावेश के कोमल व्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यंजना पर्याप्त है।

हम यह बता चुके हैं कि गुप्त जी प्रबन्ध-काव्यकार हैं। उनकी प्रायः समस्त रचनाएँ किसी-न किसी युग की कहानी पर आश्रित हैं।

गुप्त जी के काव्य में चरित्र-चित्रण

परन्तु प्रबन्ध-काव्य में कथा-वस्तु का आधार मिल जाना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है उस आधार का कवि-द्वारा कलात्मक ढंग से प्रयोग किये जाने में। प्रबन्ध-काव्य में कथा को काव्य के लिए आलम्बन बना देना पड़ता है और इस उद्देश्य की पूर्ति होती है चरित्र-चित्रण द्वारा। अपने प्रबन्ध-काव्य में वही कवि सफल होता है जो अपने चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी भावनाओं को आन्दोलित और अनुप्राणित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। प्रबन्ध-काव्यों में चार साधनों द्वारा मानव-चरित्र अंकित किया जाता है—१. पात्र का कार्य-व्यापार, २. उसके सम्बन्ध में दूसरों की उक्ति, ३. उसका अपना भाषण और ४. कवि की उक्ति। इस दृष्टि से जब हम गुप्त जी के चरित्र-चित्रण का मूल्यांकन करते हैं तब हम उसमें इन चारों साधनों का सम्यक् उपयोग पाते हैं। गुप्त जी के पात्र तीन प्रकार के हैं—१. देव, २. दानव और ३. मानव। देव-चरित्रों में राम और कृष्ण, दानव-चरित्रों में शूर्पणखा और मेघनाद तथा मानव-चरित्रों में लक्ष्मण, भरत, यशोधरा आदि के चित्र मिलते हैं। स्वभाव तथा कार्य-कलाप की दृष्टि से यही चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—१. उत्कृष्ट और २. निकृष्ट। गुप्त जी ने दोनों का चरित्र-चित्रण बड़ी

सुन्दरता से किया है। मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम के भक्त होने के कारण उनकी मर्य्यादा-भावना ने सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियंत्रण रखा है। उन्होंने पात्र-विशेष की वह व्यक्तिगत वासना और उसकी स्वार्थमयी वृत्ति को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि अमर्य्यादित होकर कथा वस्तु की गम्भीरता को नष्ट कर दे। दूसरी बात, जो उनके चरित्र पर प्रकाश डालती है, यह है कि उन्होंने राम के ईश्वरत्व को तो स्वीकार किया है, पर उनके पारिवारिक व्यक्तियों को साधारण मनुष्य के रूप में ही अंकित किया है। 'साकेत' के जिन पात्रों में हमें सद्गुणों की प्रचुरता दिखाई देती है वे भी इसी पार्थिव जगत् के हमारे-जैसे प्राणी हैं और उनके लिए सुख-दुख, हर्ष-शोक, निन्दा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, विरह-मिलन का वही मूल्य है जो हमारे लिए है। गुप्त जी के पात्रों के सम्बन्ध में तीसरी उल्लेखनीय बात है उन पर सामयिक स्थिति और समस्याओं का प्रभाव। अनघ के पश्चात् उन्होंने जितने पात्रों को अपने प्रबन्ध-काव्यों में स्थान दिया है उन सब पर किसी-न-किसी रूप में समय का प्रभाव पड़ा है। राम-वन-गमन के समय अयोध्यावासियों का विनम्र सत्याग्रह और माता सीता का कोल-भील-बालाओं को चर्खा चलाने और कातने-बुनने का उपदेश देना किसी सीमा तक स्वाभाविक होते हुए भी आधुनिकता के प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अनघ में हमें मघ के रूप में विश्व-वन्द्य बापू का दिव्य दर्शन प्राप्त होता है। नव-जागरण के इस युग में हमारी देवियों ने जागकर लोक-सेवा के जिस पावन आदर्श में अपने सुख सुहाग को एक कर दिया है उसकी झलक हमें मघ की भावी पत्नी सुरभि में मिलती है। राज-कोप का भाजन बनकर जब मघ सुरभि को सुखी रहने का आशीर्वाद देता है तब सुरभि कहती है :—

विश्व वेदना विकल करे मुझको सदा,
रक्खे सजग-सजीव आर्ति या आपदा।

मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो,
जीवन ज्वलित-कृशानु-समान पुनीत हो।

नारी-हृदय से प्रसूत इन पुनीत भावों में वर्तमान युग बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। गुप्त जी का यही स्वर उनके कई प्रबन्ध-काव्यों में अंकित हुआ है। प्राचीन चरित्रों को वर्तमान युग के निकट लाने में उनका एक उद्देश्य है। अपने प्राचीन आख्यानों-द्वारा वह अपने काव्यों में जिन चरित्रों की अवतारणा करते हैं उनका सामञ्जस्य वह वर्तमान जीवन के अनुरूप इसलिए करते हैं कि हम उन्हें पौराणिक युगों की ही गाथा न मानकर आज भी ग्रहण कर सकें। यही कारण है कि उनके काव्यगत प्राचीन आख्यानों में हमें वर्तमान युग की ताजी दैशिक और सामाजिक समस्याएँ देखने को मिल जाती हैं।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की चौथी विशेषता है उनकी मौलिकता। दैशिक और सामाजिक जीवन की भावनाओं का प्राचीन युग के वातावरण में साँस लेनेवाले पात्रों की भावधारा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने कथानकों में जो उलट-फेर कर दिया है उससे उनके पात्रों में नवीनता आ गई है और साथ ही उन मूक पात्रों को वाणी मिल गई है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं। इस कथन से हमारा तात्पर्य उर्मिला और यशोधरा से है। उर्मिला और यशोधरा गुप्त जी के हाथों में पड़कर माता सीता की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आई हैं। इसी प्रकार चिरलाञ्छिता कैकेयी से साकेत की कैकेयी की तुलना हो सकती है। साकेत की कैकेयी में जो आत्मसम्मान, आत्म-गौरव और स्वाभिमान है वह रामचरितमानस की कैकेयी में हमें नहीं मिलता। कैकेयी को साकेतकार ने मानवी सहानुभूति ही नहीं प्रदान की है, अपितु उस राजरानी का गौरवपूर्ण मस्तक कहीं भी अवनत नहीं होने दिया है; न अयोध्या के राजप्रासाद में, न चित्रकूट की भरी सभा में। जब अपराध करने में ही उसका मस्तक नीचे नहीं झुका तब उसके

प्रायश्चित्त में ही वह क्यों नीचे झुकेगा। इस प्रकार साकेतकार ने कैकेयी के राजरानीत्व की पूरी रक्षा की है।

गुप्त जी के पात्रों की पाँचवीं विशेषता है उनका दुःख में हँसते रहना। अपने पात्रों में इस प्रवृत्ति का आरोप करने के कारण उन्हें अपने आख्यानों को सजाने-सँवारने और जीवन का उल्लासमय चित्र प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की उद्भावना से उनके चरित्र-चित्रण में सजीवता आ गई हैं। वर्तमान युग की पीड़ित मानवता के लिए इसमें एक सन्देश भी है। इसी सन्देश के बल पर उनके सभी पात्र क्रियाशील और आशावादी हैं।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की छठी विशेपता है उसकी मनोवैज्ञानिकता। वह व्यावहारिक मनोविज्ञान के शास्त्री हैं। यद्यपि विकासहीन पात्रों में चरित्र-चित्रण की गुंजाइश नहीं के समान होती है, तथापि उप-परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उनसे भाव-शबलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है। अपने इसी चरित्राध्ययन के बल पर उन्होंने मानव हृदय के यथार्थ अंतर्द्वन्द्व को चित्रित किया है। उनके कथोपकथन भी इसीलिए सजीव, सुव्यवस्थित और आकर्षक हैं। कथोपकथन की समीचीनता के लिए उन्होंने वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्द-वृत्ति तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। सारांश यह कि गुप्त जी कथा और चरित्र की प्राचीन रूप-रेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात् कुशल कलाकार की भाँति चरित्र-चित्रण के उन समस्त सुलभ उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने में समर्थ रहे हैं, जिनकी उन्हें अवसरानुकूल आवश्यकता पड़ी है। इसीलिए उनके चरित्र-चित्रण में हम मानव-हृदय की उल्लासमयी भावनाओं और उदात्त प्रवृत्तियों का परिचय पाते हैं और उन पर मुग्ध हो जाते हैं। गुप्त जी चरित्र-चित्रण के श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी दृष्टि पैनी है और मानव-स्वभाव-सम्बन्धी उनका अध्ययन

अत्यन्त गम्भीर है। इसलिए चरित्र की बारीकियों का महत्त्व वह भली-भाँति समझते है और बड़ी सावधानी से उनका चित्रण करते है। वह अपने चरित्र-चित्रण में अवसर, पात्र और देश-काल का बराबर ध्यान रखते है। चरित्र-चित्रण में उनकी सफलता का यही रहस्य है।

गुप्त जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण

गुप्त जी के प्रबन्ध-काव्यों में मानव-प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ प्रकृति का चित्रण भी मिलता है; पर उनके प्रकृति-चित्रण में वह बात नहीं आने पाई है जो उनके मानव चरित्र-चित्रण में देखने को मिलती है। उनका प्रकृति के प्रति अधिक अनुराग नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि एक दर्शक के रूप में कवि-परम्परा पालन करने के लिए उन्होंने प्रकृति का चित्रण किया है। पञ्चवटी में कुछ स्थल अच्छे बन पड़े है, पर सर्वत्र वही सफलता नहीं मिली है। गुप्त जी के प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में एक बात अवश्य है और वह है प्रकृति का उल्लासपूर्ण वर्णन। उनकी प्रकृति हँसती हुई, सर्वदा प्रफुल्ल, आनन्दमग्ना है। उनके काव्यों में सर्वत्र प्रकृति का यही रूप मिलेगा। उनके पूर्वकाल के काव्यो में प्रकृति-चित्रण का सर्वथा अभाव है। अनघ के पश्चात् उनके काव्य-विकास मे जो मोड़ आया, उसने उन्हे प्रकृति-चित्रण की ओर भी उन्मुख किया। इसलिए पञ्चवटी से आजतक की रचनाओं में हम उनका प्रकृति-प्रेम जीवित पाते हैं। उन्होंने अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में प्रकृति का चित्रण निम्न प्रणालियों के अनुसार किया है :—

१. चित्रात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार कवि प्रकृति के बाह्य रूप का विस्तृत विवरण के साथ अंकन करते है। इस कार्य में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति बहुत सहायक होती है। इस प्रकार का एक चित्र देखिए :—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।

यहाँ प्रकृति ने कवि के लिए एक चित्रपटी बना दी है और कथानक के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी है। गुप्त जी के काव्य में ऐसे दृश्य-चित्रण बहुत हैं। ऐसे दृश्य-चित्रों को सुन्दर और सुष्ठु बनाने के लिए और उन्हें गतियुक्त कर देने के लिए उनमें मानवीय भावनाओं का भी आरोप कर दिया जाता है। इसलिए प्रकृति मानवीय व्यापारों से युक्त, प्रमोद एवं आनन्द में विभोर और स्निग्ध तथा गतियुक्त उपस्थित होती है। उसमें कोई चेतना नहीं होती; आकांक्षा नहीं होती; मानवी क्रियाओं और व्यापारों से युक्त होने पर भी वह स्थिर है। उसका उद्देश्य है आगे की कथा की भूमिका प्रस्तुत करना। इस दृष्टि से गुप्त जी अपनी शैली में सफल हैं।

२. सम्वेदनात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत कवि प्रकृति का विवरण के साथ वर्णन नहीं करते। वह अधिकतर प्रकृति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत-मात्र करते हैं। उनके प्रकृति-सम्बन्धी उद्गार सदैव व्यक्तिगत होते हैं। उनकी भावुकता ही मस्तिष्क और हृदय को अनुप्राणित करती है। सम्वेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के नाना रूपों को अपने रंग में रँग देती है और भावावेश में कवि को प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत गुप्त जी की प्रकृति का एक चित्र देखिए :—

> पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर, त्यागे
> मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।

प्रकृति के ऐसे सम्वेदनात्मक चित्र पञ्चवटी, यशोधरा और साकेत में बहुत मिलते हैं। इन का अंकन वृत्ति और प्रसंग के अनुरूप ही हुआ है। पञ्चवटी में राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की शान्त धारा में प्रकृति का प्रतिबिम्ब भी शान्त और सुन्दर है। इस प्रकार ऐसे चित्रों में प्रकृति और पुरुष के बीच सामञ्जस्य का भाव है। प्रकृति पुरुष पर रीझती

है और पुरुष प्रकृति पर। सीता पौधों में पानी देती है और पौधे उस पर पुष्प-वर्षा करते हैं। प्रकृति और पुरुष की यह एकात्मता कवि की सहृदयता की परिचायक है।

३. अलंकारात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार कवि उपमा और रूपक का सहारा लेकर प्रकृति के चित्र उतारता है। इन उपमाओं की योजना प्रभाव-साम्य के आधार पर होती है। अतः इनसे कथानक के प्रसंगों का प्रभाव बढ़ जाता है। गुप्त जी का अलंकारात्मक प्रकृति-चित्रण इन पंक्तियों में देखिए:—

रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते थे।

इन अंतिम पंक्तियों में शरीर और आभूषणों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी एकान्वितमय सौंदर्य को हृदयंगम कराने के लिए प्रकृति का एक सुन्दर दृश्य उपस्थित कर दिया गया है। इस से वस्तु-स्थिति का परिमार्जन होकर प्रकृति के सुन्दर उदाहरण के साथ प्रभाव बढ़ जाता है और वह मानव-मस्तिष्क और हृदय पर उसका चित्र स्थायी कर देता है। ऐसे वर्णन गुप्त जी की रचनाओं में बहुत मिलते हैं। इनमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली है।

४. उपदेशात्मक प्रणाली—प्रकृति-चित्रण में कवि इस प्रणाली का उपयोग उस समय करते हैं जब उन्हें प्रकृति द्वारा कोई शिक्षा देनी अभीष्ट होती है। अतः प्रकृति उपदेशक के रूप में हमारे सामने आती है। उसके इस रूप में विशेष आकर्षण नहीं होता। गुप्त जी ने इस प्रणाली का भी प्रयोग किया है। अन्योक्ति के रूप में 'क्षार पारावार' का चित्र इन पंक्तियों में देखिए:—

छोड़ मर्यादा न अपनी वीर धीरज धार,
क्षुब्ध पारावार मेरे क्षार, पारा वार।

गुप्त जी अँगरेज़ी कवि वर्ड्‌स वर्थ के समान प्रकृति के अनन्य उपासक नहीं हैं। प्रकृति-चित्रण में उन्हें अंतस् से प्रेरणा नहीं मिली है। इसलिए उन्होंने प्रसाद, पंत और निराला आदि की भाँति स्वतंत्र रूप से प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत नहीं की हैं। वह इतिवृत्तात्मक है। घटना-प्रसंगों के निर्वाह और उनकी उद्देश्यपूर्ति के लिए जब जैसे प्राकृतिक चित्रों की आवश्यकता पड़ी है तब तैसे चित्र उन्होंने उतारे है और सफलतापूर्वक उतारे हैं। उनके प्राकृति-चित्रण में स्वाभाविक कोमलता और उदारता है। कोमलता उनकी भारतीय प्रवृत्ति है। इसीलिए प्रकृति में उसी का विशेष प्रवाह है। साकेत में परम्परापालन के लिए उन्होंने षट् ऋतुओं का भी वर्णन किया है।

गुप्त जी के काव्य में रूप-चित्रण

गुप्त जी का रूप-वर्णन अत्यन्त सुन्दर होता है। प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुसार नख-शिख का वर्णन न करके उन्होंने शरीर-व्यापारों के भावानुकूल बड़े सुन्दर और सजीव चित्र उतारे हैं। ऐसे चित्रों की अवतारणा में कवि ने अलंकारों का इतना प्रयोग नहीं किया, जितना वस्तु व्यंजना का। वस्तु-व्यंजना की दृष्टि से भी उन चित्रों में कोई अलौकिक ऊहात्मक कल्पना नहीं, केवल अभिव्यंजक विलक्षण शब्दों का चयन विशेष है। शब्दों की सहायता से कितना और कितनी सरलतापूर्वक व्यंजना का काम लिया गया है, इन पंक्तियों में देखिए :—

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर बायें देख, अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई, वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर।

ऐसे गतिमय चित्रों के अंकन में कवि तभी सफल हो सकता है जब पैनी, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के साथ उसको अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो। गुप्त जी इन गुणों से परिपूर्ण हैं। वे अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति से अपने रूप-चित्रण में एक

ही साथ बहुत सी गतियों की अवतारणा कर देते हैं। उनके रूप चित्र एक ही भाव के व्यंजक नहीं, कई भावों के व्यंजक होते हैं। एक चित्र में अनेक चित्रों की आयोजना कर देना उनके काव्य-कला की विशेषता है। ऐसे चित्र पञ्चवटी, साकेत, यशोधरा और सिद्धराज में बहुत मिलते हैं।

मनुष्य की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में भी गुप्त जी की तूलिका ने अपना कौशल दिखाया है। विचारमग्न होने पर मनुष्य एक विशेष प्रकार की मुद्रा बना लेता है। अतः उसके अन्तस् के भीतर उठते हुए भावों का पता लगाने के लिए इन मुद्राओं का अध्ययन और निरीक्षण आवश्यक है। कुशल कवि इन मुद्राओं का अंकन भावों के स्पष्टीकरण के लिए ही करता है। साकेत में इस प्रकार के उदाहरण बहुत मिलते हैं। देखिए :—

झुकाकर सिर प्रथम, फिर टक लगाकर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

× × ×

पकड़कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका बदन उस ओर करके,
कहा गत—धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख तू क्या आज करने।

अब तक हमने गुप्त जी के दो प्रकार के चित्र प्रस्तुत किये हैं—गतिमय और स्थिर। गतिमय चित्रों के अंकन में स्थान और काल का ध्यान रखना आवश्यक होता है, पर स्थिर चित्रों में केवल स्थान का। गतिमय चित्रों की अवतारणा में कवि को भाव, मुद्रा, गति आदि को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए कुशल कवि ही गतिमय चित्र उतार सकते हैं। गुप्त जी इस कला में प्रवीण हैं।

गुप्त-काव्य में राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियाँ

हम बता चुके हैं कि गुप्त जी अपने समाज और राष्ट्र के कवि हैं। समाज और राष्ट्र का कल्याण ही उनके काव्य का उद्देश्य है। इस दृष्टि से वह एक ही साथ हमारे कवि और नेता हैं। एक नेता अपने ओजस्वी भाषण से जितना प्राण जनता में फूँक सकता है, गुप्त जी के काव्य ने उससे कहीं अधिक काम किया है। इसीलिए हम उन्हें आधुनिक युग का प्रतिनिधि कवि कहते हैं। उनकी समस्त कृत्तियों पर वर्तमान युग की प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाप है। वह आजकल के समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा विशेषताओं से पूर्णतया परिचित और प्रभावित हैं। 'रंग में भंग' से उनकी आजतक की समस्त रचनाओं का ध्येय उनके जीवन के ध्येय की भाँति, अपने समाज, राष्ट्र और जगत् का कल्याण करना है। वह मानवतावादी हैं। मानव के कल्याण में ही उन्होंने अपने समाज के, अपने राष्ट्र के, कल्याण की उद्भावना की है। वह एक ओर रामोपासक हैं, तो दूसरी ओर बौद्ध, जैन, शैव, ईसाई, इस्लाम आदि विश्वधर्मों के प्रति अत्यन्त उदार; वह एक ओर हिन्दू हैं, तो दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के समर्थक और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति क्षमाशील; वह एक ओर कट्टर सनातनी हैं, तो दूसरी ओर अछूतों को उठाने और विधवाओं के साथ आँसू बहाने में समान रूप से संलग्न। गुप्त जी आधुनिक युग की तीन बातों से विशेष प्रभावित हैं। अतः उनके साहित्य में हम निम्न तीन बातें पाते हैं :—

१. सामाजिक प्रवृत्तियाँ—गुप्त जी हिन्दू हैं, रामोपासक हैं। अपनी संस्कृति और सभ्यता से उन्हें प्रेम है। आर्य-संस्कृति के वह अनन्य उपासक हैं। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने चार रूपों में किया है—१. राम-संस्कृति, २. कृष्ण-संस्कृति, ३. बुद्ध-संस्कृति और ४. राजपूत-संस्कृति यही संस्कृतियाँ उनकी वर्तमान सामाजिक समस्याओं की आधार-शिलाएँ हैं। राम-संस्कृति में मर्यादावाद, कृष्ण-संस्कृति में कर्मवाद, बुद्ध-संस्कृति

से अहिंसावाद और राजपूत-संस्कृति से राष्ट्रवाद। इन्हीं चारों वादो
भित्ति पर उनके वर्तमान, समाजवाद का प्रासाद खड़ा है। वह अ
समाज में छोटे-बड़े का, ऊँच-नीच का भेद राम-संस्कृति की मर्यादा
भीतर ही स्वीकार करते है। अछूतोद्धार के प्रति उनकी पूरी सहानुभू
है। वह कहते हैं :—

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

हिन्दू-समाज की आधुनिक समस्याओं को लेकर उन्होंने 'हिन्दू' की रचना की है। इसमें देवता की स्तुति, स्त्रियों के प्रति कर्त्तव्य, व्रतोत्सव, विधवाओं की करुण गाथा, ग्राम-सुधार-योजना, जाति-बहिष्कार, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य आदि पर उनके गम्भीर और सुव्यवस्थित विचार हैं। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए वह कहते हैं :—

तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे किन्तु विरक्त,
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र?
आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास।

सामाजिक भावना से भरे हुए ऐसे विचार गुप्त जी की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। वह अपने इन विचारों में जहाँ नवीन हैं, वहाँ प्राचीन भी है। वह प्रत्येक योजना को, प्रत्येक सुधार को, हिन्दू-मर्य्यादा के भीतर ही स्वीकार करते है और चाहते है कि उनकी संस्कृति और उनकी सभ्यता विश्व की संस्कृति और सभ्यता का नेतृत्व करे।

२. राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ—गुप्त जी की समस्त रचनाएँ राष्ट्रीय विचारों से ओत प्रोत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में ही व्यतीत होता है। अपने राष्ट्रीय क्षेत्र में वह गांधी जी के सार्वभौम सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित

हैं। 'भारत-भारती' उनकी प्रथम राष्ट्रीय रचना है। उनकी राष्ट्रीयता आर्य-संस्कृति पर अवलम्बित है। संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता के वह पोषक नहीं हैं। वह उसी राष्ट्रीयता के पोषक हैं जो अपने अपूर्व गौरव से पुष्ट हो। देखिए :—

जय भारत भूति भवानी।
अमरों ने भी तेरी महिमा बारम्बार बखानी।

इस दृष्टि से राम, कृष्ण, बुद्ध सभी राष्ट्र-प्रेमी हैं। सब अवसरानुकूल उनके काव्य में अपनी जन्म-भूमि के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम का परिचय देते हैं। कर्तव्य बुद्धि का यह हाल है कि :—

न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।

यही न्याय, यही कर्तव्य-बुद्धि हमें घरेलू झगड़ों से बचा सकती है। 'वक-संहार' में कौरवों के अत्याचारों से दुखी होकर प्रतिहिंसा की भावना से जब भीम उत्तेजित हो जाते हैं तब पाण्डव-पति के इन शब्दों पर विचार कीजिए :—

भीम! शरणा गत का अपमान!
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान?

× × ×

कौरवों ने जो अत्याचार किये हैं हम पर बारंबार।
करेंगे उनका हमीं विचार, नहीं औरों पर इसका भार।
क्रूर कौरव अन्यायी हैं, हमारे फिर भी भाई हैं।

× × ×

जहाँ तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।

किन्तु यदि करे दूसरा जाँच, गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गवाँर, करें जो आकर यह व्यवहार।

पाण्डव-पति के इन शब्दों पर आधुनिक युग की राष्ट्रीय समस्याओं की स्पष्ट छाप है। इस कथन के आलोक में हम अपनी बहुत-सी राष्ट्रीय समस्याएँ हल कर सकते हैं। 'अनघ' में मघ का चरित्र बापू का चरित्र है। इसी प्रकार 'साकेत' में राम-वन-गमन के अवसर पर अयोध्यावासियों का शान्तिपूर्ण सत्याग्रह और सीता का भील-कुमारियों को चर्खा चलाने का उपदेश आधुनिक युग की विचार-धारा का स्पष्ट प्रमाण है। 'बक-संहार' में प्रजातंत्र का रूप देखिए :—

राजा प्रजा का पात्र है, वह एक प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजा पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह सब की सुने।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

गुप्त जी के इस प्रकार के राष्ट्रीय विचार उनकी प्रत्येक रचना में बिखरे पड़े हैं। ये विचार प्राचीन होते हुए भी नवीन और नवीन होते हुए भी प्राचीन हैं। गुप्त जी ने प्राचीन आदर्शों का ही सहारा लेकर अपने नवीन आदर्शों की पुष्टि की है।

३. साहित्यिक प्रवृत्तियाँ—सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ साथ गुप्त जी ने साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों को भी अपनाया है। उनकी 'झंकार' नामक पुस्तक उनकी नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रमाण है। रहस्यवाद और छायावाद से भी वह प्रभावित हैं और आजकल उनकी प्रतिभा का झुकाव पूर्णतयः साहित्य की नवीन शैलियों को अपनाने की ओर उन्मुख है। उनके मस्तिष्क और हृदय का द्वार प्रत्येक नयी धारा के लिए खुला रहता है और वह उसे अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल अपनाते हैं। वह अपनी

साहित्य-साधना में संयमी हैं। नवीनता को अपनाने की झोंक में वह बह नहीं जाते। वह सोचते हैं, विचार करते हैं और तब अपनी 'संस्कृति की चलनी से चालकर उसे अपने उपयुक्त बनाते हैं। उनकी कृतियों में नवीन कल्पनाएँ हैं, नवीन भाव हैं, नवीन आदर्श हैं, नवीन छन्द और शैलियाँ हैं, पर उन पर उनके व्यक्तित्व की, उनके संस्कृति और सभ्यता की स्पष्ट छाप अंकित है। साम्यवादी वह हैं, मर्यादावादी वह हैं, मानवतावादी वह हैं, उपयोगितावादी वह हैं, रहस्यवादी वह हैं और छायावादी वह हैं; पर उनके प्रत्येक वाद पर उनका अधिकार है, वह उनकी सम्पत्ति है। अपनी प्रतिभा से उन्होंने प्रत्येक वाद को पचा लिया है, अपना बना लिया है और वह अपने साहित्य के, अपने युग के प्रतिनिधि बने हुए हैं।

यहाँ तक हमने गुप्त जी के भाव-पक्ष पर विचार किया है। अब हम उनके कला-पक्ष पर विचार करेंगे। पहले उनकी अलंकार-योजना को लीजिए। अलंकार दो प्रकार के होते हैं—१. शब्दालङ्कार और २. अर्थालङ्कार। शब्दालङ्कार भाषा का गौरव बढ़ाने में और अर्थालङ्कार अर्थ का, भाव का गौरव बढ़ाने में सहायक होते हैं। गुप्त जी ने इन दोनों अलङ्कारों का बड़ी सुन्दरता से प्रयोग किया है। जहाँ उन्होंने अपनी भाषा को सजाने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है वहाँ अलंकार प्रधान हो गये हैं और भाव गौण। इससे उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं बाधा पड़ी है। ऐसे स्थानों पर अलंकारों की स्वाभाविकता नष्ट हो गई है, उनमें कृत्रिमता आ गई है। गुप्त जी अनुप्रास-प्रिय भी हैं। छेका और वृत्यानुप्रास का प्रयोग उन्होंने बड़े सफलतापूर्वक किया है। देखिए :—

गुप्त जी की अलंकार-योजना

किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी,
है तुम्हारे पाद-पद्मों पर पड़ी।

अर्थालंकार की दृष्टि से गुप्त जी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, सन्देह, विषम विशेषोक्ति अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उन्हें अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ी है। ऐसे स्थलों पर उनके भाव इतने स्पष्ट, तीव्र और कोमल हो गये हैं कि उनके स्वाभाविक प्रवाह में अलंकारों के होने पर भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई है। पर जहाँ उनकी अनूभूति में शिथिलता आ गई है वहाँ उन्होंने अपनी भाषा द्वारा भावाभिव्यक्ति को गति प्रदान की है। वर्तमान युग भाव-चित्रण का युग है, अलंकार-प्रदर्शन का नहीं। गुप्त जी ने दोनों का सामंजस्य अपने काव्य में किया है। उनके काव्य में कहीं अलंकार हैं और कहीं नहीं भी है। जहाँ हैं, वहाँ सर्वत्र कृत्रिमता और प्रयास ही नहीं, स्वाभाविकता भी है। कहीं-कहीं कल्पना की नूतनता अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। सारांश यह कि गुप्त जी अपनी अलंकार योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं। उनकी अलंकार-योजना में अनुप्रास की रुनझुन, श्लेश का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव कहीं भी मिल सकता है।

गुप्त-साहित्य में रसों का बड़ा सुन्दर आयोजन हुआ है। उसमें श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र, वीभत्स, हास्य, शान्त, वात्सल्य आदि मुख्य हैं। श्रृंगार के—संयोग और वियोग—दोनों पक्षों का वर्णन गुप्त जी ने किया है और दोनों में उन्हें पूर्ण रूप से सफलता मिली है। साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी आदि रचनाओं में श्रृंगार करुण, शान्त, वात्सल्य तथा वीर रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। रंग में भंग, जयद्रथ-वध, वन-वैभव आदि वीर-रसपूर्ण रचनाएँ हैं। संयोग श्रृंगार के चित्र पञ्चवटी और साकेत में मिलते हैं। साकेत के अष्टम सर्ग के आरम्भ में राम-सीता के वन्य जीवन के संयोग-पक्ष का एक दृश्य दिखाया गया है जिसमें विनोदपूर्ण एकान्त वार्तालाप दोनों को रसमय कर देता है। गुप्त जी मर्यादावादी हैं, अतः राम और

गुप्त जी की रस-योजना

सीता के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्यत्र भी प्रेम-चर्चा करते समय उन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेम-वर्णन में उन्होंने स्वतंत्रता से अवश्य काम लिया है। लक्ष्मण 'साकेत' के नायक हैं और उर्मिला उनकी नायिका। अपने इन रूपों में प्रतिष्ठित होने के कारण ही दोनों अपने प्रेम-व्यापारों में अपेक्षाकृत स्वतंत्र हैं। प्रगाढ़ परिरंभण और तीक्ष्ण अपांगों से दोनों अपने उल्लसित और आवेगपूर्ण प्रेम का परिचय देते और जी भरकर दाम्पत्य सुख लूटते हैं।

वियोग शृंगार का वर्णन 'साकेत' और 'यशोधरा' में अत्यन्त उत्कृष्ट है। गुप्त जी की काव्यात्मा शृंगार के इस पक्ष के अंकन में इतनी लीन हो गई है कि उसमें मानव-हृदय की सारी कोमलता और सरसता उँडेल दी है। उर्मिला और यशोधरा विरह की मूर्तियाँ हैं। विरह ने उनके चरित्र को, उनकी भावनाओं और कल्पनाओं को बहुत ऊँचा उठाया है। वह है भी ऐसा ही! वह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वियोग-वेदना की अग्नि में तपकर प्रेम की मलिनता गल जाती है और फिर वह अपने शुद्ध रूप में शेष रह जाता है। विरह में मिलन से अधिक गांभीर्य और स्थिरता होती है और प्रतीक्षा अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। कवि-समाज इसीलिए उसे अपनाता है। जो कवि विरह की टीस का जितना अधिक अनुभव किये रहता है वह कवि उसके वर्णन में उतना ही अधिक सफल होता है। हमारे साहित्य में जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, हरिऔध आदि विरह के कुशल गायक हो गये हैं। इन्हीं कवियों की सूची में गुप्त जी को भी स्थान मिला है। अतः वियोग-शृंगार-वर्णन मर्यादानुकूल है। अपने वर्णन को प्रभाव-शाली और स्थायी बनाने के लिए, वह पहले भूमिका बनाते हैं, फिर विरह का चित्रण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टि से गुप्त जी अपने वियोग-वर्णन में सफल हैं। उनके वियोग-वर्णन में [illegible] है, [illegible] है। [illegible] होने के कारण

उसमें तन्मयता भी आ गई है। उन्होंने वियुक्त प्रेम की विविध दशाओं का ऐसा मार्मिक उद्घाटन किया है कि मानव-हृदय उसमें शराबोर हो जाता है। उन्होंने प्रेम की वियोगावस्था में स्थित नारी की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, संलाप, उन्माद, जड़ता व्याधि और मृत्यु का जो सुन्दर चित्र उतारा है वह स्वाभाविक तो है ही, काव्य-कला की दृष्टि से पूर्ण है।

गुप्त जी ने करुण रस का विधान भी 'यशोधरा' और 'साकेत' में किया है। साकेत में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति करुण-रस के स्थल हैं। इसका स्थायी भाव है शोक। गुप्त जी ने वियोग-शृङ्गार की भाँति इस रस को भी महत्त्व दिया है और उसका अच्छा चित्रण किया है। माता के रूप में यशोधरा के हृदय से जो भाव प्रसूत हुए हैं उनसे वात्सल्य छलका पड़ता है। वीर-रस तो उनकी ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय रचनाओं का प्राण है, 'रंग में भंग' से पञ्चवटी तक वीर-रस और पञ्चवटी से द्वापर तक शृंगार-रस का विधान उनकी रचनाओं में है। रौद्र, वीभत्स आदि अप्रधान रूप में है। वृद्धावस्था के प्रभाव से अब गुप्त जी शान्त-रस की ओर झुके हैं। विकास की दृष्टि से यही स्वाभाविक है।

गुप्त जी ने जितने प्रकार के छोटे-बड़े छन्द लिखे हैं, खड़ी-बोली की वर्तमान कविता में कदाचित् उतने किसी ने भी नहीं लिखे। उनका

गुप्त जी की छन्द-योजना

पिंगल-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। इसके साथ ही उनकी विशेषता है अन्त्यानुप्रासों पर उनका सुन्दर अधिकार। परन्तु जहाँ वह अपनी अधिकांश पंक्तियों में बड़े स्वच्छ अन्त्यानुप्रासों की सृष्टि करते हैं, वहाँ तुकों की अति-सी भी कर देते हैं। तुक मिलाने में वह अद्वितीय हैं। उनके छन्द तीन प्रकार के हैं—१. तुकान्त, २. अतुकान्त और ३. गीति। वह अपने इन तीनों प्रकार की छन्द-योजना में सफल हैं।

विषय और प्रसंग के अनुसार उनकी छन्द-योजना उनके पिंगल-ज्ञान की परिचायक है। काव्य-साहित्य की दृष्टि से उनकी छन्द-योजना के तीन रूप हैं—१. महाकाव्य में छन्द-योजना, २. खंड-काव्य में छन्द-योजना और गीति-काव्य में छन्द-योजना। 'साकेत' उनका महाकाव्य है। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार एक सर्ग में एक ही छन्द रखने और अन्त में छन्द-परिवर्तन कर देने का आदेश दिया गया है। गुप्त जी ने इस नियम का पालन किया है। दो सर्गों को छोड़कर 'साकेत' का प्रत्येक सर्ग एक ही छन्द में लिखा गया है और उसके अन्त में छन्द बदल गया है। अन्त में कहीं दो और कहीं दो से अधिक भिन्न छन्द मिलते हैं। ये सभी छन्द सर्ग के समाप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इनसे एक उपाख्यान का अन्त होता है और दूसरे का संकेत मिलता है। दूसरी बात जो उनके महाकाव्य की छन्द-योजना के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है, वह है अनेक छन्दों का सफल प्रयोग। उन्होंने पीयूष-वर्षण छन्द से 'साकेत' का आरंभ किया है। शृंगार का यह सुन्दर छन्द है। इसके अतिरिक्त पदपादाकुलक उपभेदों सहित, आर्या, गीति, आर्यागीति, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी राधिका, त्रैलोक्य आदि सुन्दर संस्कृत छन्द और दोहा, घनाक्षरी, सवैया, रोला, छप्पय आदि भी इन्होंने प्रयुक्त किये हैं। विरह-कोमल भावनाओं के लिए गीतों का प्रयोग हुआ है। इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना उतना कठिन नहीं है जितना कि उनको प्रसंग के अनुसार प्रयोग करना। उनके छन्द [illegible] प्रसंगानुसार हैं और उपयुक्त हैं। उनमें न तो यति-भंग है और न गति-भंग। भाव में स्वच्छन्द प्रवाह है। उनके छन्द कविता के [illegible] के रूप में आते हैं।

खण्ड-काव्यों में उनके छन्दों का [illegible] है। प्रत्येक खण्ड-काव्य एक ही [illegible] में लिखा गया है। '[illegible]' में उनके गीतों [illegible] है। [illegible] देखा है कि उनकी छन्द-योजना, [illegible] और [illegible]

प्रसंगानुकूल है। पर विभिन्न छन्दों के सफल प्रयोक्ता होने पर भी उनके छन्द-योजना में निम्न दोष हैं :—

१. उनके छोटे-छोटे छन्दों में करुण-रस का परिपाक स्वाभाविक रीति से नहीं हो पाता। ऐसे छन्द कथा की गति में भी बाधक हुए है। अपनी चपलता प्रदर्शित करते हुए वे कभी आगे बढ़ जाते हैं और कभी पीछे रह जाते है। भाव गांभीर्य वहन करने में भी वह असमर्थ-से है।

२. 'साकेत' के नवम सर्ग में विरहिणी उर्मिला की मानसिक दृष्टि से छन्द-परिवर्तन उचित हो सकता है, पर महाकाव्य की परम्परा की दृष्टि से वह उचित नहीं हैं। छन्द-परिर्वतन से कथा-प्रवाह में बाधा पडी है और साकेत विभिन्न छन्दों का संग्रह-सा प्रतीत होने लगा है।

३. गुप्त जी छन्दों के ज्ञाता तो हैं, पर उनकी कला से वह अधिक परिचित नहीं हैं। छन्दों की एक-स्वरता को दूर करने के लिए उन्होंने दूसरा छन्द रख दिया है, पर पन्त की भाँति उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। इसीलिए उनकी छन्द-योजना में नवीनता कम, प्राचीनता अधिक है।

गुप्त जी के काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। हम यह बता चुके हैं कि गुप्त जी काव्य-क्षेत्र में १. प्रबन्धकार, २. गीतिकार और ३. नाटककार है। अतः हम उनकी शैली भी इन्हीं रूपों में पाते हैं—१. प्रबन्ध-शैली, २. गीति-शैली और ३. नाटक-शैली। प्रबन्ध-काव्य में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है। गीति-तत्त्व में कोमल भावना और उद्‌गीत का और नाटक-तत्त्व में परिस्थिति का।

गुप्त जी की शैली

पर वास्तव में इस प्रकार का वर्गीकरण अधिक सहायक नहीं होता। बात यह है कि कोई कवि इस प्रकार की सीमाएँ बाँधकर नहीं लिखने बैठता। गुप्त जी ने अपनी प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत शेप दोनों शैलियों को अपनाया है; अतः हम उनकी रचना-शैली के भाव, भापा तथा कथा-प्रवाह

की दृष्टि से वर्गीकरण करेंगे। वर्गीकरण करने पर हमें उनकी चार प्रकार की शैलियाँ मिलेंगी :—

१. प्रबन्धात्मक शैली—गुप्त जी के अधिकांश काव्य इसी शैली में हैं। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध' आदि इसी शैली में लिखे गये हैं। यह शैली दो प्रकार की है—१. खण्ड-प्रबन्ध और २. महाप्रबन्ध। 'साकेत' महाकाव्य की शैली में है और शेष खण्ड-काव्य की शैली में। इन दोनों शैलियों में गुप्त जी सफल हैं। पञ्चवटी उनका सबसे अधिक सफल खण्ड-काव्य है। कथा का निर्वाह इन समस्त काव्यों की विशेषता है। प्रवाह की दृष्टि से साकेत के क़थानक में कुछ बाधाएँ अवश्य उपस्थित हुई हैं। उसमें मुख्य-मुख्य दृश्य चुनकर अन्वित कर दिये गये हैं। इस प्रकार उसमें कवि का काव्य-कौशल ही अधिक है। कथा-वर्णन के लिए कथोपकथन, दृश्य-चित्रण आदि के अतिरिक्त कुछ स्थानों पर भाषण और स्वगत का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं अनुमान का भी सहारा लिया गया है। कथा में रोचकता, औत्सुक्य की भी यथेष्ट मात्रा मिलती है। गुप्त जी जीवन की मार्मिक परिस्थितियों से पूर्णतयः परिचित हैं और उनका चयन बड़ी सावधानी से करते हैं। इस प्रकार उनकी प्रबन्धात्मक शैली अपने में पूर्ण है।

२. उपदेशात्मक शैली—इस शैली का उपयोग उन्होंने हिन्दू, गुरुकुल, भारत-भारती, रंग में भंग, वक-संहार तथा जयद्रथ-वध आदि रचनाओं में प्रमुख रूप से किया है। इन ग्रन्थों में कवि का उपदेशक रूप सराहनीय है। प्राचीन कथाओं की भित्ति पर वर्तमान वातावरण के अनुकूल उनके पात्रों के मुख से निकले हुए उपदेश बड़े मार्मिक, गम्भीर और अनुकरणीय हैं। यह शैली साधारण और अलंकृत दो प्रकार की है। अलंकृत शैली में शब्दालंकारों की सहायता से भाषा में ओज भरा गया है। साधारण शैली में भाषा का स्वाभाविक रूप वर्तमान है।

३. गीति-नाट्य-शैली—इस शैली में गुप्त जी ने नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया है। कथोपकथन पद्य में है, शेष गद्य में। 'अनघ'

इसका उदाहरण है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'यशोधरा' भी गीति नाट्य शैली के अनुसार लिखे गये हैं; पर 'यशोधरा' के अतिरि... इस दिशा में गुप्त जी को विशेष सफलता नहीं मिली है।

४. गीति काव्यात्मक शैली—गुप्त जी ने आधुनिक और प्राचीन शैली के ढंग पर गीत भी लिखे हैं। 'झंकार' उनके गीतों का संग्रह है। इस संग्रह के गीतों में भावनाएँ तो संगीतमय हो उठी हैं, पर स्वाभाविक अनुभूति चित्रण की कमी है। शब्दों में भी मिठास नहीं है। उन्होंने रहस्यवाद और छायवाद की शैली में भी गीत लिखे हैं। उनके गीत दो प्रकार के होते हैं—१. साधारण और २. अलंकृत। भाषा और अलंकार की दृष्टि से वह दोनों में सफल हैं। उनके गीतों में स्वाभाविक प्रवाह है, पर विरह-गीतों को छोड़कर शेष में तन्मयता, सौंदर्यानुभूति और स्वाभाविक वेदना का अभाव-सा है।

गुप्त जी की शैली स्पष्ट, प्रभावोत्पादक, शिष्ट, संयत, गंभीर, प्रसाद, माधुर्य और ओज से परिपूर्ण होती है। उनकी शैली में भाषा की प्राञ्जलता वर्तमान रहती है। 'हरिऔध' की भाँति भाषा की नियमबद्धता उनकी शैली में नहीं है। वह बड़े-बड़े पद नहीं लिखते। उनकी शैली में विशेष आकर्षण है जिसके कारण वह पहिचाने जा सकते हैं। सारांश यह कि गुप्त जी अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं।

गुप्त जी की भाषा खड़ी-बोली है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी भाषा में न तो वे त्रुटियाँ अधिक मात्रा में हैं जो भारतेन्दु के समसामयिक और परवर्ती कवियों की एक विशेषता रही है और न दुरूहपन ही उसमें कहीं उल्लेखयोग्य मात्रा में देखा जाता है। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने-वाली उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से 'अनघ' तक की भाषा में प्रायः एकरूपता का दर्शन होता है। उसमें कहीं-कहीं तद्भव शब्द आ गये हैं; पर प्राधान्य तत्सम शब्दों का ही है। गुप्त जी की काव्य-कला का उनकी समस्त

गुप्त जी की भाषा

रचनाओं में ज्यों-ज्यों विकास हुआ है, त्यों-त्यों उनमें उनकी भाषा भी प्रौढ़, प्रसादपूर्ण और भावानुकूल होती गई है। 'भारत-भारती' की भाषा में जो कर्कशता, रूखापन और नीरसता है वह उनकी अन्य रचनाओं में उत्तरोत्तर कम हो गयी है। पञ्चवटी तक पहुँचते-पहुँचते उनकी भाषा का रूप निखर आया है और उसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रसाद और माधुर्य आ गया है। बात यह है कि पञ्चवटी तक की उनकी रचनाएँ भाषा के परिमार्जन-काल में लिखी गयी थीं। उस समय भाषा के संस्कार में द्विवेदी जी से उन्हें बड़ी सहायता मिली। इसलिए हम उनकी भाषा पर द्विवेदीय भाषा का अधिक प्रभाव पाते हैं, पर यह प्रभाव द्विवेदी-युग तक ही सीमित रहा। नवीन युग का आरम्भ होने पर उनकी भाषा भी नवीन हो गयी।

भाषा में दो गुण होते हैं—१. शुद्धि और २. शक्ति। शुद्धि के लिए उसके शब्द-कोष और व्याकरण की परीक्षा करनी पड़ती है और शक्ति के लिए उसकी पद-योजना और प्रयोग कौशल आदि पर विचार करना पड़ता है। इस कसौटी पर कसने से गुप्त जी की भाषा पर सर्व प्रथम हमें दो प्रभाव दीख पड़ते हैं— १. संस्कृत का प्रभाव और २. प्रान्तीयता का प्रभाव। खड़ीबोली के अन्य कवियों की भाँति गुप्त जी को भी शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भाण्डार की शरण लेनी पड़ी है। उनकी भावनाओं और विचारों का संस्कृत-साहित्य से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उनकी सफल व्यंजना करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्द ही उपयुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक विकासोन्मुख भाषा के लिए इस प्रकार का शब्द-चयन श्रेयस्कर भी होता है। गुप्त जी की रचनाओं में संस्कृत-पदावली का प्रचुर प्रयोग इसी दृष्टि से हुआ है। पर 'प्रिय-प्रवास' की भाँति वह संस्कृत-बहुला नहीं है। उन्होंने संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग प्रायः प्रभाव-वृद्धि की दृष्टि से ही किया है, छन्दों के आग्रहवश नहीं। कुछ शब्द अव्यावहारिक भी आ गये हैं। खड़ी बोली की स्वाभाविक शक्तियाँ उन्हें वहन

करने में असमर्थ-सी हो गई हैं। अस्तुद, स्वेप, जिष्णु आदि ऐसे ही शब्द हैं। तुक में इनसे सहायता भले ही मिल जाय, पर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और लय में इनसे अधिक बाधा पहुँची है। कुछ शब्दों का उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। संस्कृत का प्रभाव उनकी पद-योजना पर भी है। उनकी भाषा में पदावली प्रायः असमस्त है, समास कम हैं और प्रायः छोटे हैं, पर कुछ स्थानों पर काफ़ी लम्बे भी हैं। शब्दों के लचर प्रयोग भी मिलते हैं, पर कम। कहीं-कहीं तद्भव और तत्सम शब्दों को जोड़कर भाषा का सौंदर्य भी बिगाड़ा गया है।

गुप्त जी की भाषा पर दूसरा प्रभाव है प्रान्तीयता का। हिन्दी में अनेक प्रान्तीय बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण प्रायः वर्जित है, पर शब्द की उपयुक्तता की दृष्टि से इस नियम का सर्वथा पालन नहीं किया जाता। गुप्त जी ने ऐसे शब्दों को भी अपनाया है। भर के, झाँमना, छाँटना, अफर, धड़ाम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो उनकी भाषा में मिलते है। इन शब्दों के प्रयोग से कहीं-कहीं भाषा को बल मिला है, पर कहीं-कहीं हानि भी हुई है। देखिए :—

कहकर हाय धड़ाम गिरी।

कुछ क्रियारूप भी प्रान्तीय है। कीजो, दीजो आदि में साहित्यिकता कम, पण्डिताऊपन अधिक है। उर्दू, फ़ारसी के शब्द एकाध ही मिलते है और वह भी तुक के आग्रह के कारण। गुप्त जी की भाषा व्याकरण-सम्मत है। उसमें अन्वय-दोष नहीं है। वाक्य पूरे और सुलझे हुए हैं। संवादों की भाषा पर अंगरेज़ी शैली का कुछ प्रभाव अवश्य है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, पर कम। कहीं-कहीं उनका स्वाभाविक रूप बदल दिया गया है। इससे भाषा का सौंदर्य नष्ट हो गया है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने प्रकृत रूप में ही साहित्य की निधि हैं और उसी रूप में उनका प्रयोग उचित है।

भाषा की शक्ति की दृष्टि से गुप्त जी की भाषा में खड़ीबोली अपनी विशेषता पूर्णतया सुरक्षित रखती है। उनकी भाषा में खरापन है। तुक मिलाने में, कथोपकथन की स्पष्टता में, वाद-विवाद में, वाह्य दृश्य-चित्रण में, मानव-चरित्र-चित्रण में उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उनकी भाषा का प्रवाह प्रशंसनीय होता है। भाव शब्दों का नैसर्गिक परिधान पहन-कर उनकी लेखनी से अमृत विन्दु के समान चू पड़ते हैं। उन्हें अपने भावों के अनुकूल शब्द-चयन की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाव स्वयं अपने लिए शब्द खोज लेते हैं। पर इतना होते हुए भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ की भाषा लचर, शिथिल और उखड़ी हुई है। इसके दो कारण हैं, पालिश की कमी और तुक का प्रबल आग्रह। गुप्त जी अन्य कला-कारों की भाँति अपनी भाषा पर पालिश नहीं करते, उसे 'फिनिशिंग टच' नहीं देते। देखिए :—

लेकर उच्च हृदय इतना, नहीं हिमालय भी जितना।

पालिश की कमी और तुकबन्दी के आग्रह के आग्रह के कारण उनकी रचनाओं में खड़ीबोली की खड़खड़ाहट बहुत है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि गुप्त जी की भाषा माधुर्य-शून्य है। उनकी भाषा का माधुर्य इन पंक्तियों में देखिए :—

चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्य बदनी बाला॥
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा मानों छवि से छलक रही॥

इस अवतरण में शब्दावली स्फीत और भाषा स्वच्छ और भावानु-कूल है। गुप्त जी की भाषा की एक और विशेषता है। वह सर्वत्र भाव, पात्र, प्रसंग और स्वभाव के अनुकूल होती है। जयद्रथ की भाषा में

योधा-गर्व, लक्ष्मण की वाणी में गर्मी और ओज, राम की वाणी में आर्यों की मर्यादा, उर्मिला की वाणी में आर्य-वधुओं की लज्जा और शील का मार्दव, कैकेयी की वाणी में उच्छ्वास तथा स्वाभिमान और राहुल की बोली में भोलापन मिलेगा। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गुप्त जी की भाषा में हमें खड़ीबोली का अत्यन्त शिष्ट, संयत और प्रौढ़ स्वरूप मिलता है।

गुप्त साहित्य की विशेषताएँ

अब तक हमने गुप्त-साहित्य के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात किया और यह देखा कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में कोई-न-कोई विशेषता लिये हुए हैं। अतः अब हम यहाँ उन समस्त विशेषताओं पर ही संक्षेप में विचार करेंगे जिनके कारण उनका साहित्य वर्तमान युग में हिन्दी-साहित्य की अमर सम्पत्ति समझा जाता है।

१. गुप्त-साहित्य में मानव के लिए एक सन्देश है और यही उनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वह अपनी प्रत्येक रचना में सोद्देश्य हैं। 'कला कला के लिए' उनके साहित्य का लक्ष्य नहीं है। उनका साहित्य जीवन का साहित्य है, जीवन को उठाने का साहित्य है। वह मानवतावादी हैं। मानव-कल्याण की प्रेरणा ही उनके साहित्य की जननी है। समाज-सेवा और राष्ट्र-सेवा द्वारा ही वह मानव को मानव बनाना चाहते हैं। उनके मानव का आदर्श है प्रेम और त्याग। 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही' में उनका इसी ओर संकेत है। वस्तुतः मानव का त्याग अनुरागपूर्ण होना चाहिए। बलिदान के बकरे का सा त्याग जीवन को ऊँचा उठाने की अपेक्षा उसे नीचे गिरा देता है। अतः प्रेमपूर्ण त्याग और त्यागपूर्ण प्रेम ही मानव-जीवन के ऐसे दो दीपक हैं जिनके प्रकाश में यह लोक ही स्वर्गलोक हो जाता है। वास्तव में मानव का कल्याण मानवत्व प्राप्त करने में ही है। अतः भगवान् राम का कथन 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया'

जब तक प्रत्येक मानव का कथन नहीं होगा तब तक मानवता छटपटाती ही रहेगी। संक्षेप में गुप्त-साहित्य का यही संदेश है।

२. गुप्त-साहित्य की दूसरी विशेषता है सामाजिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का सफल समन्वीकरण। प्रत्येक जागरूक कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। वह अपने युग की सामाजिक प्रवृत्तियों के अध्ययन के साथ-साथ तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी ध्यान रखता है और फिर दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। उसका यह सामञ्जस्य-स्थापन जितना ही सबल, गंभीर और स्पंदित होता है उतना ही उच्च कोटि का उसका साहित्य होता है। गुप्त जी के कार्य-काल में हिन्दू-समाज अथवा भारतीय समाज में समाजवाद का प्रवर्तन किन किन दशाओं में हुआ, यह प्रवर्तन अपने साथ किस आदर्श और किस लोकमत को लाया, उस आदर्श और उस लोकमत में व्यक्त होने-वाले सत्य को उन्होंने काव्य के क्षेत्र में किस परिणाम में व्यक्त किया, उन्होंने समाजवाद की प्रवृत्ति का कितना बल बढ़ाया और उनकी कृत्तियों द्वारा व्यक्तिवाद की कितने परिमाण में शक्ति घटी आदि प्रश्नों का उत्तर हमें उनका साहित्य देता है; और साहित्य है क्या? ऐसे ही सामाजिक प्रश्नों का उत्तर ही तो साहित्य है। साहित्य प्रत्येक युग की नाड़ी टटोलकर उसके स्पन्दन को अपनी भाषा में व्यक्त करता चलता है। इसीलिए वह प्रत्येक युग के सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब कहलाता है। वास्तव में प्रत्येक युग का साहित्य दर्पणवत् होता है जिसमें उस काल से सम्बन्ध रखनेवाले समाज की सभी शक्तियाँ, सभी दुर्बल-ताएँ, सभी आकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। अपने साहित्यरूपी दर्पण में जब युग-विशेष का साहित्यकार तत्कालीन विचारों, भावों और प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्ब-रूप में झलका देता है तब वह हमारा हो जाता है और हम उसके हो जाते हैं। गुप्त-साहित्य इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण है।

३. गुप्त-साहित्य की तीसरी विशेषता है प्राचीन पृष्ठभूमि पर

नवीन युग का अंकन। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनके समस्त खण्ड-काव्य और महाकाव्य के कथानक प्राचीन हैं। राम, कृष्ण, अर्जुन, सीता, उर्मिला, यशोधरा आदि उस युग के पात्र हैं जब हमारी संस्कृति और सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी। हिन्दू होने के नाते गुप्त जी को अपनी इस प्राचीन सभ्यता पर गर्व है और वह उसी काल से अपने काव्य की सामग्री एकत्र करते है। उनका विश्वास है कि राम और कृष्ण की भारत को आज भी आवश्यकता है। अपने इसी विश्वास के कारण वह पीछे ही मुड़-मुड़कर देखते है और उसी से स्फूर्ति ग्रहण करके अपनी लेखनी को गतिशील करते हैं।

४. गुप्त-साहित्य की चौथी विशेषता है उसकी मौलिकता। गुप्त जी अपनी रचनाओं में पूर्णतः मौलिक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी काव्य-सामग्री के लिए प्राचीन कथानकों का आश्रय लिया है, पर नवीन युग के साचे में ढालकर उन्होंने उनकी प्राचीनता को नवीन रूप दे दिया है। साहित्यिक दृष्टि से वह इसलिए मौलिक हैं कि उन्होंने उर्मिला और यशोधरा जैसी उपेक्षिताओं को भी अपनाया है। उनकी दिशा नवीन है, उनके भाव नवीन हैं, उनकी छन्द-योजना नवीन है।

५. गुप्त-साहित्य की पाँचवीं विशेषता काव्य के कथानक से सम्बन्ध रखती है। गुप्त जी ने अपने कथानकों का चयन अपने उद्देश्यानुकूल ही किया है। इसी बात को हम यों कह सकते है कि गुप्त जी आदर्श सामने रखकर कथानक ढूँढ़ते है, कथानक सामने रखकर आदर्श नहीं ढूँढ़ते। कथानकों के विभिन्न प्रसंगों का चयन भी वह अपने आदर्शानुकूल ही करते हैं। इसीलिए हम उनके खण्ड-काव्य तथा महाकाव्य में प्रत्येक स्थल पर एक ही स्वर पाते हैं और वह स्वर है प्रेम और त्याग का। गुप्त जी अपने कथानक के चयन में सफल हैं। विभिन्न प्रसंगों को एक सूत्र में मिलाकर खण्ड-काव्य अथवा महाकाव्य का ढाँचा खड़ा कर देना उन्हीं के से सफल कलाकारों का काम है।

६. गुप्त-साहित्य की छठी विशेषता चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन से सम्बन्ध रखती है। गुप्त जी के चरित्र-चित्रण में पात्रों के चयन की इतनी विशेषता नहीं है जितनी उनके अंतस् के स्पष्टीकरण की विशेषता है। प्रत्येक पात्र देश-काल का ध्यान रखते हुए मर्य्यादा के भीतर अपने हृदय में उठती हुई भावनाओं को व्यक्त करने में सफल है। इसलिए वह हमारे हृदय को स्पर्श ही नहीं करता उसे आन्दोलित और अनुप्राणित भी करता है। दूसरी बात जो हमें गुप्त जी के चरित्र-चित्रण से ज्ञात होती है वह यह है कि उनके पात्र विकासोन्मुख हैं और कवि के आदर्श की पूर्ति में सहायक हैं। उर्मिला और यशोधरा यदि आर्य-पारिवारिक जीवन का आदर्श उपस्थित करती हैं तो राम लोक-धर्म का और भरत कर्तव्य का। एक बात और है—गुप्त जी इन समस्त आदर्शों को चित्रित करते हुए अपने चरित्र-चित्रण में उपदेशक-से नहीं जान पड़ते। वह पहले से किसी चरित्र के सम्बन्ध में अपनी व्यक्तिगत धारणा बनाकर उसकी सूचना हमें नहीं देते। वह उसके कथन, कृत्य, और चरित्र का दिग्दर्शन कराकर उसके विषय में कोई धारणा बनाने का स्वतंत्र अधिकार हम पर छोड़ देते हैं। इस प्रकार गुप्त जी अपने पात्रों के सम्बन्ध में पाठक को भी सोचने-विचारने का अवसर देते हैं।

७. गुप्त साहित्य की सातवीं विशेषता कवि के उत्तरोत्तर विकास से सम्बन्ध रखती है। गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करने की शक्ति। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारतेन्दु-काल निराशा का युग था। भारत-भारती की रचना ने उस निराशा को दूर किया और नवजागरण की सूचना दी। वास्तव में भारत-भारती आगामी रचनाओं की भूमिका बनकर अवतीर्ण हुई। इसके बाद उनकी द्विवेदी-युग में यह भावना राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति के साथ-साथ विकसित होकर कई खण्ड-काव्यों तथा महाकाव्यों तक पहुँची और फिर हम सत्याग्रह, अहिंसा, मानववाद, विश्व-प्रेम, किसानों और

श्रमजीवियों के प्रति प्रेम, सम्मान तथा सहानुभूति आदि की झलक उनकी रचनाओं में पाने लगे। इसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा विकासोन्मुख रही। पञ्चवटी के पहले और उसके बाद की उनकी भाषा तथा रचना-शैली में जो अन्तर है उससे उनके क्रम-विकास पर स्पष्ट प्रकाश पड जाता है।

८. गुप्त-साहित्य की आठवीं विशेषता धार्मिक भावना से सम्बन्ध रखती है। गुप्त जी सौ फीसदी आस्तिक है। इसलिए वह आशावादी है। उनके पात्र दुःख में इसीलिए हँसते रहते हैं। उनके साहित्य में पात्रों की निराशा हमें नहीं दिखाई देती। उपासना के क्षेत्र में गुप्त जी सगुण-वादी है और राम के विष्णुत्त्व में विश्वास करनेवाले है। इसलिए समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे, जीवन के प्रत्येक कार्य में, वह मर्य्यादा का ध्यान रखते है। मानवतावादी भी वह इसीलिए हैं कि उनके इष्टदेव राम मानव-कल्याण के लिए ही जन्म लेते हैं। राम के वह दास है, इसलिए उनके स्वभाव की सारी कोमलता उनके साहित्य में मिल जाती है। वह धार्मिक आदर्श से चरित्र की, चरित्र से व्यक्ति की, व्यक्ति से समाज की, समाज से राष्ट्र की और राष्ट्र से विश्व की मंगल कामना करते है।

९. गुप्त साहित्य की अन्य विशेषताएँ काव्य-कला-सम्बन्धी है। भाषा पर हम उनकी विशेषता देख चुके है। खडीबोली के वह आचार्य है। छन्दों की जैसी विस्तृत योजना उनकी है वैसी वर्त्तमान युग में किसी कवि की नहीं है। तुकप्रिय होने पर भी अतुकान्त छन्दों के आयोजन मे उन्हें पूरी सफलता मिली है। शैली उनकी अपनी है। अलंकार-प्रिय वह नहीं हैं, फिर भी अलंकारों का विधान उनकी रचनाओं में मिलता है। इन समस्त विशेषताओं के साथ वह हमारे साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है।

गुप्त जी हिन्दी काव्य-जगत् की उन कतिपय विभूतियों में से हैं जिन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कृत्तियों द्वारा हिन्दू-समाज और भारतीय राष्ट्र की शुष्क नसों में नवजीवन का पुनीत स्रोत प्रवाहित किया है और कर्त्तव्य-विमूढ़ प्राणियों को उच्चादर्श की शिक्षा दी है। उनकी रचनाओं में मानव-जीवन का संदेश है, अतीत का गौरव है और है वीर पुरुषों और वीराङ्गनाओं का कलापूर्ण चरित्र-चित्रण। जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अमर निधि हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय विचारों का सौंदर्य, मानव-अन्तस् की अन्तरतम प्रवृत्तियों का द्वन्द्व, परिवर्तन की पुकार और पदाक्रान्त राष्ट्र का पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जागरण का महान् उद्घोष है। राष्ट्रीय उद्बोधन के साथ-साथ मानव-हृदय की कोमलता का भी गुप्त जी ने सफल चित्रण किया है। उनकी लेखनी जिस विषय को लेकर उठी है उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनके काव्य-विषय का केन्द्र है मानव, उसकी शक्ति और दुर्बलता, उसकी आशा और निराशा, उसका आकर्षण और विकर्षण, उसका उत्थान और पतन, उसकी इच्छा और अनिच्छा, उसका सुख और दुःख, उसकी तृप्ति और तृष्णा। मानव की इन्हीं सूक्ष्म प्रवृत्तियों के बीच उनके काव्य का विकास हुआ है। उन्होंने मानव की और मानव-समाज की उन अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है जो युगेतर और शाश्वत हैं। उनके कथानक पुराने हैं, पर उन पुराने कथानकों में भी उन्होंने नवीन युग की समस्याएँ खोज निकाली हैं। उनके पात्र प्राचीन हैं, प्राचीनतम हैं, पर वर्तमान युग की बातें करते हैं। वर्तमान युग की जटिल समस्याओं पर विचार करते हैं और उन पर अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हैं। उनके सामने राष्ट्र के प्रश्न तो हैं ही, समाज और परिवार के भी प्रश्न हैं। वह एक को अपनाकर शेष का तिरस्कार नहीं करते। वह सब पर सामुहिक

गुप्त जी का हिन्दी-साहित्य में स्थान

दृष्टि से एक साथ विचार और मनन करते हैं। इस प्रकार वह एक ही साथ अपने जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में सामञ्जस्य स्थापित करते हैं और अपने-अपने समाज तथा अपने राष्ट्र के कल्याण का मार्ग निश्चित करते हैं। ऐसी दशा में हम गुप्त-साहित्य में केवल राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का हल ही नहीं पाते, पारिवारिक जीवन के जटिल प्रश्नों का भी उत्तर पाते हैं। वह अपने राष्ट्र के ही नहीं, समाज और परिवार के भी कवि हैं। उनके काव्य में व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र का विकास हुआ है।

गुप्त जी की काव्य-प्रेरणा का आधार एक ही युग नहीं है। उन्होंने भिन्न-भिन्न युगों से अपनी काव्य-सामग्री एकत्र की है और उसे अपने आदर्श के आलोक में सजाया-सँवारा है। उनकी सहज कल्पना ने सतयुग से आज तक की भाव-भूमि पर विहार किया है और प्रत्येक युग से अपने उद्देश्यानुकूल कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है। इसलिए उनकी रचनाएँ विषय की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की हैं; पर वे सब एक उद्देश्य से, एक आदर्श से आपस में जुड़ी हुई हैं। उन्होंने कई खण्ड-काव्य और एक महाकाव्य लिखा है। उनके खण्ड-काव्यों में जयद्रथ-वध, पञ्चवटी और नहुप का अच्छा स्थान है। यशोधरा गीति-काव्य है। साकेत उनका महाकाव्य है। उन्होंने जितने खण्ड-काव्य लिखे हैं उतने कदाचित् हिन्दी के किसी कवि ने नहीं लिखे। वह इतिवृत्तात्मक कवि हैं। उन्होंने राष्ट्रगीत और भावगीत भी लिखे हैं। गीति-नाट्य भी उनकी लेखनी से प्रसूत हुए हैं, पर इन कला-कृतियों में हमें उनके अन्तस् के कवि का प्रकृत स्वरूप नहीं दिखाई देता। गुप्त जी अपने जिस रूप में सफल कलाकार हैं, वह रूप उनका इतिवृत्तात्मक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने इस रूप में किसी नवीन आदर्श की किसी नवीन पथ की किसी नवीन शैली की स्थापना नहीं की। यह भी मानना होगा कि उन्होंने किसी काल्पनिक कथा का आधार लेकर वर्तमान युग की समस्त

चेतनाओं को महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य का रूप नहीं दिया, यह भी स्वीकार करना होगा कि उन्होंने विश्व-प्रेम का केवल आभास कराया, उसका विस्तृत परिष्कृत स्वरूप समाज के सामने नहीं रखा, पर इन सब बातों के लिए उनका कवित्त्व दोषी नहीं, दोषी है उनका आर्य-संस्कृति और सभ्यता के प्रति तीव्र मोह। वह उनकी काव्य-कल्पना और भावना को उसी सीमा तक विचरण करने का अवसर देता है जहाँ तक वह आर्य-संस्कृति की मर्य्यादा के अनुकूल है। गुप्त जी को अपनी संस्कृति पर गर्व है, महान् गर्व है। उनका विश्वास है कि यदि हिन्दू-जाति दासता से मुक्त होकर अपनी शक्ति का संगठन कर ले तो वह विश्व का नेतृत्त्व कर सकती है। हिन्दू में वह कहते हैं :—

> मचा विश्व में कल क्लेश, दोगे तुम्हीं शान्ति-सन्देश।
> किन्तु तुम्हारी वाणी क्षीण, बनो प्रबल फिर बनो प्रवीण।

गुप्त जी की इन पंक्तियों में आर्य-संस्कृति के प्रति जो गौरव का भाव है वह एक सच्चे हिन्दू-हृदय की अभिव्यंजना है। इस अभिव्यंजना में संकीर्णता नहीं, साम्प्रदायिकता नहीं, उदारता और शील का आग्रह है। आर्य-धर्म विश्व-धर्म है, मानव-धर्म है। यह शाश्वत है, चिरनूतन है। उसके सामने कोई आदर्श नया आदर्श नहीं है। गुप्त जी ऐसे ही आर्य-धर्म के पोषक हैं। इसलिए वह विश्व के कल्याण का स्वप्न भारत के कल्याण में ही देखते हैं। उनकी यह भाव-धारा समझ लेने पर हमें उनके साहित्य की दिशा समझने में बड़ी सहायता मिलती है। गुप्त जी अपनी किसी एक पुस्तक में नहीं, अपनी समस्त पुस्तकों में हैं। हमें उनके समस्त विचारों का समन्वीकरण करके ही उनके सम्बन्ध में अपना विचार स्थिर करना होगा।

महाकवि के रूप में गुप्त जी का स्थान द्विवेदी-युग के कवियों में सबसे ऊँचा है और यह इसलिए कि उन्होंने मानव-जीवन, सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन—तीनों की समस्याओं पर एक साथ विचार

किया है। साकेत का प्रत्येक पात्र जीवन अथवा राष्ट्र की किसी-न-किसी समस्या का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्त जी के काव्य का उत्कर्ष न केवल विचार या भाव में है, न शब्दों में, न लय में, न श्रुति माधुर्य मे, वरन् इन सबके समन्वय में है। उनके अनेक पदों में भाव, भाषा, लय, माधुर्य और रस की धारा बहती है।

गुप्त जी वर्तमान काल में सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी रचनाओं का आबाल वृद्ध-वनिता सभी आनन्द लेते हैं। प्राचीन और नवीन युग की जो अनेक शैलियाँ साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किये हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं, द्विवेदी युग के कवि उन्हें प्रायः नेता के रूप में ग्रहण करते हैं, छायावादी कवि भी उनमें अपने मनोनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ खोज लेते हैं, राष्ट्रीय कवि उनमें राष्ट्रीयता की मर्यादा की झलक पाते हैं और समाज-सुधारकों को उनमें समाज सुधार की बहुत सी बातें भी मिल जाती हैं। गुप्त जी ने सबके लिए कुछ-न-कुछ लिखा है। इस प्रकार वर्तमान समय के सभी दलों को अल्पाधिक मात्रा में, उनसे संतोष-लाभ हो जाता है। उनके पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है। अभी गुप्त जी की अवस्था अधिक नहीं है। उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता भी सचेष्ट है। इस समय वह गीतों की ओर अधिक झुके हुए हैं और हिन्दी-साहित्य का भाण्डार गीतों से भर रहे हैं। वह जो कुछ आगे लिखेंगे, भविष्य उसका मूल्यांकन करेगा, पर उन्होंने अब तक जो कुछ लिखा है, वह अपने में महान् है और हम उन्हें द्विवेदी-युग का सर्वप्रथम कवि समझते हैं।

— ५ —

जयशंकर प्रसाद

जन्म सं०	मृत्यु सं०
१९४६	१९९४

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में एक प्रतिष्ठित कान्य-कुब्ज वैश्य-परिवार में माघ शुक्ल दशमी सम्वत् १९४६ को हुआ था।

जीवन-परिचय

उनके पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु और पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था। श्री शिवरत्न साहु बडे दानी और दयावान् थे। प्रातःकाल गंगा-स्नान से लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक भिक्षुकों को दे डालते थे। काशी में वह सुँघनी साहु के नाम से विख्यात थे। इसी से प्रसाद जी को भी लोग सुँघनी साहु ही कहते थे।

प्रसाद जी बाल्यावस्था से ही बड़े भावुक और काव्य-प्रेमी थे। उनके पिता व्यवसाय-कुशल, उदार और साहित्य-प्रेमी थे। काशी में

उनका बड़ा नाम था। उस समय बाहर से आनेवाले कवि तथा विद्वान् सभी काशीनरेश के दरबार से लौटकर उनके यहाँ अवश्य आते थे और साहित्य-चर्चा होती रहती थी। प्रसाद के भावी जीवन पर इस प्रकार के वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनका बचपन बड़े सुख से बीता। सम्वत् १९७५ में उन्होंने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। बचपन की इस यात्रा का उनके भावी जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें आजीवन प्रभावित करती रही। इतनी लम्बी यात्रा उन्होंने अपने जीवन में फिर कभी नहीं की। इस यात्रा के पश्चात् उनके पिता का देहान्त हो गया और चार वर्ष उपरान्त उनकी माता भी स्वर्गवासिनी हो गईं। ऐसी दशा में उनके जीवन की परिस्थितियाँ ही बदल गईं।

प्रसाद जी दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री शम्भूरत्न था। पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबू शम्भूरत्न को ही गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन करना पड़ा। प्रसाद जी उस समय काशी के क्वीन्स कालेज में सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। उन्हें परिस्थितियों से विवश होकर स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उनके बड़े भाई ने घर पर ही उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध किया। पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी प्रसाद जी को वेद और उपनिषद् पढ़ाते थे। अँगरेज़ी की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध था। इस प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य का भी अध्ययन करते जा रहे थे। इस समय उनके तीन काम थे—कसरत करना, अध्ययन करना और दूकान की देख-रेख रखना। दूकानदारी से उन्हें विशेष प्रेम नहीं था, पर बड़े भाई के कहने से वहाँ बैठा करते थे। वहाँ बैठे-बैठे वह बहीखाते के पृष्ठों पर कविता लिखा करते थे। एक दिन जब इस बात की सूचना उनके बड़े भाई को मिली तब उन्होंने प्रसाद जी को इस कार्य के लिए बहुत डाँट-फटकार बताई और दूकान की ओर अधिक ध्यान देने पर जोर दिया; पर प्रसाद जी अपना ध्येय नहीं भूले। काव्य-प्रेमी को दूकान-

दारी से क्या नाता ! भाई के कहने से उन्होंने दूकान पर कविता करना बन्द कर दिया, पर अवकाश मिलने पर वह गुप्त रूप से कविता करते रहे। कुछ दिनों बाद जब आने-जानेवाले कवियों द्वारा प्रसाद जी की समस्यापूर्ति की प्रशंसा होने लगी तब शम्भूरत्न जी ने उन्हें कविता करने की पूरी स्वतंत्रता दे दी और थोड़े दिनों बाद इस असार संसार से विदा हो गये।

भाई का मरना प्रसाद जी को अखर गया। माता और पिता की मृत्यु से उन्हें इतना दुख नहीं हुआ जितना कि भाई की मृत्यु से। इस असामयिक दुर्घटना से उनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। सत्रह वर्ष के युवक प्रसाद जी संसार में निस्सहाय हो गये। परिवार के सभी लोग चल बसे थे, केवल भौजाई बच गई थीं। ऐसी दयनीय परिस्थित में उनकी पैतृक सम्पति पर अधिकार जमाने के लिए उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का षड्यंत्र चलने लगा। इससे उन्हें और भी चिन्ता हो गई, पर इन समस्त कठिनाइयों का उन्होंने साहस से सामना किया और अपने साहित्यिक जीवन का स्वरूप नहीं बदला। उनका अधिकांश समय साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था।

प्रसाद जी के तीन विवाह हुए। दूसरी पत्नी के देहान्त के पश्चात् उनके विचार अत्यन्त ठोस और गंभीर हो गये थे। वह अपने विवाह के पक्ष में नहीं थे, पर भौजाई के प्रतिदिन के शोकाकुल जीवन को सुलझाने के लिए उन्हें अपना विवाह तीसरी बार करना पड़ा। इसी विवाह से श्री रत्नशंकर उत्पन्न हुए जो इस समय अपना पैतृक व्यवसाय चला रहे हैं।

प्रसाद जी का पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय नहीं था। जीवन की अत्यधिक कठोर परिस्थितियों तथा ऋण के कारण वह अधिक चिन्तित रहा करते थे। स्वभाव में अमीरी थी और दानशीलता उन्हें पैतृक सम्पत्ति में मिली थी, अतः उन्हें आर्थिक चिन्ताएँ सदैव घेरे रहती थीं। अधिक व्यय के कारण वह अपनी परिस्थित सुधारने में असमर्थ

होते जाते रहे थे। ऐसी दशा में उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग बेचकर ऋण-मुक्त होना पड़ा। इस प्रकार ऋण-भार से मुक्त होने पर उन्होंने साहित्य सेवा की ओर ध्यान दिया। अपने व्यवसाय की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था। वह चाहते तो अपने व्यवसाय में दत्त-चित्त होकर अधिक धन पैदा कर सकते थे, पर उन्होंने लक्ष्मी की सेवा से सरस्वती की सेवा को अधिक महत्त्व दिया। उनकी दिनचर्या में साहित्य-सेवा का ही अधिक स्थान था। प्रातःकाल से रात्रिकाल तक वह या तो लिखते-पढ़ते रहते थे या लेखक और कवियों के साथ साहित्य-चर्चा करते रहते थे। इससे उन्हें अपने व्यवसाय की ओर अधिक ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिलता था। अधिक से अधिक वह इतना ही करते थे कि यदि कोई कस्तूरी का व्यापारी आया तो उससे कस्तूरी परखकर खरीद लेते थे और यदि भपका चढ़ा तो गुलाब और इत्रो की देख-रेख कर लेते थे। वह अपने व्यवसाय के पूर्ण ज्ञाता थे। सुर्ती, इत्र और हर तरह के टायलेट बनाने में वह दक्ष थे। पर इन कार्यों में उनका मन नहीं जमता था। उनकी दूकान नारियल बाजार में थी। सन्ध्या समय वह वहीं बैठा करते थे। वहाँ साहित्यिकों का नियमित जमघट होता था। ६ बजे से ६ बजे रात तक व्यवसाय के साथ-साथ साहित्यिक चर्चा भी होती रहती थी।

प्रसाद जी की अन्तरंग-मण्डली बहुत बड़ी नहीं थी। वह बहुत गम्भीर स्वभाव के थे; वाचालता उनमें नहीं थी। किसी के यहाँ जाना भी उन्हें विशेष रुचिकर नहीं था। वह घर से बाहर बहुत कम निकलते थे। उनके साहित्यिक मित्रों में राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, मुं० प्रेमचन्द और पं० केशवप्रसाद मिश्र प्रमुख थे। उनके समय में हिन्दी-साहित्य-संसार में दल-बन्दी की धूम थी। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री दुलारेलाल भार्गव प्रसाद-विरोधी-दल के नेता थे। कुछ समय तक मुं० प्रेमचन्द भी प्रसाद जी के विरोधी रहे, पर अन्त में दोनों मित्र हो गये। प्रसाद जी अपने गम्भीर स्वभाव के कारण

किसी के विरोध की चिन्ता नहीं करते थे। वह हिन्दी-साहित्य का भाण्डार अपने दृष्टिकोण, अपनी विचार-धारा और अपनी चिन्तन-शैली के अनुसार भरना चाहते थे। इसलिए उन्होंने किसी के आलोचना की चिन्ता नहीं की। वह स्वतंत्र चिन्तक और गम्भीर विचारक थे। वह जानते थे कि उनके विरोधियों की अलोचना में साहित्यक तथ्य कम और दलबन्दी की कलुषित भावना अधिक है। इसीलिए वह तर्क-वितर्क के दलदल में फँसकर अपने विचारों को गन्दा करना नहीं चाहते थे, वह अलोचना और प्रत्यालोचना से कोसों दूर रहे। उन्होंने किसी के ग्रन्थ की अलोचना नहीं की। किसी अन्य पुस्तक की भूमिका नहीं लिखी। वस्तुतः विवादग्रस्त प्रश्नों में पड़ने का उन्हें व्यसन नहीं था।

प्रसाद जी के समय में हिन्दी का पुस्तक-प्रकाशन वाल्यावस्था में था। अच्छे साहित्य की न तो मांग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में एकमात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था; सरस्वती-सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रसाद जी का मतभेद था, इसलिए प्रसाद जी को उक्त पत्र द्वारा प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना नहीं थी। ऐसी दशा में उनके आदेशानुसार उनके भाञ्जे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी मासिक पत्र से प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। यह सन् १९१० ई० की बात है। प्रसाद जी इस पत्र को आर्थिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सहायता देते थे। कालान्तर में इस पत्र ने हिन्दी की अच्छी सेवा की और प्रसाद जी की रचनाओं से हिन्दी-संसार भलीभाँति परिचित हो गया। इस प्रकार जीवन की विरोधी परिस्थितियों के बीच प्रसाद जी ने साहित्य के पुनीत प्रांगण में प्रवेश किया।

'इन्दु' कुछ समय तक निकलकर बन्द हो गया। 'हंस' मासिक रूप में प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में निकल रहा था। प्रसाद जी इसमें कहानियाँ लिखा करते थे। उन्होंने ही इस पत्र का नामकरण किया था

और इसकी योजना प्रस्तुत की थी। आवश्यकता थी एक शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र निकालने की। इस पत्र का सम्पादन-भार श्री शिवपूजन जी को दिया गया। इस प्रकार ११ फरवरी १६२६ ई० को पुस्तक-मन्दिर से 'जागरण' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। कुछ समय तक यह पत्र निकलता रहा, पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसका काम आगे न चल सका। अन्त में इसका प्रकाशन-भार मु० प्रेमचन्द को सौंप दिया गया। मु० प्रेमचन्द के सम्पादन में वह साप्ताहिक होकर निकलता रहा।

'इन्दु' और 'जागरण' की आर्थिक सहायता करने के कारण प्रसाद जी की आर्थिक स्थिति फिर शोचनीय हो गई। एक नया मकान बनवाने तथा व्यवसाय-द्वारा आय कम हो जाने के कारण उन्हें पुनः आर्थिक कठिनाइयों ने घेर लिया। अतः वह चिन्ता-मुक्त होने के विचार से पुरी चले गये। पुरी के रमणीक एवं मनोरम दृश्यों ने उनके कवि-हृदय को आश्वासन तो दिया, पर मानसिक व्यग्रता बनी ही रही। इसलिए वहाँ से लौटने पर उन्होंने नियमित रूप से अपने व्यवसाय की ओर ध्यान देना आरंभ कर दिया, पर उससे समय बचाकर वह साहित्यिक-कार्य भी करते रहे।

प्रसाद जी सरल, उदार, मृदुभाषी, स्पष्टवक्ता और साहसी व्यक्ति थे। व्यायाम करने का उन्हें बचपन से ही अभ्यास था। अपनी जवानी में वह एक हज़ार बैठकी और पाँच सौ दण्ड प्रतिदिन करते थे। कुश्ती भी वह लड़ते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त पाव आध सेर बादाम वह नित्य खाते थे। भोजन बनाने में भी वह कुशल थे। पुष्पों से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने घर के सामने उन्होंने एक छोटी-सी वाटिका बनाई थी, जिसमें कई प्रकार के फूल फूलते थे। नौका-विहार में उन्हें विशेष आनन्द आता था। उनका वास्तविक जीवन अत्यन्त सात्विक और स्पष्ट था। पान वह बहुत खाते थे। पत्र-व्यवहार से वह बहुत हिचकते थे। दानशीलता उनमें बहुत थी। उन्होंने अपनी

कहानी अथवा कविता के लिए पुरस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) का और नागरी-प्रचारिणी-सभा से २००) का जो पुरस्कार उन्हें मिला था उसे उन्होंने कुल मिलाकर ७००) नागरी-प्रचारिणी-सभा को दान कर दिया। कवि-सम्मेलन में जाकर कविता-पाठ करना अथवा सभापति होना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्हें अपने काम से काम था। उनकी मनोवृत्ति धार्मिक थी। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। प्रतिदिन के काम से जब उनका जी ऊबता था तब वह कभी-कभी सिनेमा देखने चले जाते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। प्रतिदिन नियमित रूप से संस्कृत के पौराणिक तथा ऐतिहासिक पुस्तकों के अध्ययन में वह अपना समय देते थे। जीवन को इतना नपा-तुला और संयमशील रखने पर भी वह मृत्यु की भयानक चोट से न बच सके। २८ जनवरी सन् ३७ को वह बीमार पड़े और २२ फरवरी को डाक्टरों ने यह कह दिया कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है।

राजयक्ष्मा के परिणाम से प्रसाद जी भली भाँति परिचित थे। उनकी पूर्व पत्नी इसी रोग का शिकार हो चुकी थीं। इसलिए इस रोग का हाल सुनकर वह अपने जीवन से उदासीन हो गये और अन्ततः कार्त्तिक शुक्ल एकादशी सम्वत् १९९४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के निष्णात पंडित और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अपने अल्पकालीन साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और वह उसकी स्थायी सम्पत्ति है। क्रमिक विकास के अनुसार हम उनकी समस्त रचनाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. पूर्व काल सन् [१९१०-२२] २. मध्य काल [सन् १९२३-१९२९] और ३. अन्तिम काल [सन् १९२९-३७]

प्रसाद की रचनाएँ

प्रसाद जी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वकाल में विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार; मध्य काल में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट और अन्त में आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अधूरा उपन्यास इरावती की रचना की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रसाद जी की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है :—

१. उपन्यास—कंकाल, तितली और अधूरा इरावती।

२. नाटक—राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी।

३. कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्र-जाल।

४. काव्य—चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, झरना।

५. निबन्ध—काव्य और कला।

प्रसाद पर प्रभाव

प्रसाद जी की बहुअंगी रचनाओं को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा कई क्षेत्रों से प्राप्त हुई थी। उनके पारिवारिक जीवन के अध्ययन से यह पता चला है कि वह बचपन ही से कवियों, कलाविदों और गायकों के सम्पर्क में आ गये थे। उनके दादा दानी तो थे ही, साहित्य-प्रेमी भी थे। उनके यहाँ साहित्य-प्रेमियों का आये दिन जमघट रहता था। उनके पिता भी अपने पिता की भाँति ही उदार, दानी और साहित्य-प्रेमी थे। उनके समय में भी साहित्यिकों का आना-जाना होता

था। ऐसे वातावरण का बालक प्रसाद पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः पद्य-रचना की ओर उनकी रुचि बढ़ी। इस रुचि को उनकी धार्मिक यात्रा से बहुत बल मिला। अपने जीवन के प्रभात-काल में अमर कण्टक पर्वतमालाओं के बीच उन्होंने जो यात्रा की उसने उनकी कल्पना के पंख उन्मुक्त कर दिये और वह काव्यलोक में स्वतंत्रतापूर्वक विचरने लगे। आधी-आधी रात तक कवि-गोष्ठियों में बैठकर समस्या-पूर्ति करनेवाले कवियों की कविता सुनना और फिर उसे मन में गुन-गुनाना उनका स्वभाव-सा हो गया। उनका यही स्वभाव कालान्तर में विकसित होकर उन्हें कवि बनाने में सफल हुआ।

पर कविता सुनने और उसे अपने जीवन के सुखद क्षणों में गुन-गुनाने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। कवि होने के लिए सहज प्रतिभा, अध्ययन और अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। बालक प्रसाद में प्रतिभा तो थी, पर अध्ययन और अभ्यास का अभाव था। इस दिशा में उन्हें प्रेरणा मिली ब्रह्मचारी दीनबन्धु जी से। पिता की असामयिक मृत्यु से जब उन्हें स्कूली शिक्षा को तिलाञ्जलि देना पड़ता तब पं० दीन-बन्धु ब्रह्मचारी ने ही उन्हें संस्कृत तथा उपनिषद् पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया। वह अपने समय के संस्कृत-साहित्य के निष्णात् पंडित थे। अतः उनकी शिक्षा का बालक प्रसाद के कोमल मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्रसाद में हम जो संस्कृत-साहित्य के प्रति आस्था पाते हैं, वह केवल इसी कारण से है। वास्तव में उनका संस्कृति-साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान ब्रह्मचारी जी की देन है जिसे उन्होंने अपनी यौवनावस्था में स्वयं परिपक्व बनाया है। इसी प्रकार के अध्ययन, चिन्तन और अभ्यास के आलोक में उनके कवि-जीवन का महत्त्व आँका जा सकता है। उनकी कविताओं से यह स्पष्ट है कि उनके जीवन पर बौद्ध-दर्शन तथा संस्कृति के धार्मिक ग्रन्थों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। उनका कुटुम्ब शैव था। उन्होंने शैव-दर्शन का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उनके जीवन में जो स्फूर्ति और संसार के प्रति जो उत्फुल्लता का भाव हम

देखते हैं वह इसी शैव-दर्शन के प्रभाव के कारण। अतः उनकी रचनाओं की आलोचना करते समय हमें उनके जीव पर पड़े हुए इन समस्त प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

प्रसाद का उपन्यास-साहित्य

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक उपन्यासकारों में प्रसाद जी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने ऐसे समय में उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया जब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द के अतिरिक्त कोई नहीं था। प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अग्रदूत थे। उन्होंने सर्वप्रथम आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी-उपन्यासों का ढाँचा खड़ा किया और उनमें मानव के सुख दुःख की पहेलियों, सामाजिक जटिलताओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का स्पष्ट आकर्षक चित्र उपस्थित किया। प्रेमचन्द के पूर्व का भारतीय कथा-साहित्य पौराणिक तथा धार्मिक था। कुछ ऐसे उपान्यास भी जनता के हाथों में दिखाई देते थे जिनमें साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथा-साहित्य के इस रूप में परिवर्तन किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में साहसिक क्रियाओं के स्थान पर आत्मा को प्राश्रय दिया। इस प्रकार उन्होंने जासूसी, तिलिसमी तथा घटना-प्रधान पौराणिक उपन्यासों के युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का आयोजन किया।

प्रसाद जी प्रेमचन्द के समकालीन थे। इसलिए प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में प्रसाद जी का ही स्थान है। उन्होंने तीन उपन्यासों की रचना की है—१. कंकाल, २. तितली और ३. इरावती।

प्रसाद जी के इन उपन्यासों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेपता उनके उपन्यासों की है कथानक की मौलिकता और पात्रों की स्पष्टवादिता। उनके कथानक का मानव-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। उनमें मानव-जीवन के पाप-पुण्य की चर्चा इतने स्वतंत्र

ढंग से और इतने खुले शब्दों में की गई है कि समाज को पतितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का साहस होता है। उन्होंने अपने इन कथानकों द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को आश्चर्यजनक घटनाओं के दलदल से निकालकर उच्च भाव-भूमि पर उतारा है और भावी उपन्यास-लेखकों के लिए नवीन दिशा का पथ-प्रदर्शन किया है। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता हैं। वह अपने हृदय का पाप-पुण्य किसी से छिपाकर घृणा और द्वेष के पात्र नहीं बनते। उनके प्रति पाठक की सहज सहानुभूति जाग्रत होती है। दूसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है मानसिक द्वन्द्व के सुन्दर शब्द-चित्र। समाज के बन्धनों से उन्मुक्त मानव-हृदय का चित्र उतारने में प्रसाद जी बड़े कुशल हैं। मनोभावों के द्वन्द्व का हृदय पर ही नहीं, शारीरिक व्यापारों पर भी सम्यक् प्रभाव पड़ता है। इसलिए मनोभावों का चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ उनके उपन्यासों में हमें शारीरिक व्यापारों के भी सुन्दर और प्रभावशाली चित्र बहुतायत से मिलते हैं। तीसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है उनका दृश्य-वर्णन। वह अपने उपन्यासों में प्रकृति, ग्राम, नगर और समाज सबके सम्यक् चित्र उपस्थित करते हैं और उनसे अपने पाठकों को इतना प्रभावित कर देते हैं कि उनका हृदय उपन्यास के कथानक से क्षण भर के लिए हटने नहीं पाता। 'कंकाल' और 'तितली' में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं है। चौथी विशेषता जिसके कारण प्रसाद उपन्यासकार समझे और माने जाते हैं उनकी भाव-प्रवणता है। भावों को जगाने में, उनको आन्दोलित, संयत और सफल बनाने में वह अपने उपन्यास और काव्य में एक से हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने अनुभवों के प्रचुर वैभव के साथ अपनी कोमल भावनाओं का सहज मिश्रण करके कल्पना के सहारे जिन कला-कृत्तियों को जन्म दिया है वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। पाँचवीं विशेषता उनके उपन्यासों की है भाषा की सरलता। अपने उपन्यासों में प्रसाद जी अपने नाटकों की अपेक्षा अधिक चलती हुई, बोधगम्य, सरल, मुहावरेदार,

प्रसाद और ओजपूर्ण भाषा का व्यवहार करते है। नाटकों में उनकी भाषा अधिक क्लिष्ट और बोझिल हो गई है। इसलिए कला की दृष्टि से परिपूर्ण होने पर भी वह पाठकों को अपने में इतना तन्मय नहीं कर पाते जितना कि उनके उपन्यास। इन विशेषताओं के अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक मानव-जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का प्रतिविम्ब, कला और प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता-सम्बन्धी विचार आदि बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका प्रसाद के उपन्यासों में बाहुल्य है। उनके उपन्यास उन्मुक्त यौवन के प्रणय की समस्याओं के उपन्यास है।

प्रसाद का कहानी-साहित्य

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रसाद जी ने कहानियाँ भी लिखी है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के कहानीकारों में उनका प्रथम स्थान है। उन्होंने तीन प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कुछ कहानियाँ साधारणतः भावात्मक और कला की दृष्टि से निम्न-कोटि की हैं, पर उनकी जो कहानियाँ रहस्यवादात्मक तथा यथार्थवादात्मक हैं वह हिन्दी में अपना एक निजी महत्त्व रखती हैं। अपनी यथार्थवादी कहानियों में साधारण कोटि के पात्रों के प्रति गुप्त रूप से वह अपनी सहानुभूति का परिचय बराबर देते रहते हैं। यही यथार्थवादी साहित्य का सिद्धान्त है। प्रसाद अपने यथार्थवादी साहित्य में स्पष्ट हैं। उन्होंने कहानी-कला को बहुत ऊँचे स्थान पर उठाया है। उनकी कहानियों में हमें प्रथम बार आधुनिक कहानी-लेखन-कला का परिचय मिलता है। उनकी कहानियों का कथानक, उनकी कविता के विषय की भाँति, एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र, किसी घटना की एक रेखा, प्रेम की एक झलक अथवा निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। यही उनकी कहानी के विषय है। इन विषयों के लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा, इधर-उधर से सामग्री एकत्र करने की आवश्यकता नहीं हुई। उनके मन में

भावनाएँ उठीं और उन्होंने कहानी लिख डाली। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ भावात्मक हैं और सरलतापूर्वक कहानी-कला की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। एक बात और है, भावात्मक कहानियों का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। वह प्रचार अथवा प्रशंसा की दृष्टि से नहीं लिखी जातीं। वह तो कहानी-लेखक की तन्मयता की प्रकाशन-मात्र होती हैं। वह जो कुछ लिखता है, अपनी धुन में, अपने भावों से प्रभावित होकर लिखता है। प्रसाद जी इसी वर्ग के कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों में राग-विराग का, सुःख-दुःख का जो अन्तर्द्वन्द्व है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि प्रसाद जी की अधिकांश कहानियों में अस्वाभाविकता है। ऐसा कहनेवालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी कहानियों के कथानक का विकास किसी रहस्य की छाया में होता है। अतएव उनकी कहानियों के सम्बन्ध में स्वाभाविकता अथवा अस्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी कहानियाँ स्थूल जगत् से सम्बन्ध न रखकर भाव-जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वह कहानीकार के साथ ही कवि भी हैं, पर अपनी कहानियों में वह सर्वथा भावात्मक चित्र ही प्रस्तुत नहीं करते। उन्होंने वास्तविक चित्र भी उतारे हैं और बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं। वह अपनी प्रांजल भाषा, अद्भुत व्यंजन-कुशलता और भावों की तीव्रता से सहज ही पाठक को अपनी ओर खींच लेते हैं और उसे यह अनुभव नहीं होने देते कि कोई कहानी कह रहा है। इसी में कहानी-कला की सफलता का रहस्य है और इस दृष्टि से प्रसाद जी आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य के अग्रदूत हैं। उनकी कहानियों में निष्फल यौवन, करुण प्रणय और दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं। इन्हीं चित्रों के साथ-साथ कुछ सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक क्षीण, पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी अंकित कर दी जाती है। उनकी सभी कहानियों का 'थीम' प्रायः एक-सा है, केवल स्थान और पात्रों के नाम में अन्तर है। संक्षेप में हम

यह कह सकते हैं कि उनकी कहानियाँ एकांकी नाटकों की भाँति एकांगी होती हैं, जिनमें एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक क्षीण रेखा होती है। इसीलिए हमें उनकी कहानियाँ पढ़ते समय गद्य-काव्य का-सा आनन्द मिलता है।

प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों अपने समय के महान् कलाकार हैं। प्रेमचन्द कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार हैं। साहित्य के विभिन्न अंगों पर उन्होंने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द की भाँति, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबन्ध-लेखक तो हैं ही, कवि भी हैं। प्रसाद स्पष्टतः दो ही रूपों में हमारे सामने आते हैं—कवि के रूप में और नाटककार के रूप में। उनका औपन्यासिक रूप इन दोनों रूपों के सामने गौण हो जाता है, पर प्रेमचन्द का एक ही रूप है और वह है उनका औपन्यासिक रूप। अपने इस रूप में वह प्रसाद की अपेक्षा महान् और अग्रगण्य हैं। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रसाद उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं, दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित कराये हैं; पर प्रसाद का साहित्य इस दिशा में इतना विस्तृत नहीं है।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रसाद और प्रेमचन्द की साहित्यिक रचनाओं की संख्या एवं मात्रा में अन्तर तो है ही, उनके दृष्टिकोण, उनकी शैली तथा उनके प्लाट में भी अन्तर है। उपन्यासकार और कहानी-लेखक दोनों हैं, पर दोनों अपने-अपने पात्रों को अपने-अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अपने ढंग से, अपनी दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों कलाकारों को भारत के विकृत सामाजिक आचार-विचारों के प्रति उत्कट असन्तोष है, पर उस असन्तोष को प्रकट करने का, उसे अपने पाठकों के सामने उपस्थित करने का ढंग पृथक्-पृथक् है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की जिन समस्याओं का

चित्र उपस्थित किया है वह स्पष्ट हैं, सबकी आँखों के सामने हैं, पर इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जो भारतीय समाज को भीतर से खोखला बनाती जा रही हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में इसी प्रकार की समस्याओं को स्थान दिया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने जिस समाज को ऊपर से देखा है, प्रसाद की पहुँच उसके भीतर है। यही कारण है कि प्रेमचन्द जहाँ अपने उपन्यासों में किसानों की दयनीय स्थिति, सामाजिक विषमता तथा आर्थिक समस्याओं का चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ प्रसाद अपने उपन्यासों में इन समस्त समस्याओं की आड़ में होनेवाले पापाचार का चित्र उपस्थित करते हैं। यदि आप 'कंकाल' के कथानक पर विचार कीजिए तो आपको पता चलेगा कि प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में धार्मिक पृष्ठ-भूमि पर भारतीय समाज के ऐसे ही नग्न चित्र उतारे हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के चित्रों का अभाव है। प्रसाद की औप-न्यासिक कला का विकास पतितों को उठाने में, घृणित पात्रों को अपनाने में हुआ है। इसलिए उनके उपन्यास यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में कहीं आदर्शवादी और कहीं यथार्थवादी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वह यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों के मोह में पड़कर अपने उपन्यासों में बराबर भटकते से रहे हैं।

कथावस्तु की इस प्रकार की विभिन्नता के साथ-साथ इन दोनों कलाकारों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इस उप-न्यास पर प्रेमचन्द की समस्याओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में प्रेमचंन्द के प्रायः सभी प्रिय पक्षों का समाहार कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस एक उपन्यास में ही वह भारतीय वातावरण के अधिक से अधिक चित्र अंकित करने के प्रयास में संलग्न रहे। यही कारण है कि उनके इस उपन्यास में कथानक की बहुलता हो गई है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक

की बहुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रसाद ने अपने कथानक की बहुलता का निर्वाह कलात्मक ढंग से किया है, वहाँ प्रेमचन्द के कथानक कुछ शिथिल और अस्वाभाविक से हो गये हैं। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि' में कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। प्रसाद के कथानक में निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं है। वह उतना ही कहते हैं जितना उन्हें कहना चाहिए। इसीलिए उनके कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक और कलात्मक ढंग से होते हैं। इने-गिने स्थलों को छोड़कर उनके कथानकों में सामंजस्य का अभाव कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब दोनों कलाकारों के उपन्यासों की पात्र कल्पना पर विचार कीजिए। प्रसाद के उपन्यासों के पात्र बड़े समाज से—समृद्धशाली समाज से सम्बन्ध रखते हैं। प्रेमचन्द के पात्र प्रायः ग्रामीण समाज से लिये गये हैं। पर पात्रों के चरित्र की जैसी सूक्ष्म विवेचना हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है वैसी प्रसाद के उपन्यासों में नहीं है। प्रसाद ने अपने पात्रों को प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा विकास-स्वातंत्र्य अधिक दिया है। इसलिए प्रसाद के कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक अस्वाभाविक और काल्पनिक हो गये हैं। तितली के प्रायः सभी प्रमुख पात्र अधिक भावुक हैं। इस प्रकार की भावुकता प्रेमचन्द के पात्रों में नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रसाद स्वयं दार्शनिक और भावुक हैं। इसीलिए वह अपने पात्रों को भी अपने ही रंग में रँगकर उपस्थित करते हैं। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि प्रसाद के पात्र व्यक्ति होते हैं। वह किसी वर्ग का प्रतिनिधित्त्व नहीं करते। प्रेमचन्द के पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द को अपने उपन्यासों में सफलता मिली है। इस दृष्टि से हटकर जहाँ उन्होंने वर्ग-रहित पात्रों की कल्पना की है, वहाँ उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है।

प्रसाद इस दिशा में सफल हुए हैं। वह वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले ात्रों का निर्माण सफलतापूर्वक नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि साद के पात्र प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र और ानमौजी हैं।

यह तो हुआ उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में दोनों कलाकारों के दृष्टि-ोणों का अन्तर। कहानी-साहित्य के क्षेत्र में भी हमें उनके व्यक्तिगत ःष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होती हैं और प्रसाद की भावना-प्रधान। ्रेमचन्द अपनी कहानियों में सामाजिक चित्र की अवतारणा का लक्ष्य ःखते हैं और प्रसाद अपनी कहानियों में मानसिक चित्र की उद्भावना करते हैं। इस प्रकार एक में वस्तु-कला है तो दूसरे में ललित कला। ःालस्टाय और तुर्गनेव की कहानी-कला में जो अन्तर है वही अन्तर ्रेमचन्द और प्रसाद की कहानी-कला में पाया जाता है। टालस्टाल की कहानियाँ जनता की कहानियाँ होती है, उसके दुःख-सुख की, उसके समस्याओं की कहानियाँ होती हैं, पर तुर्गनेव की कहानियाँ शुद्ध साहि-त्यिक होती हैं। इस प्रकार यदि प्रेमचन्द हिन्दी के टालस्टाय हैं तो प्रसाद हिन्दी के तुर्गनेव।

शैली की दृष्टि से प्रसाद, प्रेमचन्द की अपेक्षा, अधिक. गंभीर हैं। प्रसाद की शैली पर कवित्त्व का पुट अधिक है। प्रेमचन्द की शैली स्पष्ट और सीधी-सादी होती है। दार्शनिकता एवं भावुकता के बाहुल्य से प्रसाद की शैली कहीं-कहीं ऐसी रहस्यपूर्ण हो जाती है कि पाठक विचारमग्न हो जाता है। इससे पाठकों के आनन्द में वाधा पड़ जाती है, पर प्रेमचन्द की शैली इस दोष से मुक्त है। वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन दोनों कलाकारों का प्रभावपूर्ण और संयत होता है। पर जहाँ प्रसाद की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण दुरूह हो जाती है, वहाँ प्रेमचन्द की भाषा अपनी सरलता के कारण पाठक के हृदय को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। शैली-सम्बन्धी इस प्रकार के

अन्तर के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी हैं और प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी। दोनों कलाकारों के इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के कारण उनके पात्र भी कथोपकथन में एक ही शैली से काम नहीं लेते। प्रेमचन्द के आदर्शवादी पात्र जहाँ उपदेशक बन बैठते हैं वहाँ प्रसाद के यथार्थवादी पात्र गंभीर, स्पष्ट और थोड़े में बहुत कहनेवाले होते हैं। प्रसाद अपनी कृतियों में आदर्शवाद की ओर संकेत करते हैं और प्रेमचन्द उसका प्रचार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी कला के निष्णात पंडित हैं। दोनों अपने-अपने में महान् हैं। मानवता से दोनों को प्रेम है, दोनों भारतीय समाज की विकृत अवस्था से परिचित हैं और उसका कल्याण चाहते हैं। दोनों मानव-मगल के लिए समय की माँग और आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए दोनों ने अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विचार किया है, सोचा है और उसे जनता के सामने अपनी-अपनी शैली में उपस्थित किया है।

प्रसाद उपन्यासकार ही नहीं, नाटककार भी हैं। उपन्यासकार की अपेक्षा वह हिन्दी-साहित्य-मनीषियों के बीच नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन्हीं का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने अपने जीवन-काल में बारह नाटकों की रचना की है जिनका क्रम निम्न प्रकार है:—

प्रसाद का नाट्य-साहित्य

१. सज्जन—१९१० ई० २. करुणालय—१९१२ ई०
३. प्रायश्चित—१९१३ ई० ४. राज्यश्री—१९१४ ई०
५. विशाख—१९२१ ई० ६. अजातशत्रु—१९२२ ई०
७. जनमेजय का नाग-यज्ञ—१९२६ ई० ८. कामना—१९२७ ई०

९. चन्द्रगुप्त—१९२८ ई० १०. स्कन्धगुप्त—१९२८ ई०
११. एक घूँट—१९२९ ई० १२. ध्रुवस्वामिनी—१९३२ ई०

प्रसाद के इन नाटकों के रचनाकाल से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रथम चार नाटक लिखने के पश्चात् सात वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। इसी प्रकार विशाख तथा अजातशत्रु के पश्चात् चार वर्ष के लिए उन्होंने पुनः नाटक-रचना से अवकाश ग्रहण किया। अन्त में उन्होंने छः नाटक लिखे। इन नाटकों में से 'सज्जन' और 'प्रायश्चित' चित्राधार नामक संग्रह में संकलित हैं; 'करुणालय' गीत-नाट्य है; राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्धगुप्त तथा ध्रुव-स्वामिनी ऐतिहासिक नाटक हैं; कामना रूपक है जनमेजय का नाग-यज्ञ पौराणिक नाटक है और एक घूँट से संकेतवाद की प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों की रचना में प्रसाद की प्रतिभा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है, पर उनके प्रथम और अन्तिम नाटकों में इतना अन्तर हो गया है कि उसके आधार पर उनके नाटकों के सम्बन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनाई जा सकती। वास्तव में उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है। कलात्मक प्रयास अभ्यास की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों में कलात्मक प्रयास के साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। विशाख के पश्चात् धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और विचार-पद्धति विकसित और परिपक्व होती चली जाती है। उनके नाट्य-साहित्य की यह विशेषता अपने में महान् है।

प्रसाद के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज शेक्सपियर अथवा कालिदास के नाटकों का विश्व-साहित्य में जो मान है वह इसलिए नहीं कि वे मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, अपितु इसलिए कि युग-युग से लोग उनकी कविता पढ़ते और आनन्द लाभ करते आये हैं। इसलिए

आधुनिक रोमांटिक युग में यौवन और प्रणय के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य प्रमुख अंगों के साथ नाटक को भी अपने भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम बना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके नाटक अभिनयशील नहीं हैं, पर कला और काव्य की दृष्टि से वह अपने में बेजोड़ हैं। उनकी नाट्य-कला परखने के लिए हमें निम्न बातों पर विचार करना होगा :—

१. कथावस्तु—प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री तीन प्रकार की हैं—१. ऐतिहासिक, २. पौराणिक और ३. भावात्मक। उन्होंने अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति और वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमलतम् भावनाओं से अनुरंजित किया है। उन्होंने अपने नाटकों में जो गड़े मुर्दे उखाड़े हैं वह आज की समस्याएँ लेकर नवीन हो गये हैं। उनका शरीर पुराना है, भाव नए हैं। पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गई है, जिसके नशे से आज का साहित्य-प्रेमी झूम जाता है। उनके नाटकों में भावों और विचारों की इतनी सबल प्रेरणा है कि उसके सामने कथा-वस्तु गौण बन जाता है। वास्तव में कथावस्तु उनके भावों तथा विचारों का माध्यम मात्र है। इसलिए हमें उनके नाटकों में यह देखने की आवश्यकता है कि उनके पात्र क्या कहते हैं। कौन कहता है, इसकी चिन्ता और छान-बीन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों-द्वारा इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ परिवर्तन भी किया है, पर एक सीमा के भीतर और बड़े कलात्मक ढंग से।

प्रसाद के समस्त नाटकों का एक ही सन्देश नहीं है। कथावस्तु की विभिन्नता के साथ-साथ उनके सन्देश भी बदलते गये हैं। पर ऐसे सभी सन्देश एक उद्देश्य-सूत्र से बँधे हुए है। उनके नाटकों का उद्देश्य है

पतितों को उठाना, निराशा की गर्त में गिरे हुए प्राणियों को, पीड़ित मानव को, विश्व-मंगलकारी आशावाद का संदेश देना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री उस स्वर्ण युग से संकलित की है जो भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का माध्यम है। इसीलिए उनके नाटकों में राजनीतिक द्वन्द्व, प्रणय के घात प्रतिघात तथा आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ आकर्षण है, ओज है, आदर्श है।

२. चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण का एक विशेष स्थान होता है। यदि सच पूछा जाय तो नाटक महान् चरित्रों की एकत्रित गाथा-मात्र है। आदर्श की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में हम दो प्रकार के चरित्र पाते हैं—१. स्वाभाविक और २. परिस्थितिजन्य। परिस्थितियों से ही चरित्र बनता है और चरित्र का चित्रण भी परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इस बात का अत्यधिक ध्यान रखा है। उन्होंने अपने पात्र को ऐसी परिस्थितियों में रखकर उनके चरित्र का विकास किया है कि पाठक को उसे समझने में कठिनाई नहीं हो सकती।

चरित्रों के दो मुख्य अंग होते हैं—१. सूचनात्मक और २. विकासात्मक। नाटकों के कथोपकथन में कुछ चरित्रों को तो हम विकासात्मक पाते हैं और कुछ को सूचनात्मक। नाटककार चरित्रों के इन दोनों अंगों का विकास १. वार्तालाप, २. स्वगत कथन, ३. दूसरों का कथन और ४. कार्य-व्यापार द्वारा करता है। प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इन चारों साधनों का सम्यक् निर्वाह किया है। उनके सम्पूर्ण चरित्र तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं—१. देवता, २. राक्षस और ३. मनुष्य। देव-चरित्रों में गौतम, प्रेमानन्द और वेदव्यास आदि की गणना की जा सकती है। वे संसार में रहते हुए भी उससे तटस्थ तथा उदासीन रहते हैं। उनमें वैराग्य और निर्वेद की भावना प्रधान रहती है और इस भावना के साथ एक सात्विक वातावरण रहता है। ऐसे चरित्र उनके

नाटकों में आधारभूत दार्शनिक तत्त्वों और धर्म-सूत्रों को तर्क द्वारा प्रतिष्ठापित करते हैं और अपने संसर्ग में लाकर दुष्ट चरित्रों का परिष्कार तथा सुधार करते हैं। असुर-चरित्रों में कश्यप, देवदत्त शांतिभिक्षु तथा विरुद्धक आदि की गणना की जा सकती है। मानव-स्वभाव में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर इनमें से जब किसी एक की प्रधानता हो जाती है तब हम अपनी कल्पना के अनुसार देवता अथवा राक्षस-चरित्रों का अनुमान करते है। राक्षस-चरित्र भी परिस्थितियों की लपेट में आते हैं और अपनी प्रबल तामसिक भावनाओं के कारण समस्त वातावरण को कलुषित और विषाक्त बना देते है। अन्त में उनकी पराजय होती है और वे देव-चरित्रों के संसर्ग में आकर सुधर जाते हैं। तीसरे प्रकार के चरित्र मानव है जो संसार की तरंगों पर बहते हैं। वह रमणीय प्रलोभन और भयानक स्थिति से प्रभावित होकर घुटने टेक देते है। उनमें मानव की सभी दुर्बलताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रसाद ने ऐसे चरित्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का द्वार खोल दिया है। इसीलिए हमें उनके नाटकों में करुणा, क्षमा तथा विश्व-प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रसाद के प्रमुख पात्र जीवन के बाह्य संग्राम के साथ-साथ स्वयं अपने मन के साथ भी लड़ते है। वह आत्मचिन्तन करते हुए ही कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हें पाशविक बर्बरता को ध्वंस करने की आवश्यकता का आभास होता है तो दूसरी ओर उन्हें अपने मन को संवेदनशील बनाये रखने की साधना करनी पड़ती है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्रमुखता है। जिस प्रकार सृष्टि के मूल में स्त्रियों की प्रधानता है उसी प्रकार प्रसाद के पुरुष-पात्रों के मूल चरित्र में नारियों की। उन्हीं की सुकुमार एवं भीमाकार मनोवृत्तियों के इंगित पर परिचालित होकर प्रसाद के पुरुष-पात्र जीवन के विशाल रंगमंच पर नृत्य करते है। प्रसाद की नारी पात्रियाँ पुरुषों को उनके कर्तव्य-मार्ग में उद्बुद्ध और प्रोत्साहित करती है। नाटककार के कौशल से पुरुष पात्रों के तामसिक, राजसिक एवं सात्विक गुणों के

अनुरूप ही उन्हें उनकी सहयोगिनियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रसाद के नाटकों में जटिल से जटिल राजनीतिक गुत्थियाँ पात्रों द्वारा ही सुलझाई गई हैं। वे कभी प्रेम के वासन्ती कुंजों में विहार करती हैं, कभी जीवन के प्रज्ज्वलित समर-स्थल में तलवारों के साथ खेलती हैं और कभी गार्हस्थ्य जीवन की शोभा बढ़ाती हैं। वे गायिका भी बनती हैं और जादूगरनी भी। राजनीतिक उलझनों के बीच वे छल-बल-कौशल सबसे काम लेती हैं और अपने चिर अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे राजनीतिकुशला और कूटनीतिज्ञा हैं। इस दिशा में प्रसाद वंकिम बाबू के नारी-पात्रों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

३. **कथोपकथन**—कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भाव-व्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इसका प्रधान कार्य कथावस्तु को विस्तार देना, उसे संयत करना और उसके उत्कर्ष का साधन होना है। उसकी भाषा सजीव, शिष्ट, स्वाभाविक, संयत और गंभीर होती है। वह पात्रों के उपयुक्त होती है और उससे पाठकों की उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है। प्रश्न और उत्तर के साथ-साथ उसमें भाषण का दोष नहीं होता। नाटकीय कथोपकथन और औपन्यासिक कथोपकथन में महान् अन्तर होता है। जहाँ उपन्यासकार अपने कथोपकथन को विस्तार देता है वहाँ नाटककार को एक उचित सीमा के भीतर शिष्ट और संयत वाक्यों में सब कुछ कह देना पड़ता है। नाटककार के कथोपकथन में अपेक्षाकृत उत्सुकता की मात्रा अधिक रहती है। प्रसाद के कथोपकथन में सब कुछ है, पर उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि पाठक को पग-पग पर अर्थ-सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है।

४. **नृत्य, संगीत तथा दृश्य**—नृत्य नाटक का एक प्रमुख अंग है। नृत्य के साथ-साथ गीत का भी स्थान है। घटना-क्रम समझाने के लिए दृश्य भी अनिवार्य होते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में इन तीनों को उचित स्थान दिया है। उनके गीत प्रायः छायावादी

या रहस्यवादी होते हैं। इससे रस-परिपाक में कहीं-कहीं बाधा उपस्थित हो गई है। नृत्य का आयोजन कम है। दृश्य दो प्रकार के हैं—पथ और प्रकोष्ठ। राजकीय पात्र अधिकाश प्रकोष्ठ पर दिखाये गये हैं। राजनीतिक संघर्ष के कारण व्याकुल साधारण पात्र पथ पर मिलते-जुलते हैं। पथ और प्रकोष्ठ के अतिरिक्त वन तथा उपवन की भी छटा उनके नाटकीय दृश्यों में मिलती है। स्कन्धगुप्त में दृश्य की विचित्रता और नवीनता अधिक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी सन्निवेश किया है।

५. अभिनयशीलता—प्रसाद के नाटक अभिनयशील नहीं हैं। भाषा की क्लिष्टता, काव्य की साहित्यिकता तथा अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता देखते हुए हम यह कह सकते है कि उन्होंने रंगमंच की शोभा बढ़ाने के लिए अपने नाटकों की रचना नहीं की। नाटक के लिए बाहरी रंगमंच ही सब कुछ नहीं है। रंगमंच को नाटककार के अनुसार अपना विकास करना पडता है। रंगमंच के अनुसार नाटकों की रचना करना नाटक-मंडलियों का काम है। साहित्यिक नाटककार जब नाटक लिखने बैठता है तब उसके सामने नाट्य-साहित्य की परम्पराएँ और मानव-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। वह नाट्य साहित्य की परम्पराओं का न्यूनाधिक सहारा लेकर अपनी कल्पना तथा अनुभूति से जिस नाटक की रचना करता है उसमें मानव-हृदय बोलता रहता है। वह प्रस्तुत रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता। यदि वह ऐसा करने लगे तो न तो रंगमंच का ही विकास हो सके और न नाट्य-कला का ही। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में अभिनयशील न होने का जो दोष है वह क्षम्य है। फिर भी कुछ काट-छाँट के पश्चात् उनके कतिपय नाटक रंगमंच की शोभा बढ़ा सकते है। चन्द्रगुप्त, राज्यश्री, स्कन्धगुप्त तथा अजातशत्रु का अभिनय साधारण परिवर्तन के साथ बड़ी सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

६. अन्य विशेषताएँ—प्रसाद के नाटकों की, उपर्युक्त पंक्तियों में,

जो अलोचना की गई है उससे उनकी विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है, पर उन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यकप्रतीत होता है। अतः निम्न पंक्तिओं में उन्हीं पर प्रकाश डाला जायगा:—

[१] प्रसाद के अधिकांश नाटक करुण सुखान्त होते हैं। इस दिशा में उन्होंने न्यूनाधिक भरत मुनि की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया है। उनके नाटकों में पहले फलागम का पता नहीं चलता, पर संघर्ष बढ़ता रहता है और अन्त में नायक को शान्ति प्राप्त होती है।

[२] कला की न्यूनाधिक स्वतंत्रता लेते हुए भी प्रसाद ने कतिपय प्राचीन परिपाटियों का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत, विदूषक और गान का विधान प्राचीन नाट्य-परम्परा के अनुसार ही किया है। 'सज्जन' नामक एकांकी नाटक में नान्दी का सर्वप्रथम आना और उसके पश्चात् सूत्रधार का अपनी स्त्री से नाट्याभिनय के लिए प्रस्ताव करना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन नाट्य-कला के प्रति उनकी सहानुभूति थी। आगे चलकर यद्यपि उनकी इस सहानुभूति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो गया तथापि उनके कथोपकथन तथा दृश्य-वर्णन में प्राचीन परिपाटी का रंग मिलता है। वर्जित दृश्य दिखाने में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता से काम लिया है। इस प्रकार वह कहीं प्राचीन और कहीं नवीन, दोनों एक साथ हैं।

[३] प्रसाद के नाटकों पर सामयिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का भी प्रभाव है उन्होंने भारतीय आख्यान के पुरातन कलेवर मे नूतन-प्राण प्रतिष्ठा कर दी है। भारतेन्दु-काल में लोगों का अंगरेजी सत्ता में विश्वास था, पर बंगाल-विभाजन के पश्चात् स्वदेश-प्रेम और स्वराज्य की जो लहर फैली उसने देश की राजनीति को ही नहीं साहित्य को भी प्रभावित किया। प्रसाद इस प्रभाव से वञ्चित न रह सके। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण,

उज्ज्वल और पवित्र चित्र भर दिये कि अतीत हमारे लिए वर्तमान हो गया। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा यदि पुरुष-चरित्रों में महान् हैं तो देवकी, देव सेना, अलका तथा वासवी भारतीय देवियों के चित्र हैं। ऐसे चरित्र हमारे लिए प्राचीन होने पर भी चिर नवीन हैं।

[४] प्रसाद प्राचीन साहित्य-प्रेमी हैं। उन्हें अपने प्राचीन गौरव से विशेष प्रेम है। प्रत्येक युग एक दूसरे युग का जन्मदाता होता है, अतएव वर्तमान को समझने के लिए हमें भूतकाल की ओर तथा भविष्य को समझने के लिए वर्तमान काल की ओर दृष्टिपात करना पड़ता है। इतिहास से हमें इसी प्रकार के दृष्टिपात के लिए एक प्रकाश मिलता है जिसकी साहित्य में हम अवहेलना नहीं कर सकते। प्रसाद के नाटक प्राचीन भारत की जो झाकी हमारे सामने उपस्थित करते हैं उससे हमें प्रोत्साहन मिलता है। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उनके सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनका यह इतिहास-प्रेम कहीं-कहीं अहितकर भी हुआ है। इससे उनका कलाकार का रूप दब-सा गया है और वस्तु संकलन तथा कार्य-संकलन पर भी आघात पहुँचा है, पर इन दोषों के होते हुए भी उनका नाट्य-साहित्य अपने में महान् है।

[५] प्रसाद पहले रहस्यवादी कवि और बाद में नाटककार है। इसलिए उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर कथोपकथन करते हैं। पर सर्वत्र सभी पात्रों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। प्रसाद की शैली और विचार का क्रमशः विकास हुआ है। इसीलिए उनके नाटक असम महत्त्व के हैं। उनकी भाषा, उनकी शैली, उनकी विचारधारा पात्रों के योग्य तथा देश और काल के सम्यक् प्रभाव से बदलती रहती है। भावावेश में ही उनकी भाषा, कल्पना और अलंकारों का उपयोग करती है और धीरे-धीरे कवित्त्व का रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही अवसरों पर उन्होंने अपने नाटकों में गीतों का समावेश किया है।

[६] प्रसाद के नाटकों में उनकी दार्शनिकता के कारण गंभीरता आ गई है। इसीलिए उसमें हास्य-रस का एक प्रकार से अभाव है। उनके नाटकों में करुण, शान्त और शृंगार रसों की प्रधानता है। प्रत्येक नाटक का अवसान प्रायः शान्त रस में होता है।

[७] प्रसाद नियतिवादी कलाकार हैं। उनका नियतिवाद उनके नाटकों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है, पर वह उनकी निराशा का, उनकी अकर्मण्यता का कारण नहीं बनता। कबीर की भाँति वह नियति से जूझने का, उससे लोहा लेने का प्रयास करते हैं। नियति-सम्बन्धी उनकी यह धारणा उनकी विचारधारा को, उनके साहित्य को, ऊँचा उठाने में समर्थ हुई है।

प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय

हम यह बता चुके हैं कि प्रसाद के नाटकों पर बँगला-साहित्य के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव है, पर प्रसाद की मौलिकता तथा विषय की गम्भीरता ने उसे उभरने का अवसर नहीं दिया। इसीलिए दोनों कलाकारों की कृत्तियों में हमें महान् अन्तर दिखाई देता है। दोनों इतिहास-प्रेमी हैं, भारत के प्राचीन वैभव के उपासक हैं; पर जहाँ प्रसाद अपने नाटकों की सामग्री बौद्धकालीन भारत से ग्रहण करते हैं वहाँ राय बाबू मुग़लकालीन भारत से अपने नाटकों की कथावस्तु का संकलन करते हैं। हिन्दू राष्ट्रीयता की दृष्टि से बौद्धकालीन भारत मुग़लकालीन भारत की अपेक्षा अधिक वैभवपूर्ण और ओजस्वी रहा है। बौद्धकालीन भारत में हमारी सभ्यता और संस्कृत का जो रूप है वह मुग़ल-काल में मिलना दुर्लभ है। मुग़ल-काल हमारी पराजय का—हमारे ह्रास का—काल है; बौद्ध-काल हमारे उत्त्थान, यश और वैभव का। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों का क्षेत्र द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर, रहस्यमय और भारतीय है। इसके अतिरिक्त राय बाबू के नाटकों में मानव-हृदय और मस्तिष्क का वह अन्तर्द्वन्द्व नहीं है जो हमें प्रसाद के

नाटकों में देखने को मिलता है। राय बाबू के नाटकों का मुख्य उद्देश्य है वंगीय रंगमंच को उन्नत करना और लोकरुचि के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करना। इसीलिए उनकी रचनाएँ अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान न होकर घटना-प्रधान है। इसके विरुद्ध प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना साहित्य को ऊँचा उठाने और उसका गौरव बढ़ाने के विचार से की है। वह अपने नाटकों में न तो लोक-रुचि की चिन्ता करते है और न रंगमंच की। राजनीतिक क्रान्ति, प्रणय के घात-प्रतिघात और आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व के बीच वह साहित्य को कल्याणकारी साहित्य को—जन्म देते हैं। उनका उद्देश्य है मानव-प्रवृत्तियों का संस्कार। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए वह अपने नाटकों में उतनी ही घटनाओं का सन्निवेश करते है जितनी से उन्हे अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने में सहायता मिलती है। पर द्विजेन्द्र बाबू का उद्देश्य मानव-प्रवृत्तियों का संघर्ष उपस्थित करना नहीं है। इसलिए उनके नाटकों में उतने ही अन्तर्द्वन्द्व है जितने से कथावस्तु के विकास में सहायता मिलती है। यही कारण है कि राय बाबू के नाटकों में हमें जीवन की ऊपरी चहल-पहल मिलती है और प्रसाद के नाटकों में जीवन की गंभीरता।

प्रसाद तथा राय बाबू की नाट्य-कला के सम्बन्ध में जो अन्तर ऊपर की पंक्तियों में दिखाया गया है वही अन्तर न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अन्य नाटककारों की नाट्य कला मे पाया जाता है। इस समय हिन्दी-साहित्य में लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा. उग्र, सुदर्शन, भट्ट जी आदि उत्कृष्ट लेखक हैं, पर इन कलाकारों की कृतियों के पीछे वह साधना और वह अध्ययन नहीं है जिसके लिए प्रसाद के नाटक प्रसिद्ध है। प्रसाद ने अपने नाटकों की कथा वस्तु-सामग्री पर वर्षों मनन किया है, उसे सजाया और सँवारा है और तब उसे साहित्य का रूप दिया है। उन्होंने अपनी ऐसी कृतियों से ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य को ऊँचा उठाया है और उसे एक नवीन

दिशा की ओर अग्रसर किया है। उनके नाटकों के अध्ययन से हमारी अतीत की स्मृतियाँ जाग्रत होती हैं, हमारी भावनाओं का संस्कार होता है, हमारी राष्ट्रीयता को बल मिलता है और हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा होती है। उनके नाटकों में हम देख सकते हैं कि हम क्या थे और अब क्या हैं। इस प्रकार प्रसाद अपने नाटकों में नवभारत के सृष्टा और उसके पथ-प्रदर्शक हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के वह अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अपने आदर्शों की स्वयं रचना और रक्षा की है। इसीलिए वह प्रभावित होकर भी प्रभावित-से नहीं जान पड़ते। वह अपनी रचनाओं में अक्षरशः मौलिक हैं। उन्होंने अपनी रुचि और अपनी प्रतिभा के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली है और उसका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

प्रसाद ने उपन्यास, कहानी और नाटक ही नहीं, उत्कृष्ट निबन्ध भी लिखे हैं। उनके निबन्ध की तीन श्रेणियाँ है। पहली श्रेणी में उनके वे निबन्ध आते हैं जो आरंभिक काल में लिखे गये हैं और चित्राधार में प्रकाशित हुए हैं। चित्राधार में पाँच प्रबन्ध हैं—दो कथा-प्रबन्ध के रूप में और तीन गद्य-काव्य के रूप में। इन निबन्धों की शैली शिथिल, असंयत और बिखरी हुई है। उनके दूसरे प्रकार के वे निबन्ध हैं जो उन्होंने भूमिका के रूप में लिखे हैं। इन निबन्धों से उनकी साहित्यिक पहुँच, उनकी अध्ययनशीलता तथा उनके साहित्यिक आदर्शों का पता चलता है। कामायनी महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् इन्द्र पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था और उसके लिए उन्होंने सामग्री भी एकत्र की थी। यह सामग्री निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुई और इससे पता चला कि इन्द्र ही प्राचीन आर्यवन के प्रथम सम्राट् थे। इससे प्रसाद की प्रखर प्रतिभा और गवेषणाशक्ति का आभास मिल जाता है।

प्रसाद का निबन्ध-साहित्य

तीसरी श्रेणी में प्रसाद के उन निबन्धों की गणना की जाती है जिन का संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से किया गया है। यह निबन्ध-भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों की, उनके प्रथम निबन्धों से, तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने बीस वर्ष की अवधि में अपने को कितना ऊँचा उठाया है।

प्रसाद की प्रतिभा के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वह प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। हम यह भी लिख चुके हैं कि उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण से ही सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा मिली थी। वह अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों की कविताओं का आनन्द लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात काल में जो कविताएँ कीं, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। इस प्रकार वह प्राचीन युग की काव्य-साधना से निकलकर नवीन युग की काव्य-साधना के अग्रगामी बन गये। रचना-क्रम के अनुसार उन्होंने आठ काव्य-ग्रन्थ—१. चित्राधार, २. कानन-कुसुम, ३. महाराणा का महत्त्व, ४. प्रेम-पथिक, ५. झरना, ६. आँसू, ७. लहर और ८. कामायनी—लिखे हैं। इन काव्य-ग्रन्थों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

प्रसाद की काव्य-साधना

१. काव्य-विषय में नवीनता—प्रसाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह वह समय था, जब उसमें अनैसर्गिक काव्य-व्यापार चल रहा था। उसमें यदि एक ओर रीतिकालीन परम्पराओं का पृष्ट-पेषण हो रहा था तो दूसरी

और भारतेन्दु के प्रभाव के कारण प्रतिक्रिया के रूप में कुछ ऐसे आदर्शों की स्थापना का प्रयास हो रहा था जो काव्य की आत्मा को ऊँचा उठानेवाले नहीं थे; अतः हिन्दी कविता इस द्वन्द्व में पड़ी छटपटा रही थी। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसे समय में प्रसाद ने जन्म लेकर उसे नवीन विषयों से अलंकृत किया। उन्होंने उसकी मूर्च्छना दूर की, उसके बन्धनों को काट दिया और उसे नवजागरण का संदेश देकर उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया।

२. भाव-जगत् का संस्कार—हिन्दी-काव्य-साहित्य में नवीन विषयों के सन्निवेश के साथ ही प्रसाद ने उसे सस्ती और विकृति भावुकता के भँवर से निकालकर एक दृढ़, स्वस्थ, और सन्तुलित मानसिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया। उनके समय में कवियों के दो वर्ग थे—एक वर्ग शृंगार के नाम पर नारी-शरीर का अत्यन्त स्थूल और उत्तेजक वर्णन कर रहा था और दूसरा उसका बहिष्कार। काव्य-साहित्य के लिए इस प्रकार की दोनों धारणाएँ अहितकर थीं। इसलिए प्रसाद ने एक सच्चे कलाविद् के रूप में पहली बार विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह किया और उसके स्वास्थ्यकर और व्यापक रूप का परिचय दिया। वह प्रारंभ से ही मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यिक पृष्ठभूमि की रचना में संलग्न हुए। इसके लिए उन्होंने प्रकृति को अपना उपादान बनाया और उसी में सनातन पुरुष की विराट् प्रकृति-नारी का सौंदर्य देखा। ऐसा करने में उन्होंने दो आदर्शों की पूर्ति की। एक ओर तो उन्होंने शृङ्गार के विकृत स्वरूप का परिष्कार और परिमार्जन किया और दूसरी ओर मनुष्य और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया। धीरे-धीरे यही सामञ्जस्य विकसित और प्रस्फुटित होकर करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति तथा विश्व-प्रेम में परिणत हो गया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रसाद का समस्त साहित्य इन्हीं पूत भावनाओं से ओत-प्रोत है।

३. नवीन कल्पना की सृष्टि—भाव के अतिरिक्त कल्पना और

सौंदर्य का भी काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए प्रसाद ने अपने काव्य में कल्पना तथा सौंदर्य का भी विधान बड़े कलात्मक ढंग से किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं तथा उनके बाहुल्य के कारण काव्य का संतुलन विकृत हो गया है, पर इस दोष के कारण उनका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के काव्य में कल्पना लांछित थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय नवीन कल्पनाओं की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। प्रसाद ने नई कल्पनाओं से सर्वप्रथम कविता-कामिनी का शृंगार किया। आँसू, झरना, लहर तथा कामायनी उनकी कल्पनाओं में का सौष्ठव और शृंगार देखने योग्य है। आँसू और कामायनी में का भव्य प्रासाद तो कल्पना के ही आधार पर खड़ा किया गया है। इन काव्य ग्रन्थों में कवि की कल्पना ने पृथ्वी से उठकर आकाश का चुम्बन किया है। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्व काल में जो कल्पना काव्य-परम्पराओं से जकड़ी हुई थी, प्रसाद ने अपने काव्य में उसे मुक्तकुंतला नारी के समान पागल बना दिया है। इस पागलपन का कारण उनके काव्य का रहस्य-वादी पक्ष है।

४. मानवीय सौंदर्य का चित्रण—प्रसाद का अधिकांश काव्य मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। वह प्रथमतः अशरीरी और अमूर्त भावों तथा विचारों के कवि हैं। शुद्ध मानव-सौंदर्य के चित्रण का प्रयत्न कामयानी में हुआ है। चिंतित मनु का वर्णन देखिए :—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान

गर्भिणी चिन्ता का चित्र देखिए :—

केतकी गर्भ-सा पीला मुख, आँखों में आलस भरा स्नेह
कुश कृशता नई लजीली थी, कंपित लतिका सी लिए देह

इड़ा का रूपकमय चित्रण देखिए :—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग, देते अनुराग-विराग ढाल

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद मानव-सौंदर्य के चित्रण में बड़े कुशल थे। उनकी दृष्टि बाह्य सौंदर्य के तरलतम तत्वों पर ही पड़ती थी। नारी-सौंदर्य के चित्रण की जो परम्परा विद्यापति और सूरदास के काव्य में होती हुई देव और पद्माकर तक पहुँची थी, उसके वह विरोधी थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को नारी के नग्न सौंदर्य के चित्रण से सर्वथा अछूता रखा।

५. प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण—मानवीय सौंदर्य के चित्रण के साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण भी प्रसाद के काव्य की एक विशेषता है। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी दृष्टि सर्वप्रथम प्रकृति के सौंदर्यपूर्ण गति-विधानों पर ही गई थी। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी काव्य-प्रेरणा का मुख्य आधार प्राकृतिक सौंदर्य ही है। प्राकृतिक सौंदर्य ने ही उनकी काव्य-कला को वाणी दी है और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया है। उनकी समस्त रचनाएं प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य में हमें प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं, रहस्यात्मक इसलिए कि उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम को दर्शन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा किया है। कामायनी में प्रकृति के इसी विराट् एवं रहस्यमय रूप का अंकन है। उसकी कथावस्तु में प्रकृति को इस प्रकार गूँथ दिया गया है कि दोनों को पृथक् करना कठिन हो जाता है। आरंभ में प्रलय का चित्र देखिए :—

नीचे जल था, ऊपर हिम था एक तरल था, एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन

प्रकृति की रहस्यमयी सत्ता का एक चित्र देखिए :—

महानील उस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत कण करते हैं किसका संधान

'लहर' में सूर्योदय का एक सुन्दर चित्र देखिए :—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

वस्तुतः प्रसाद के प्राकृतिक चित्रों का ऐश्वर्य और उनका वैभव अद्भुत है। वह जिस दृश्य का वर्णन करते हैं, उसका पूरा चित्र कुशल चित्रकार की भाँति पाठकों के सामने उतार देते हैं।

६. भाव-सौंदर्य की स्थापना—हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही मार्मिक, सजीव और हृदयग्राही चित्र उतारे हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी और कुछ प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी। इन कविताओं में भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं है जितनी विषय-विन्यास की नवीनता है। प्रसाद का भाव-सौंदर्य देखने के लिए हमें आँसू, झरना, लहर कामायनी तथा नाटकीय गीतों का अध्ययन करना चाहिए। इन काव्य-ग्रन्थों में भावों का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद हर्ष-विषाद-युक्त मानवीय मनोभावों के कवि हैं। वह मानवीय मनोभावों से इतने प्रभावित हैं कि मानव ही उनके चिन्तन की इकाई बन गया है। हमें उनकी रचनाओं में सौंदर्य और प्रेम के मनोवृत्यात्मक

तथा वर्णनात्मक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का प्राकृतिक सौंदर्य के साथ इस प्रकार गँठबन्धन हो गया है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण प्रतीत होता है। उनके सौंदर्य और प्रेम में ऐहिक भावना के साथ-साथ मानवीय मनोवृत्तियों को उन्नत रूप देनेवाली उदात्त भावनाएँ भी हैं। उनकी ऐसी ही उदात्त भावनाओं में ही हमें उनके रहस्यवाद का परिचय मिलता है। यौवन के प्रति कवि के आग्रह का एक चित्र लीजिए :—

> यौवन! तेरी चंचल छाया।
> इसमें बैठ घूँट भर पीलूँ जो रस तू है लाया।

प्रसाद के यौवन के चित्र बड़े संयत, गम्भीर और आदर्श की पूर्ति में सहायक होते हैं। यद्यपि ऐसे चित्रों के अंकन में कल्पना का योग अत्यधिक रहता है तथापि वे वास्तविक-से जान पड़ते हैं। यौवन का एक चित्र लीजिए :—

> शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
> जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आये।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद अपने भावों के सुन्दर चित्र उतारने में बड़े कुशल हैं। उनकी भावाभिव्यंजना आकर्षक, सरस, सांकेतिक और वैभवयुक्त होती है।

७. रहस्यवाद और छायावाद—प्रसाद वर्तमान युग के प्रथम छायावादी कवि थे। उन्होंने हिन्दी-काव्य-जगत् में छायावाद की मधुर रागिनी उस समय छेड़ी थी जिस समय बँगला-साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की धूम थी। वह उनकी गीताञ्जलि से बहुत प्रभावित थे। हम पहले कह चुके हैं कि उनके कवि-रूप को सार्थक बनाने में प्रकृति का बड़ा हाथ था। वस्तुतः प्रकृति ही उनके मस्तिष्क और हृदय को, उनके विचारों और भावों को एक सूत्र में बाँधकर अभिनव रूप देने में

समर्थ हुई थी। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति अपने मनमोहक रतिरूप में खड़ी होकर उन्हें अपनी ओर बुला रही थी और वह उसके संकेत पर उसकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। प्रकृति-सुन्दरी के इस प्रकार के आकर्षण के साथ-साथ उन पर अद्वैतवाद, का भी प्रभाव था। ऐसी दशा में उनका छायावादी हो जाना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद को छायावादी कवि बनाने में चार बातें मुख्य हैं—१. प्रकृति-प्रेम, २. अज्ञात के प्रति उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, ३. दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन और ४. गीताञ्जलि का प्रभाव। इन्हीं प्रभावों के कारण उन्होंने प्रकृति में मनुष्य का—मानव जीवन-का—प्रतिबिम्ब देखा है और उसे कवि की हैसियत से चित्रित किया है। छायावादियों के दो वर्ग होते हैं—एक तो अन्योक्ति कहकर उपदेश देनेवाले और दूसरे कवि। प्रसाद दीनदयाल गिरि की भाँति अन्योक्तियों का सहारा लेकर उपदेश नहीं देते। वह छायावादी कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वह बाह्य परिस्थितियों की भावुकता से संचालक अथवा उनसे संचालित जीवन के रहस्यों से उद्वेलित होते हैं। ऐसी दशा जब उनके काव्य-जीवन में आती है तब वह रहस्यवादी हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद अपनी रचनाओं में कहीं छायावादी और कहीं रहस्यवादी के रूप में आते हैं। छायावादी कवियों की भाँति रहस्यवादी कवि भी दो प्रकार के होते हैं—एक विचारक और दूसरे कवि। प्रसाद रहस्यवादी कवि हैं और उनके ये दोनों रूप—छायावादी और रहस्यवादी—आनन्दमय हैं। रहस्यवादी कवि के रूप में वह आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए हैं और छायावादी कवि के रूप में वह प्राकृतिक सौंदर्य में मानव-जीवन का सौंदर्य देखते हैं। छायावाद का उदाहरण लीजिए :—

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

गूँज उठी तेरी पुकार कुछ मुझको भी दे देना,
कन कन विभवदान कर अपना यश ले लेना।

रहस्यवाद का उदाहरण लीजिए :—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ॥
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान॥

८. प्रेम-साधना—प्रसाद प्रेम और वासना की मीमांसा करनेवाले हिन्दी के प्रथम कवि हैं। प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है। उनका प्रेम-निरूपण न तो एकदम अलौकिक है और न एकदम लौकिक। लौकिक और अलौकिक के बीच उनके प्रेम का विकास हुआ है। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का संकेत पाता है। प्रेम निरुपण की यह धारणा सर्वथा नवीन है। भक्ति-काल के कवियों ने प्रेम को इतना ईश्वरोन्मुख बना दिया था कि उसमें लौकिक पक्ष का अभाव हो गया था। इसके विरुद्ध रीतिकाल में कवियों ने प्रेम के लौकिक पक्ष को ही प्रधानता दी थी। प्रसाद ने इन दोनों मार्गों के बीच अपना मार्ग बनाया। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय संस्कृति और युगानुकूल भावना का भी ध्यान रखा। वह जीवन को अनन्त मानते थे, इसलिए उनकी प्रेमभावना भी अनन्त थी। कामायनी में उन्होंने प्रेम के राजस, तामस और सात्विक तीनों रूपों का चित्रण किया है। इड़ा राजस प्रेम की प्रतीक है, मनु तामस प्रेम के प्रतीक हैं और श्रद्धा सात्विक प्रेम की प्रतीक है। श्रद्धा प्रेम का संदेश लेकर आई है। मनु का प्रेम उद्दाम, वासना-प्रधान और कायिक है। काम और वासना शीर्षक सर्गों में इसी उद्दाम प्रेम की विस्तृत मीमांसा की गई है।

प्रसाद मुख्यतः भाव-लोक के कवि हैं और रीतिकालीन परम्पराओं की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसलिए हम उनके काव्य में अलंकार अथवा रस की कोई निश्चित योजना नहीं पाते। भावों का चित्रण ही उनके काव्य का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में अलंकारों तथा रसों का विधान गौण रूप से हुआ है। उनकी रचनाओं में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अधिक मिलते हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी अनूठी और आकर्षक होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में जहाँ उन्होंने अलंकारों का उपयोग किया है, वहाँ भी उपमा, रूपक इत्यादि की ही अधिकता है और रूपकों में भी नारी-सापेक्ष्य प्रकृति की सांग रूपकता ही का प्राधान्य है।

प्रसाद की अलंकार और रस-योजना

अलंकारों की भाँति रसों का आयोजन भी प्रसाद के साहित्य में गौण है। उनके काव्य में रस परिपाक अपने स्वाभाविक रूप में हुआ है। भावों तथा कल्पनाओं की क्लिष्टता के कारण कहीं-कहीं वाधाएँ भी उपस्थित हुई हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार-रस-प्रधान होती हैं जिनका अवसान शान्त रस में होता है। इन दो रसों के अतिरिक्त करुण-रस भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य कई छन्दों में है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ प्रायः घनाक्षरी में हैं। खड़ीबोली में अपने विशिष्ट काव्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने नये छन्दों का आयोजन किया है। इन नये छन्दों में अतुकान्त कविताओं का प्रमुख स्थान है। प्रेम-पथिक इसी छन्द में लिखा गया है। यद्यपि उनके पहले भी कुछ अतुकान्त कविताएँ लिखी गई थीं तथापि भाव एवं भाषा के सामञ्जस्य की दृष्टि से जैसी रोचकता प्रसाद के सतुकान्त छन्दों में पाई जाती है, वैसी उनमें नहीं है। प्रसाद ने भाव और छन्द को एक नवीन आवरण

प्रसाद की छंद-योजना

देने की अभिलाषा से ही अतुकान्त छन्दों की सृष्टि की। काव्य में अतुकान्त छन्दों की आवश्यकता पड़ती है गीति-नाट्य अथवा कथात्मक प्रबन्ध-काव्य में। प्रसाद ने गीति नाट्य-'करुणालय' अतुकान्त छन्दों में ही लिखा। इस समय अतुकान्त छन्द के दो रूप सामने हैं—एक गुप्त जी द्वारा अनुवादित मेघनाद-वध का घनाक्षरी से उत्पन्न मिताक्षरी छन्द और दूसरा घनाक्षरी के प्रवाह के अनुरूप निराला का अतुकान्त मुक्त छन्द। प्रेम-पथिक के अतिरिक्त प्रसाद ने जो अतुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह प्रायः घनाक्षरी छन्द के प्रवाह पर ही चली हैं। प्रेम-पथिक में उनके अतुकान्त छन्दों का नवीन प्रयोग है। अपने इस प्रयोग में भी वह सफल हैं। उन्होंने पन्त और निराला जैसी स्वतंत्रता से अपने अतुकान्त छन्दों में काम नहीं लिया है। उन्होंने 'सानेट' (Sonnet) जैसे अँगरेजी और त्रिपदी और पयार जैसे बंगाली छन्दों का भी बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अपने काव्य-ग्रन्थ 'आँसू' में उन्होंने एक निश्चित छन्द का प्रयोग किया है। यह बड़ा लोक-प्रिय छन्द है। कामायनी का अन्तिम सर्ग इसी छन्द में लिखा गया है। इन छन्दों के अतिरिक्त कामायनी में ताटंक, पदाकुलक, रूपमाला, सार, रोला आदि छन्द भी मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अपनी छन्द-योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं।

भाषा की दृष्टि से प्रसाद का साहित्य अपनी कई विशेषताओं के साथ हमारे सामने आता है। हम यह बता चुके हैं कि वह उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवयुग का साहित्य निर्माण करने में भाषा का बहुत ध्यान रखा।

प्रसाद की भाषा

उनकी भाषा हमें दो रूपों में मिलती है—व्यावहारिक भाषा और संस्कृत-प्रधान भाषा। आरम्भ में उनकी रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी, पर ज्यों ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, विचारों और भावों में परिपक्वता आती गई त्यों त्यों उनकी भाषा भी गंभीर होती गई। इसीलिए उनकी

प्रारंभिक रचनाओं में हमें व्यावहारिक भाषा मिलती है। गद्य में उनकी भाषा खड़ीबोली है, पर पद्य में उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा खड़ी-बोली दोनों का प्रयोग किया है। इस कारण से उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रवाह में बाधा भी पड़ी है। इसके बाद हमें उनकी संस्कृत-प्रधान भाषा मिलती है। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गंभीर विषयों के विवेचन में ही उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त होने के कारण क्लिष्ट अवश्य हो गई है, पर उसकी स्वाभाविकता, और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं है। संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारों का अनुगमन मात्र करती है। उनका शब्द-चयन अद्वितीय है। उनकी रचनाओं में एक एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ ज्ञात होता है। उनके वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते हैं और विचारों की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। उनकी रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की भाँति प्रतीत होते हैं। मुहावरों का उनकी रचनाओं में अभाव है, पर वह खटकता नहीं। कुछ मुहावरे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं जिनसे उनका सौंदर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है। कहावतें तो मिलती ही नहीं। गम्भीर विषयों के विवेचन में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कदाचित् इसी कारण से उन्होंने मुहावरों तथा कहावतों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजाने की चेष्टा नहीं की। उनकी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी बहुत कम हैं। नाटकीय कथोपकथन में उनके समस्त पात्रों की भाषा एक-सी है, इसलिए उसमें अस्वाभाविकता आ गई है। पात्रों के अनुकूल ही उनकी भाषा का उतार-चढ़ाव होना चाहिए। नाटकों की भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से कठिन है, पर उसमें सर्वत्र माधुर्य, ओज और प्रवाह बना हुआ है। इन विशेषताओं

के अतिरिक्त उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते। मिल्टन और स्टीवेन्सन की भाँति उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है। वह विचारक समालोचक और तत्त्वदर्शी हैं। इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गंभीर विषयों में पहुँच है। पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों के साथ खेल किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपने मनोभावों के स्पष्टीकरण में सहायता ली है और वह सफल हुए हैं। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वह लिखते गये हैं त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, सौंदर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है।

प्रसाद की शैली

भाषा की भाँति प्रसाद की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। उनकी शैली पर उनके विषय उनकी, स्वाभाविक रुचि, उनके गंभीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्त्व का विशेष प्रभाव है। इसीलिए उसमें इतना अपनापन है, इतना 'प्रसादत्त्व' है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता। वह अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए-से जान पड़ते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। वह अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सहृदय भी। प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह ऐसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, जैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी शैली में [illegible] है। वह [illegible]

वह अपनी रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वह अपने पाठक के दुःख-सुख को, उसकी आशा-निराशा को, उसके उत्थान-पतन को, उसके अनुराग-विराग को समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वह भावावेश में आते हैं तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठक को अपने में निमग्न कर लेती है। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दों द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब जगह हमें उनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती है। कहीं-कहीं इस प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मार्मिक व्यंग का भी समावेश किया है। ऐसे स्थलों पर उनकी व्यंगात्मक शैली का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता दोनों समान रूप से लेते हैं। यह तो हुई उनके गद्य-साहित्य की बात। पद्य साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नये ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्त्व रखता है। वह अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अगरेजी, बँगला तथा संस्कृत साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके व्यक्तित्व की इतनी स्पष्ट छाप है कि उसका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में कहना चाहें तो केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी शैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमयी, प्रभावशाली, चुटीली और सम्वेदनशील होती है। चित्रोपमता उनकी शैली की विशेष गुण है।

के अतिरिक्त उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते। मिल्टन और स्टीवेन्सन की भाँति उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है। वह विचारक समालोचक और तत्त्वदर्शी हैं। इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गंभीर विषयों में पहुँच है। पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों के साथ खेल किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपने मनोभावों के स्पष्टीकरण में सहायता ली है और वह सफल हुए हैं। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वह लिखते गये हैं त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, माधुर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है।

प्रसाद की शैली

भाषा की भाँति प्रसाद की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। उनकी शैली पर उनके विषय उनकी, स्वाभाविक रुचि, उनके गंभीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है। इसलिए उसमें इतना अपनापन है, इतना 'प्रसादत्व' है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता। वह अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए-से जान पड़ते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। वह अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सहृदय भी। प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह जैसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है। वह चमत्कार

वह अपनी रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वह अपने पाठक के दुःख-सुख को, उसकी आशा-निराशा को, उसके उत्थान-पतन को, उसके अनुराग-विराग को समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वह भावावेश में आते है तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठक को अपने में निमग्न कर लेती है। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दो द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब जगह हमें उनकी शैली ी यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती है। कहीं-कहीं इस प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए उन्होने अपनी रचनाओं में मार्मिक व्यंग का भी समावेश किया है। ऐसे स्थलों पर उनकी व्यंगात्मक शैली का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता दोनों समान रूप से लेते हैं। यह तो हुई उनके गद्य-साहित्य की बात। पद्य साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नये ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्त्व रखता है। वह अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अंगरेजी, बँगला तथा संस्कृत साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके व्यक्तित्व की इतना स्पष्ट छाप है कि उसका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में कहना चाहे तो केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी शैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमयी, प्रभावशाली, चुटीली और सम्वेदनशील होती है। चित्रोपमता उनकी शैली की विशेषगुण है।

अब तक हमने प्रसाद और उनके साहित्य के विभिन्न अंगों पर जिस दृष्टि से, संक्षेप में, विचार किया है उससे स्पष्ट है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के वह निर्माता थे। उन्होंने अपने अध्ययन और चिन्तन से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और अपनी रचनाओं का दान देकर उसे सबल और प्रौढ़ बनाया। क्या नाटक, क्या कहानी और उपन्यास; क्या गीतिकाव्य और महाकाव्य, क्या इतिहास और निबन्ध सब उनकी प्रतिभा से पवित्र और पुष्ट हुए हैं। एक ओर उनकी कविताएँ साहित्य के निष्णात पंडितों और आचार्यों के समीप समादृत हुई हैं तो दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनेक कवियों का पथ-प्रदर्शन किया है। हिन्दी के कथा-क्षेत्र में वह एक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। उनका नाट्य-साहित्य अपने ढंग का निराला और अद्वितीय है। उसमें पात्रों की नवीनता और भावों की गम्भीरता के साथ-साथ चरित्र-चित्रण का सौंदर्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। उनके उपन्यास उच्च वस्तुवादी कला के श्रेष्ठतम् उदाहरण हैं और उनमें समाज-निर्माण की कई नवीन समस्याओं का विश्लेषण है। जिस प्रकार गुप्त जी को काव्य के क्षेत्र में कथा-वस्तु-द्वारा भावोद्भावना होती है उसी प्रकार प्रसाद को उपन्यास के क्षेत्र में भाव एवं विचार द्वारा कथा-सृष्टि की स्फूर्ति मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में निम्न वर्ग के—ग्रामीण जीवन के—चित्र बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं और प्रसाद ने उच्च वर्ग के नागरिक जीवन के। इसीलिए प्रसाद के पात्र अपनी-अपनी शिक्षा के आलोक में प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता और विचारक हैं। उनमें पतितों के प्रति सहानुभूति और करुणा का भाव है। इसका एक कारण है। प्रसाद ने अपनी साहित्य-साधना में बौद्ध-साहित्य एवं दर्शन से करुणा का बौद्धिक दृष्टिकोण ग्रहण किया और हिन्दू-दर्शन एवं उपनिषद्,

प्रसाद का हिन्दी-साहित्य में स्थान

विशेशतः वेदान्त से स्थायी एवं विराट् चेतना का आधार लिया। इसके साथ शैव-तत्त्व-ज्ञान से उनको आनन्द और उत्फुल्लता तथा उसी के साथ शक्ति के अभेदत्त्व की अनुभूति प्राप्त हुई। इस प्रकार तीन तत्त्व-ज्ञानों से उन्होंने अपनी साधना का सूत्र ग्रहण किया और उसको अपनी बुद्धि एवं चेतना के प्रकाश में एक उज्ज्वल और कल्याणकारी रूप प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी साधना का सारा आधार बौद्धिक था। अपनी इसी बौद्धिक प्रतिभा और शक्ति के कारण उन्होंने जीवन के अनेक संघर्षों से लोहा लिया और अन्ततः साहित्य-स्रष्टा के रूप में सफल हुए। उनका जन्म दो शताब्दियों के संक्रान्ति में हुआ था। वह उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हुए और बीसवीं सदी में पनपे, पर इन दोनों सदियों के प्रभाव से अपने बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही वह अपने आपको बचा सके। वह स्वयं अपने निर्माता बने। उन्होंने इन दोनों शताब्दियों के बीच से होकर जानेवाले मार्ग का अनुसरण किया। इसलिए वह हमारे सामने प्राचीनता और नवीनता दोनों एक साथ लेकर आये। उनकी प्राचीनता में नवीनता और नवीनता में प्राचीनता थी। वह कहीं भी एकदम प्राचीन अथवा एकदम नवीन नहीं थे। क्या साहित्य में, क्या जीवन में उनके विकास की धारा दोनों कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। इस दृष्टि से जब हम उनके समकालीन कलाकारों की रचनाओं पर दृष्टिपात करते है तब हमें निराश होना पड़ता है। हम उनमें प्रसाद-जैसी न तो बौद्धिक शक्ति पाते हैं और न निश्चित विकास की रेखा। कोई साहित्यकार अपनी कृत्तियों की गिनती गिनाकर ही साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी नहीं बन जाता। प्रसाद का महत्त्व हिन्दी-साहित्य में उनके प्रकाशनों की संख्या के कारण नहीं, वरन् उनकी बौद्धिक प्रतिभा और उस प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास के कारण है। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि जब से उन्होंने लिखना प्रारंभ किया तब से वह सदा आगे ही बढ़ते रहे और अन्त में 'कामायनी' के रूप में उन्होंने हिन्दी को ऐसा सुन्दर दान दिया जिसकी जोड़ का

आधुनिक साहित्य में कोई ग्रन्थ नहीं है। आप 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक की उनकी समस्त रचनाएँ उठा लीजिए। किसी स्थल पर भी आप उन्हें लड़खड़ाते हुए, नीचे गिरते हुए नहीं पायेंगे। उनकी रचनाएँ वस्तुतः उनके साहित्यिक जीवन की श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणी का एक निजी महत्त्व है और वह उन्हें ऊँचा उठाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और उसकी भावधारा पर जीवन के बौद्धिक दृष्टिकोण का अंकुश लगा दिया। एक सच्चे साहित्यकार का यही काम है।

प्रसाद की साहित्य-साधना के सम्बन्ध में हम पिछले पृष्ठों में बहुत कुछ कह चुके हैं। हम देख चुके हैं कि साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच थी। वस्तुतः वह हिन्दी के रवीन्द्रनाथ थे। जो कार्य रवीन्द्रनाथ ने बंग-साहित्य में किया, वही काम प्रसाद ने हिन्दी में किया। बंग-साहित्य का परिष्कार एवं परिमार्जन करने में जिन कठिनाइयों और परिस्थितियों का अनुभव रवीन्द्रनाथ को करना ड़ा, प्रसाद की कठिनाइयाँ उनसे कम नहीं थीं। साहित्य-साधना के क्षेत्र में दोनों कलाकार एक ही परिस्थिति से गुज़रे हैं और अपने-अपने पथ के स्वयं निर्देशक और निर्माता रहे हैं। इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा और अनुभूति की मात्रा में अन्तर हो सकता है, पर जैसे रवीन्द्रनाथ ने नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध, गीति-नाट्य सभी कुछ सफलता के साथ लिखा है उसी प्रकार प्रसाद से भी साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारतापूर्वक अपनी प्रतिभा का दान किया है। इतना होते हुए भी प्रसाद को रवीन्द्रनाथ की सी लोक-प्रियता नसीब नहीं हुई। इसका कारण प्रसाद के पक्ष में उपयुक्त साधनों का अभाव था। प्रसाद हिन्दी-साहित्य के मौन साधक थे। कहीं जाना और वाद-विवाद में भाग लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। वह कला-कार का साहित्यिक बाजारों और मेलों में जाना उचित नहीं समझते थे। अपने घर से दूकान तक और फिर दूकान से घर तक—बस इतनी ही दूर उनका आना-जाना होता था। इसलिए वह अपने पाठकों का

कोई समुदाय नहीं बना सके। रवीन्द्रनाथ के पाठकों का एक समुदाय था जिसने उन्हें ऊँचा उठा दिया। इसलिए रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हो गये और प्रसाद हिन्दी-साहित्य तक ही सीमित रह गये, पर इससे उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के प्रति जनता की रुचि ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों प्रसाद की कला से वह प्रभावित होती गई और आज वह उन्हें आधुनिक हिन्दी-कविता के पिता के रूप में देख रही है। प्रसाद का साहित्य इतना विस्तृत और महान् है कि उस पर बराबर नई-नई आलोचनाएँ निकलती जा रही हैं और उनकी काव्य-कला के सौंदर्य से लोग प्रभावित होते जा रहे हैं।

प्रसाद अपने प्रमुख रूप में कवि है। उनके एक इसी रूप में उनके कई रूपों का समाहार और अवसान हुआ है। वह एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। उनकी समस्त रचनाएँ एक आदर्श, एक उद्देश्य से बँधी हुई है। उनमें एक ही स्वर है और वह है करुणा, दया, सहानुभूति और विश्व-प्रेम का स्वर। वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को उनका यही संदेश है। दार्शनिक भाव-भूमि पर उन्होंने अपने इस सन्देश को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह अपने में महान् है। लाख चेष्टा करने पर भी उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हिन्दी के वह अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना के उड़ान में, अपने भावों तथा विचारों के समन्वय में, अपने प्रकृति-चित्रण में, अपने भावों को गीतात्मक रूप देने में वह नवयुग के साहित्य में अग्रगण्य हैं। उनके गीतों में जो सरसता है, जो प्रवाह, जो संगीत और मानव-जीवन का जो सत्य है उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे विश्व-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

प्रसाद हिन्दी के युगेतर कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में युग से ऊपर जीवन के महान् तत्त्वों में सामञ्जस्य लाने का सफल प्रयत्न किया है। वह मूलतः प्रेम, सौंदर्य और आनन्द के कवि हैं। अतः उनके काव्य के सारे उपकरण इन्हीं युगेतर तत्त्वों के आधार को पुष्ट करते हैं प्रकृति

का भी स्वतंत्र प्रयोग हम उनके काव्य में नहीं पाते। उन्होंने मानव के मनस्तत्त्व के स्थायी तत्त्वों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इस-लिए वह इस युग के कवि होते हुए भी कई युगों के कवि हैं। तुलसी की भाँति उन्होंने मानव-हृदय की दुर्बलताओं और शक्तियों को इतना टटोला और परखा है कि वे उनके काव्य में चिरन्तन सत्य हो गए हैं। काव्य के सम्बन्ध में उनकी एक निश्चित धारणा थी। वह उसे प्रतिदिन के उत्ताप से, दैनिक जीवन के कोलाहलपूर्ण वातावरण में केवल अपने युग की चीज बनाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में केवल उन्हीं समस्याओं को चित्रित किया जो शाश्वत और अमर हैं। पन्त और निराला की कृतियों में हमें यह बात नहीं मिलती। उन्होंने अपने युग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी परखा है। उनकी रचनाएँ कभी इस युग की समस्या लेकर आई हैं और कभी युगेतर की, पर प्रसाद का सर्वत्र एक ही स्वर है। यही प्रसाद की महत्ता है और इसीलिए हम उनके साहित्य को भारतीय साहित्य की परम निधि मानते हैं। वह अपनी रचनाओं में चिर नवीन, चिर जीवित और अमर हैं। हिन्दी उन्हें ऊँचा स्थान देकर आज अपना गौरव बढ़ा रही है।

— ६ —

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म सं० १९५३ जीवित

कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। उनके पिता, पं० रामसहाय त्रिपाठी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव ज़िले के गढ़कोला नामक गाँव के रहनेवाले थे, पर जीविका के कारण उन्हें बंगाल जाना पड़ा। बंगाल में वह मेदनीपुर के महिषा-दल राज्य में नौकरी करते थे। यहीं निराला जी का जन्म हुआ और यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। राज-दरबार की उनके पिता पर विशेष कृपा थी, इसलिए उसने अपनी ओर से निरालाजी की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया।

जीवन परिचय

निरालाजी अपनी बाल्यावस्था ही से स्वतंत्रता-प्रिय थे। किसी प्रकार का बन्धन उन्हें अप्रिय था। पाठशाला की बँधी पढ़ाई उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। इसलिए उन्होंने विविध दिशाओं में विविध

कलाओं का ज्ञान और अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। अध्ययन के अतिरिक्त उन्हें कुश्ती लड़ने और अश्वारोहण में भी विशेष आनन्द मिलता था। इन दोनों कलाओं में वह दक्ष थे। राजकीय कृपा के कारण उन्हें जीवन-निर्माण की सभी सुविधाएँ सुलभ थीं। संगीताचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण उन्हें संगीत से भी प्रेम हो गया और इस कला के भी वह पंडित हो गये। बँगला भाषा तो उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित थी। इसलिए उसका साहित्य उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने संस्कृत-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम था। अतः इसकी छाप उनके जीवन पर बराबर बनी रही।

निरालाजी धनी-परिवार के बालक थे। उन्हें अपने बचपन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हो चुका था। इससे दो सन्तानें हुईं—एक लड़का और एक लड़की। लड़की की तो मृत्यु हो गई, पर लड़का जीवित है। उनकी पत्नी, मनोहरा देवी विदुषी थीं। संगीत और साहित्य से उन्हें विशेष प्रेम था। निरालाजी को संगीत एवं साहित्य-साधना में उनसे विशेष प्रेरणा मिली थी और अपने दाम्पत्य जीवन से दोनों सन्तुष्ट थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् निरालाजी ने महिषा-दल राज्य में नौकरी भी कर ली थी। उन्हें आर्थिक संकट भी नहीं था। पर सन् १९१९ के पश्चात् उनके जीवन में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। २२-२३ वर्ष की अल्पावस्था में उनकी पत्नी का देहान्त हो जाने से उनकी जीवन-दिशा बदल गई। उन्होंने राज्य की नौकरी त्याग दी। इससे उन्हें आर्थिक संकटों का सामना अवश्य करना पड़ा, पर इस बात की उन्होंने चिन्ता नहीं की। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सबल था और वह जीवन के प्रत्येक संघर्ष से प्रसन्नतापूर्वक लोहा ले सकते थे।

इस समय तक निराला जी हिन्दी-साहित्यिकों के सम्पर्क में आ चुके थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उनकी प्रतिभा से भली-

भाँति परिचित हो चुके थे और उन्हें बराबर प्रोत्साहन दिया करते थे। इसलिए जब निरालाजी महिषा-दल राज्य से पृथक् हुए तब सम्वत् १९७८ में द्विवेदीजी ने उन्हें 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के प्रधान केन्द्र बेलूर मठ में 'समन्वय' का सम्पादन करने के लिए भेज दिया। निरालाजी को अपनी रुचि के अनुसार कार्य मिल गया। इस कार्य-भार को ग्रहण करने से उन्हें भारतीय दर्शन की नवीनतम् व्याख्या को निकट से अध्ययन करने का शुभ अवसर हाथ लग गया। अतः उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। इससे उनके अपरिपक्व विचारों में प्रौढ़ता और दार्शनिकता आ गई।

'समन्वय' कलकत्ता से निकलता था, पर जब कुछ दिनों पश्चात् वहाँ स्वर्गीय श्री महादेवप्रसाद सेठ द्वारा हिन्दी का नवीन आयोजन हुआ और 'मतवाला' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा तब निरालाजी इसके सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उनके विशेष प्रयत्नों से यह पत्र चमक उठा और थोड़े ही दिनों में वह अत्यन्त लोक-प्रिय हो गया। यह हास्य और व्यंग का प्रमुख पत्र था।

'मतवाला' में एक वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् निरालाजी कलकत्ता छोड़कर लखनऊ चले आये और वहाँ कुछ दिन रहकर अपने गाँव चले गये। गाँव से आकर उन्होंने पुनः लखनऊ को ही स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाना पसन्द किया, पर अधिक दिनों तक वहाँ उनका जी नहीं लगा। लखनऊ के पश्चात् उन्होंने प्रयाग को अपनाया। सम्वत् २००३ वि० में काशी की नागरी-प्रचारणी-सभा में उनकी जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई। इस जयन्ती में हिन्दी के बहुत से साहित्यकों ने भाग लिया और उनकी साहित्यक सेवाओं की मार्मिक शब्दों में प्रशंसा की। निरालाजी अभी जीवित हैं, पर शरीर और मन दोनों से वह शिथिल हो गये हैं। उनका साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो चुका है।

निरालाजी अपने विद्यार्थी जीवन से ही कविता-प्रेमी रहे हैं। जब

वह पाठशाला में पढ़ते थे तब कभी-कभी कविता भी किया करते थे। उस समय उनकी कविताएँ बँगला भाषा में होती थीं। हिन्दी-खड़ीबोली का ज्ञान उन्हें नहीं था। तुलसीकृत रामायण का पाठ करने के कारण उन्हें व्रजभाषा, अवधी और बैसवाड़ी का साधारण ज्ञान हो गया था। अतः कभी-कभी इन भाषाओं में तुकबन्दियाँ भी कर लिया करते थे। बाद को जब उन्होंने संस्कृत-भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तब इस भाषा में भी उन्होंने रचनाएँ कीं। अन्त में उन्होंने बड़े परिश्रम से खड़ीबोली सीखी। 'जुही की कली' खड़ीबोली में उनकी सर्वप्रथम रचना है। उनका पहला लेख हिन्दी और बँगला के सम्बन्ध में सन् १६१६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दो प्रारम्भिक रचनाओं से हिन्दी में उनके साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ और तब से अब तक वह अजस्र रूप के हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं। उनका साहित्यिक जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है। इस जीवन में प्रवेश करने पर उन्हें आचार्य द्विवेदी जी तथा श्री महादेवप्रसाद सेठ से अधिक प्रोत्साहन मिला है। निरालाजी ने स्वयं इन दोनों साहित्यकारों का आभार स्वीकार किया है। वस्तुतः निरालाजी को प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं दोनों व्यक्तियों को है। 'समन्वय' और 'मतवाला' उनके साहित्यिक जीवन के निर्माण में बहुत सहायक हुए हैं।

निराला की रचनाएँ

निरालाजी हिन्दी के युग प्रवर्त्तक कलाकार हैं। उनकी गणना द्विवेदी-युग के आरम्भ के द्वितीय खेवे के साहित्य-कारों में की जाती है। उनका साहित्यिक जीवन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १६१६ से आरम्भ होता है। तब से अब तक उन्होंने हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है। 'समन्वय' का सम्पादन करने के अतिरिक्त उन्होंने लगभग ५४ ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के परिवर्तन तथा विकास में उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है। उनके [illegible] हैं :—

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

१. काव्य—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा।

२. उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरूपमा, 'उ चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली।

३. कहानी-संग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की

४. रेखा-चित्र—कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

५. आलोचनात्मक निबन्ध संग्रह—प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध प्रति प्रबन्ध परिचय, रवीन्द्र कविता-कानन।

६. जीवनियाँ—राणा प्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला।

७. अनुवाद—महाभारत, श्री रामकृष्ण-वचनामृत चार भागों परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्दमठ चन्द्रशेखर, कृष्णकान्त का विल, दुर्गेशनन्दिनी, रजनी, युगलांगुलीय, राधारानी, तुलसीकृत रामायण की टीका, वात्सायनकृत कामसूत्र गोविन्द-दास पदावली पद्य में (अप्रकाशित)।

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में निरालाजी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वह सैकड़ों में शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। उनका शरीर उन्हें छिपा नहीं सकता। विशाल शरीर, तेजस्वी आँखें, लहराते हुए बाल और उनकी मस्तानी चाल को जिन्होंने एक बार देखा है वह उन्हें आजीवन भूल नहीं सकते। उनके मुख-मंडल की रेखाएँ किसी रोमन अथवा यूनानी मूर्ति की भाँति पूर्णतया व्यक्त, सुस्पष्ट और साथ ही सजीव भी हैं। उनकी वाणी में सिंह का-सा गर्जन और ओज है। जिस समय वह कविता-पाठ करने लगते हैं, उस समय उनकी वाणी में ओज और माधुर्य का अत्यन्त सुन्दर समन्वय सुनाई पड़ता है और वह मेघदूत के विरही यक्ष के आकार-प्रकार के-से परिलक्षित होते हैं। उनके कविता-पाठ करने की एक विशेष मुद्रा है जो इतनी प्रवाहपूर्ण, आकर्षक, गम्भीर और ओजस्वी है कि पाठक उसका अनुभव

निराला का व्यक्तित्व

करते ही मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। पाठक को अपनी ओजमयी वाणी से, अपनी संगीत की स्वर-लहरी से, अपने हाव-भाव से वह इतने शीघ्र आकृष्ट कर लेते हैं कि अन्य कवि उनकी इस कला की तुलना में टिक नहीं सकते।

निरालाजी आकारसदृश: प्रज्ञ हैं। शरीर की विशालता के साथ-साथ उनका हृदय और उनकी बुद्धि भी विशाल है। वह कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। बँगला, अवधी, ब्रजभाषा, हिन्दी, खड़ीबोली, संस्कृत, उर्दू तथा अँगरेज़ी का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया है। भावना के क्षेत्र में दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम है। इसीलिए वह काल्पनिक और रहस्यवादी अधिक हैं। वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला अपने में पूर्ण है। काव्य-कला का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है, इसलिए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार काव्य-कला का प्रयोग करने में सफल हो सके हैं। उनके व्यक्तित्व में केशव का पाण्डित्य है। स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण वह स्वाभिमानी भी हैं। अपने विषय में की गई अनुचित आलोचना उन्हें असह्य हो जाती है। वह किसी का रोब अपने ऊपर सहन नहीं कर सकते। अपने काव्य-जीवन के वह स्वयं निर्माता हैं। उनके स्वभाव में अक्खड़पन भी है और कोमलता भी; व्यंग भी है और हास्य भी। वैविध्य और वैषम्य से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है और इन दोनों के सुन्दर समन्वय से ही उनका व्यक्तित्व विकसित हुआ है। वह बन्धनमुक्त प्राणी हैं। दार्शनिक होते हुए भी वह भक्त हैं। ईश्वर के अस्तित्व में उनकी आस्था है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनका आग्रह अद्वितीय है। वह पीछे मुड़कर भी देखते हैं और आगे भी। वह आशावादी हैं। आदर और सत्कार में वह बड़े उदार हैं।

निराला का लौकिक और साहित्यिक जीवन संघर्षमय रहा है। अपने इस प्रकार के संघर्ष में उन्होंने प्रत्येक चोट का, प्रत्येक आक्रमण का, साहसपूर्वक सामना किया है। निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी हुई

है। स्वतंत्रता, साहस और निर्भीकता—यही तीनों उनके जीवन के संबल हैं। शृंगार और वीर रसों का जैसा सुन्दर समन्वय उनके स्वभाव में है वैसा ही उनकी रचनाओं में भी पाया जाता है। उन्हें अपनी कला-कृत्तियों पर उतना ही गर्व है जितना कि अपनी परिस्थिति पर। हिन्दी-संसार में ऐसा व्यक्तित्व अप्रतिम है।

निराला के व्यक्तित्व के भाँति ही उनकी साहित्यक सर्जना शक्तिशाली है। द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में जन्म लेकर उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा अभिनव साहित्य का नेतृत्त्व किया है। अपने नेतृत्त्व में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया है उसका एक विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः हिन्दी के सभी क्षेत्र उनकी निराली देन से प्रभावित, आलोकित और विकसित हुए हैं।

निराला का महत्त्व

हम अभी कह चुके हैं कि निराला ने द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में साहित्य-निर्माण आरम्भ किया था। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण साहित्यकार की दृष्टि से संग्राहक युग था। इस युग में भाषा के परिष्कार की पुकार थी और इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता थी। विषय बहुधा भारतीय गौरव से सम्बन्ध रखते थे। ऐसे विषयों का प्रतिपादन भारतीय इतिहास तथा पुराणों के कथानकों के आधार पर होता था। कभी-कभी उसी वर्ग के राष्ट्रीय पुरुषों के वृत्तों पर भी रचनाएँ हो जाती थीं। इस प्रकार की रचनाओं में चरित्र-निर्माण तथा सुधार पर ही अधिक बल दिया जाता था। समस्यापूर्ति की प्रणाली भी प्रचलित थी। गीतों का तो एक प्रकार से अभाव ही था। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार अवश्य हो गई थी, पर काव्य में उसका स्वतंत्र चित्रण, जैसा होना चाहिए था, अभी नहीं हुआ था। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर चल रहा था। बँधे छन्द थे, बँधे भाव। काव्य के इन बन्धनों से ऊबकर कतिपय कवियों ने उसमें कल्पना का रंग

और हृदय का वेग भरना आरंभ कर दिया था, पर क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने का उनमें साहस नहीं होता था। हिन्दी-साहित्य की ऐसी परिस्थिति में निराला ने जन्म लेकर द्विवेदी-युग के प्रथम चरण का अन्त और द्वितीय चरण का नेतृत्व-भार ग्रहण किया। उन्होंने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आँधी की तरह प्रवेश किया और अपने नवीन काव्य के सन्देश से क्रान्ति का आयोजन किया। उनके सन्देश में पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह था। उनका विद्रोह था हिन्दी-काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से उन्मुक्त करके स्वाभाविक प्रवाह में लाना, जिसमें न छन्दों का बन्धन हो, न तुक का लगाव। इस विद्रोह का हिन्दी-संसार में खुलकर विरोध हुआ, पर वह अपने सन्देश पर आरूढ़ रहे। इस विरोध का इतना प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा कि वह इस उन्मुक्त भावना को साहित्य में न चला सके। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा—"मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया।"

निराला की विद्रोह-भावना का परिचय हिन्दी-संसार को सर्वप्रथम 'अनामिका' द्वारा मिला। इसमें संग्रहीत कविताएँ अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द में लिखी गई थीं। इन कविताओं के विषय नवीन थे, भाव नवीन थे, छन्द नवीन थे। हिन्दी-साहित्य में इन कविताओं की विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई, पर साहित्य-समालोचकों का ध्यान उनकी ओर अवश्य आकृष्ट हुआ। उनमें से कुछ ने निन्दा की, कुछ ने प्रशंसा। स्वर्गीय महादेवप्रसाद सेठ तथा आचार्य द्विवेदीजी ने इन रचनाओं की विशेष प्रशंसा की और हिन्दी का गौरव बढ़ाने के लिए उन्हें अनुकरणीय बताया। इस प्रकार निराला की, 'अनामिका' ने हिन्दी-जगत् में एक विशेष परिवर्तन की सूचना दी। अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द निराला की हिन्दी को सर्वश्रेष्ठ देन है। इन छन्दों में संगीत का, उस संगीत का जिसे उन्होंने पाश्चात्य संगीत के स्वर और ताल से प्रभावित बंग-काव्य से प्राप्त किया था, सफल आयोजन हुआ। हिन्दी के लिए यह सर्वथा नवीन चीज़ थी। इस प्रकार

निराला ने काव्य के रूप के सम्बन्ध में एक साथ दो देनें दीं—उन्मुक्त छन्द और संगीतपरकता।

भाव-क्षेत्र में निराला की देन और भी महत्त्वपूर्ण है। हम यह बता चुके हैं कि उन्होंने काव्य को संगीत के निकट लाने का अभिनव प्रयत्न किया है। ऐसा ही अभिनव प्रयत्न रहस्यवाद के क्षेत्र में दिखाई देता है। सौंदर्यानुभूति की विस्तृत भूमि में अद्वैत-सहानुभूति की जड़ जमाकर उन्होंने आधुनिक रहस्यवाद को रीतिकाल का विलोम मात्र होने से बचाया है। उनका रहस्यवाद 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रसाद की भाँति मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त न करके उन्होंने विराट् सत्ता द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं। प्रसाद के चैतन्य की इकाई है 'मानव' और निराला के चैतन्य की इकाई है 'शाश्वत ज्योति'। यही इकाई उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक तथा कलात्मक विचारों के मूल में काम करती है। उनकी दृष्टि में यह जीव जगत् मिथ्या है, सारहीन है। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर उसी अमूर्त शाश्वत ज्योति का ही चित्रण किया है। वह रूप-रंगों में प्रकट होकर भी अमूर्त का ही अभिव्यंजन करते हैं। उनकी निबन्धात्मक रचनाओं तथा गीतों में उनका यही दृष्टिकोण है। 'तुलसीदास' का कथानक मानवीय होते हुए भी रहस्यात्मक है और यह हिन्दी को उनकी महान् देन है।

रहस्यवादी अभिनव भावना के अतिरिक्त निराला की देन शक्ति-काव्य की भावभूमि में भी है। उनके मुक्त छन्दों में शक्ति का अतुलनीय ऊर्जस्वित अदम्य प्रवाह है। उनके शक्ति-काव्य में ओज बाँध तोड़कर उफन पड़ा है। ऐसी भाव-भूमि में कवि में उग्रता है, दर्प है, त्याग और समर्पण है, प्राचीन शौर्य का स्मरण है और उसके लिए आदर है। छायावाद के इस युग में इस प्रकार की रचना एक विशेष महत्त्व रखती है।

शौर्य और ओज के साथ-साथ करुण और सहानुभूति के लिए भी निराला की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। एक प्रकार से उन्होंने अपने कठोर शौर्य और ओज के गतिमय प्रवाह को करुण और सहानुभूति के यथार्थ चित्रण से संतुलित किया है। वस्तुतः महादेवी की करुणा निराला के काव्य में यथार्थ की कठोर भूमि पर चली है और छायावादी विमोहक मुग्धता को त्यागकर तथा दुःख-सुख की पन्तवादी दार्शनिकता से तटस्थ होकर पीड़ा की वस्तुगत स्थूल गहराई को स्पष्ट करने लगी है। हिन्दी-साहित्य में यह भी निराला की अपूर्व देन है।

निराला ने व्यंग के चित्र भी अंकित किये हैं। उन्होंने ढोंगियों को अपने गूढ़ व्यंगों का विषय बनाया है। इस व्यंग की भावना ने विनोद का रूप भी ग्रहण किया है। 'कुकुरमुत्ता' इसी भावना से एक चित्र बन गया है। हिन्दी में यह एक अभिनव रचना है।

भाषा के क्षेत्र में निराला की देन का महत्त्व इसलिए है कि उन्होंने हिन्दी पद-विन्यास को अधिक प्रौढ़ तथा अधिक प्रशस्त बनाने का सफल प्रयत्न किया है और अत्यन्त सार्थक शब्द-सृष्टि द्वारा हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। संगीतज्ञ होने के कारण शब्द-संगीत परखने तथा उसे व्यवहार में लाने में वह आधुनिक हिन्दी के दिशानायक हैं।

निराला पर प्रभाव

हिन्दी के आधुनिक निर्माण में निराला की देनों का महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन को सफल बनाने के लिए किन-किन क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण की है और उसका अपने काव्य में कहाँ तक प्रयोग किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपने साहित्यिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बंग साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी जीवनी से यह स्पष्ट है कि उनके जीवन का प्रभातकाल बंगाल में ही

ही उन्होंने सीखी। विवाह होने के पश्चात् अपनी पत्नी के हिन्दी-ज्ञान से प्रभावित होकर वह हिन्दी की ओर भी मुड़े। हिन्दी-साहित्य-साधना में तुलसीकृत रामायण का उनके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा। संस्कृत-साहित्य का भी उन्होंने अध्ययन किया और उसकी प्रेरणाओं का भी उन पर प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी रचनाओं में जो आग्रह है उस पर उनकी संस्कृत-साहित्यप्रियता का ही विशेष प्रभाव मालूम होता है। पर इन दिशाओं में उनके अध्ययन और अध्ययन द्वारा पड़े हुए प्रभावों पर बंग-साहित्य और उसकी भाव-धारा का अमिट प्रभाव देखा जा सकता है। वस्तुतः बंग-साहित्य के बीच ही उनके हिन्दी-साहित्यक जीवन का उदय हुआ है और वह भी उस समय जब बंग-साहित्य पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर अपना आधुनिक स्वरूप स्थिर कर रहा था। इसलिए जिन नवीन प्रेरणाओं से बंग-साहित्य का निर्माण हो रहा था उन प्रेरणाओं को लेकर जब निराला ने हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया तब हिन्दी-जगत् को एक अभिनव जागरण का आभास मिला। अँगरेजी संगीतकला का अनुसरण पहले-पहल बंगाल में हुआ। निराला ने भी उसका अनुकरण किया और उन्होंने अपने गीतों में उसका पूरा जौहर दिखाया। उन्होंने संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के निकट लाने की बड़ी सफल चेष्टा की। संगीत के अतिरिक्त उनकी भाषा पर भी बंग-भाषा का प्रभाव पड़ा है। क्रिया पदों का लोप और लम्बे समस्त पदों का प्रयोग जैसा बंग भाषा में पाया जाता है वैसा ही निराला की भाषा में भी। इसी प्रकार उनकी स्वच्छन्द छन्द-योजना भी बंग-शैली द्वारा पूर्णतयः प्रभावित है।

भावना के क्षेत्र में भी निराला बंगाल के श्रीरामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। उनका रहस्यवाद एक तरह से बंग-साहित्य का ही रहस्यवाद है। बंग-साहित्य में दर्शन और भक्ति का समन्वय जिस रूप में पाया जाता है, उससे

मिलता-जुलता ही रूप निराला-साहित्य में देखा जा सकता है। बात यह है कि निराला ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कतिपय कविताओं का अनुवाद किया था। इससे उनकी विचारधारा तथा रचना-शैली पर उक्त दोनों कवियों की विचारधारा तथा रचना-शैली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हिन्दी में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व किया। अपनी रुचि के अनुसार ही कलकत्ता में रामकृष्ण मठ के 'समन्वय' मासिक पत्र का सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हें अपनी वैदान्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निराला की कविताओं में भी यही बातें देखी जा सकती हैं। उनके गीतों पर रवीन्द्रनाथ के गीतों की छाया पड़ी है। इधर कुछ दिनों से वह मार्क्सवाद के प्रभाव में भी आ गये हैं और उन्होंने कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी लिखी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला पर बंग-साहित्य का अधिक प्रभाव पड़ा है, पर इस प्रभाव को निराला के शक्तिशाली व्यक्तित्व तथा उनकी बहु वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा ने अपने में इतना आत्मसात् कर लिया है कि उसका महत्त्व उनकी रचनाओं में गौण हो गया है। उनकी प्रत्येक रचना पर उनके व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा की इतनी स्पष्ट छाप है कि हम उन पर पड़े हुए प्रभावों को भूल जाते हैं।

अब तक की आलोचना में हम यह देख चुके हैं कि निराला के व्यक्तित्व में अद्वैतवादी बुद्धितत्त्व की प्रधानता है। उनकी अनेक

निराला की दार्शनिकता

रचनाएँ सूक्ष्म दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं। पंचवटी-प्रसंग में प्रलय की व्याख्या करते समय भगवान श्रीरामचन्द्र जी ने ब्रह्म और जीव का जो विवेचन किया है वह निराला के वेदान्ती सिद्धान्तों का सार है। इन सिद्धान्तों पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है।

इसलिए निराला हिन्दी में उनके वैदान्तिक सिद्धान्तों के साहित्यिक प्रतिनिधि माने जाते हैं।

निराला के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार यह जीव जगत् मिथ्या है, सारहीन है, ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। प्रत्येक दृश्य वस्तु का पर्यवसान उसी आनन्दस्वरूप ब्रह्म, अदृश्य, अनन्त सत्ता में होता है। जीव भी ब्रह्म होकर आनन्द-स्वरूप हो जायगा। यहाँ तक निराला की दार्शनिकता उनके मस्तिष्क का विषय बनी है; पर इसके आगे नहीं। वह मस्तिष्क से अद्वैतवादी हैं, हृदय से भक्त तथा प्रेमवादी। उनका जीव स्वयं आनन्द-स्वरूप होने की अपेक्षा आनन्द का अनुभव करना चाहता है। इसलिए वह उपासक ही बने रहना चाहते हैं। इन विचारों को उन्होंने लक्ष्मण के मुख से पञ्चवटी-प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

आनन्द बन जाना हेय है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है

यही पंक्तियाँ निराला की भक्ति का आधार हैं। वह आस्तिक हैं। करुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान् पर विश्वास करते हैं। दुःख में, सुख में वह सदैव भगवान् को याद करते हैं। भक्तों की भाँति उन्हें पूर्ण विश्वास है कि एक दिन उस 'शाश्वत ज्योति' का, उस 'अमूर्त्त सत्ता' का साक्षात्कार होने पर भक्त की सारी वेदना, उसके हृदय की सारी विकलता शांत हो जायगी :—

डोलती नाव, प्रखर है धार, सँभालो जीवन-खेवनहार।

इन पंक्तियों में निराला की भक्ति का स्वर प्रखर हो उठा है। पर निराला की भक्ति सूर अथवा तुलसी की भक्ति नहीं है। वह प्रमुखतः तत्त्वज्ञानी हैं। उन्होंने एक वेदान्ती की दृष्टि से अपनी आन्तरिक प्रेरणाओं का अंकन किया है। उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं में भक्तोचित भावुकता है, इसलिए उनकी रहस्यवादी कृतियाँ अस्पष्ट नहीं होने पाई हैं। उनका रहस्यवाद मस्तिष्क की रंगशाला में पहुँचने पर सोऽहम् से

मिलती-जुलती भावना में परिणत हो जाता है, पर जब वही हृदय की रंग स्थली में पहुँचता है तब उसमें प्रेम की सुकुमारता, कमनीयता और तड़पन आ जाती है। उनका रहस्यवाद एक ओर परोक्षप्रिय पर अवलम्बित है, दूसरी ओर उसी के व्यक्त गोचर स्वरूप पर। इस प्रकार उनके रहस्यवादी भावना के दो पहलू हैं—एक तो वह जो 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है और दूसरा वह जो 'जड़' जीव-जगत् में सर्वत्र उसी 'शाश्वत ज्योति' का प्रकाश देखता है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके रहस्यवाद की इकाई 'शाश्वत ज्योति' है। इस 'शाश्वत ज्योति' को उन्होंने अमर विराम, माता, श्यामा आदि सांकेतिक शब्दों द्वारा अपनी रचनाओं में सूचित किया है। संक्षेप में यही निराला के काव्य की दार्शनिक भावभूमि है।

निराला की काव्य-साधना

निराला की साहित्य-साधना के दो रूप हैं—एक पद्य में दूसरा गद्य में। उनके गद्यकार के रूप पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ हम यह देखेंगे कि वह अपने पद्यकार के रूप में कहाँ तक सफल हुए हैं। हम यह बता चुके हैं कि निराला का हिन्दी-जगत् में प्रवेश उस समय हुआ जब सत्काव्य की अनुभूति का समय आ रहा था। वह हिन्दी के नवीन विकास की किशोरावस्था थी। इस अवस्था में यौवन की दृढ़ता अथवा शक्ति का परिचय थोड़ी ही मात्रा में था। स्वर्गीय हरिऔध और गुप्तजी प्रकाश में आ चुके थे। प्रसाद उभर रहे थे। इस परिस्थिति में निराला की 'अनामिका' प्रकाशित हुई और इसी ने निराला को हिन्दी का कवि घोषित कर दिया। अनामिका के पश्चात् परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, आदि काव्य-पुस्तकें उन्होंने हिन्दी को भेंट कीं। इन कृतियों के अनुशीलन से उनके विकास की चार स्पष्ट रेखाएँ हमारे सामने आती हैं।

[१] निराला के विकास की प्रथम रेखा—निराला के विकास की प्रथम रेखा हमें उनकी 'अनामिका' में ही मिलती है। इस काव्य में

स्वच्छन्द छन्दों की पूर्णता की ओर उनका जितना झुकाव है
अन्य बातों की ओर नहीं है। उनकी स्वच्छन्द छन्द-योजना में प्र
रूढ़ियों का तिरोभाव हो गया था—इससे नवीन धारा का स
करनेवालों में आत्मविश्वास की भावना को दृढ़ता प्राप्त हुई। व
स्वच्छन्द-छन्द के मूल में ही यह मनोवृत्ति थी। निराला ने अ
अन्य रचनाओं द्वारा इस आत्मविश्वास को और भी दृढ़ किया।

[२] निराला के विकास की द्वितीय रेखा—यह रेखा हम
सामने उस समय प्रस्तुत होती है जब वह छन्दोबद्ध संगीतात्मक सृष्टि क
ओर झुकते हैं। 'परिमल' की छन्दोबद्ध अधिकांश रचनाएँ इसी समय क
हैं। हिन्दी-साहित्य का यह वह समय था जब कविता में भावना क
प्रधानता हो चली थी, पर निराला की बौद्धिक प्रक्रिया उसके साथ-साथ
रही। अपने इसी विकास-स्तर पर पहुँचकर निराला बुद्धि और भावना
का रमणीय समन्वय करने में समर्थ हुए। इससे उनकी कविताएँ निखर
आईं। उस समय की उनकी छोटी और बड़ी सभी रचनाओं में यह
संयोग देखा जा सकता है।

[३] निराला के विकास की तृतीय रेखा—यह उनके गीतों से
परिलक्षित होती है। उनके गीत कुछ तो दार्शनिक हैं और कुछ प्रेम
और शृंगारविषयक। मधुर भावों की व्यंजना इन गीतों की विशेषता
है। 'परिमल' में उन्हें जो सफलता नहीं मिली वह उन्हें इन गीतों में
मिली है। इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा हृदय-तत्त्व अधिक हैं। भाव और
कल्पना, मस्तिष्क और हृदय के सुन्दर समन्वय में ही निराला के कवि
का पूर्ण विकास हुआ है। इस काल के अन्तर्गत लिखी गई उनकी रच-
नाएँ मानव-जीवन के प्रवाह से निखरी हुई हैं। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं
का अभाव भी है।

[४] निराला के विकास की चतुर्थ रेखा—यह उनकी प्रगति-
ादी रचनाओं में देखने को मिलती है। अपने इस विकास-स्थल पर वह
ार्क्सवाद से थोड़े-बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। 'कुकुरमुत्ता' आदि

पूँजीवाद के प्रति उनके जो व्यंग हैं वह आज की नवीन धारा के अनुकूल ही हैं।

निराला के विकास की इन तीन रेखाओं से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनमें एक दूसरे से पृथकता है। वस्तुतः निराला की काव्य-साधना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है जिसके मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रही है। उनके विकास में उनका काव्यगत दृष्टिकोण सर्वथा सहायक रहा है और उसकी गति कभी मंद नहीं हुई। वह आरम्भ से ही एक रस रहे हैं।

निराला हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक कविता दार्शनिक भावभूमि पर खड़ी है। हम यह भी बता चुके हैं कि उनकी दार्शनिकता में भक्ति का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। इस प्रकार के समन्वय से उनकी रहस्यवादी रचनाएँ अधिकांश साम्प्रदायिक न होकर स्पष्ट और स्वाभाविक हो गई हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम उनकी कविताओं को पाँच श्रेणियों में विभाजित करते हैं—१. दार्शनिकता-प्रधान रचनाएँ, २. विशुद्ध प्रगति, ३. आलंकारिकता-प्रधान और उदात्त, ४. प्रगतिशील रचनाएँ और ५. व्यंग और हास्य-सम्बन्धी रचनाएँ।

[१] दार्शनिकताप्रधान रचनाएँ—निराला की दार्शनिकता प्रधान रचनाओं से हमारा तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें उनके अद्वैतवादी संस्कार का योग अधिक है। उनकी ऐसी कविताएँ प्रायः निराशात्मक हैं। 'परिमल' में उनकी 'जागरण' शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। इसमें हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता में उन्होंने आत्मा की परम सत्ता में स्थिति को ही सत्य मानकर उसी द्वारा मुक्तावस्था के होने का उल्लेख किया है। इसमें कवि ने बताया है कि हमारी आत्मा माया के आवरण से ढकी हुई है। यह मायावरण अज्ञान है। मन के विकारों के कारण हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि करते हैं। कुछ ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा इन आवरणों

भेदकर अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचती है। माया का शुद्ध रूप प्रेम-रूप है। आनन्दमय चिदात्मतत्त्व ने अपने प्रेम-रूप में ही सृष्टि की रचना की है। उसने अपनी माया का प्रसार प्रेम-रूप में ही किया है। सारांश यह कि निराला की दार्शनिक रचनाएँ इसी प्रकार के विचारों से परिपूर्ण हैं।

[२] विशुद्ध प्रगति—*निराला* के विशुद्ध प्रगीतों में 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'सरोज स्मृति' आदि शीर्षक रचनाएँ आती हैं। इन प्रगीतों में प्रकृति, करुणा, प्रेम, देश आदि के सफल चित्रण मिलते हैं। निराला की ऐसी कविताएँ 'गीतिका' और 'परिमल' में मिलती हैं। वह सौंदर्योपासक कवि हैं। उन्होंने जीवन की शृंगारिक भावना के बड़े सुन्दर नग्न चित्र उतारे हैं, पर उनमें अश्लीलता नहीं है, संयम है, विलास की सौंदर्य वृत्त है। 'जुही की कली' इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें कवि के शृंगार-चित्र प्रकृति-मय होकर सजीव हो उठे हैं। इन पंक्तियों में उनकी शृंगारिक भावना की पवित्रता देखिए :—

हेर प्यारे को सेज पास, नम्र मुखी हँसी-खिली
खेल रंग, प्यारे संग

उनकी 'शेफालिका' शीर्षक कविता भी इसी प्रकार की है। इसमें यौवन उन्मत्त होकर रोम-रोम से फूट निकलता है। 'जागो फिर एक बार' में कवि अपने युग की राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित जान पड़ता है, पर इस चेतना को उसने अपनी कला और दर्शन के माध्यम से देखा है, केवल राजनीति के दृष्टिकोण से नहीं :—

जागो फिर एक बार
सिंहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह, रहते प्राण ? रे अजान

'परिमल' में निराला के तीन प्रकार के गीत हैं—१. तुकान्त, २.

ान्त और ३. मुक्तक। उनकी भाषा संगीतात्मक है, शब्द चित्रपूर्ण हैं भावना बहुत ही मधुर है। संगीत की दृष्टि से उनके गीतों का स्थान ऊँचा है। अपने ऐसे गीतों में उन्होंने दीन मानवों और उपेक्षितों के सहानुभूति भी चित्रित की है। 'विधवा' और 'भिक्षुक' शीर्षक ी रचनाएँ बड़ी मार्मिक और पूत भावनाओं से भरी हुई हैं। इन ाओं में न छायावाद काव्य की रंगीनी है, न आदर्शवादिता की r, न जड़ कल्पना की उड़ान। 'भिक्षुक' का चित्र इन पंक्तियों में ए :—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

× × ×

इसी प्रकार 'विधवा' शीर्षक कविता से विधवा की पवित्रता और के करुणापूर्ण जीवन का परिचय मिलता है। सारांश यह कि निराला ने गीतों में सर्वोच्च कलाकार हैं। इस क्षेत्र में उनके विषय नये हैं, ा नये हैं, शैली नई है। यद्यपि उनके गीत अधिकांश जीवन के ीनिक विचारों का ही उल्लेख करते हैं तथापि उनमें व्यथा है, ीक वेदना है, अनुभूति की गहराई है, अलंकारों की सजावट है, ीत और मधुरता है।

[३] [illegible]

बंगाल में प्रसिद्ध राम-कथा को बड़े ओज के साथ काव्य की भूमि पर उतारा है। 'अनामिका' की सबसे प्रौढ़, सबसे महत्त्वपूर्ण रचना यही है।

[४] प्रगतिशील रचनाएँ—'अनामिका' की कुछ कविताओं में हमें निराला की नई प्रगतिशील रचनाओं का भी आभास मिलता है। 'किसान की नई बहू की आँखें', 'खुला आसमान', 'ठूँठ', तोड़ती पत्थर आदि इसी प्रकार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में निराला ने कल्पना-लोक से नीचे उतरकर ग्राम तथा नगर के दैनिक जीवन को चित्रित किया है। 'ठूँठ' शीर्षक कविता से उनके प्रगतिशील विचारों का आभास इस प्रकार मिलता है :—

अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष सा,

× × ×

निराला की प्रगतिशील रचनाओं में 'तोड़ती पत्थर' सबसे सुन्दर रचना है।

[५] व्यंग और हास्यपूर्ण रचनाएँ—निराला की व्यंग और हास्यपूर्ण रचनाएँ 'कुकुरमुत्ता' आदि में मिलती हैं। इन रचनाओं द्वारा उन्होंने हमारे समाज और हमारी सामाजिक धारणाओं पर तीव्र व्यंग किया है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है :—

अबे, सुनबे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब,

× × ×

निराला की ऐसी रचनाओं में कटु चुटकी है, गम्भीर विनोद है, तीव्र व्यंग है। उन्होंने आधुनिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर तीव्र व्यंग किया है। अँगरेजी सभ्यता के प्रति, आधुनिक सभ्यता की स्त्री-पूजा के प्रति, आधुनिक अँगरेजी काव्य के प्रति, कवियों के प्रति, लेखकों के प्रति उनके व्यंग सजीव और बड़े चुटीले हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला जीवन की चतुर्दिक भावनाओं के कवि हैं, किसी एक दिशा के नहीं। देश, समाज, मानव-हृदय, प्रकृति, जगत् सभी दिशाओं के भाव उनकी कविताओं में आये हैं। वेदान्त उनका प्रिय विषय है। उनका मस्तिष्क दार्शनिक है, उनका हृदय कवि। उनके हृदय और मस्तिष्क की ये दो भिन्न-भिन्न भावनाएँ कभी पृथक् और कभी एक में मिली हुई दीख पड़ती हैं। उनकी कल्पनाएँ उनके भावों की सहचरी हैं। वे सुशीला स्त्रियों की भाँति पति के पीछे-पीछे चलती हैं। इसलिए उनका काव्य पुरुष-काव्य है। उनके चित्रों में उतनी रंगीनी नहीं जितना प्रकाश है। काव्यानुशीलन से प्राप्त होनेवाली काव्य-सौंदर्य की बारीकियाँ, उनकी विविधताएँ तथा उनकी अनोखी भंगिमाएँ निराला की रचनाओं में नहीं हैं। उनकी कविताओं में उनका व्यक्तित्व है जिसमें व्यापक जीवनधारा के सौंदर्य का सन्निवेश है और जिसमें ओज के साथ एक सुकोमल सौहार्द का समाहार है। हिन्दी का कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समानता का दावा नहीं कर सकता।

निराला का प्रकृति-चित्रण

निराला की काव्य-साधना के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है और वह है उनका प्रकृति-चित्रण। इस सम्बन्ध में हमें सब से पहली बात जो याद रखनी चाहिए वह यह है कि निराला ने प्रकृति का चित्रण किसी प्राचीन प्रणाली के अन्तर्गत नहीं किया है। उनके प्रकृति-चित्रण में न तो प्रकृति की स्वाभाविकता है और न उसकी यथार्थता। उनकी प्रकृ[illegible] उनकी निर्माण भी हुई है। दूसरी बात

वादी कहा जाता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न होता है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है। साधना के उच्च स्तर पर पहुँचने के पश्चात् दोनों में यह भेद मिट जाता है। निराला अद्वैतवादी हैं। वह प्रकृति और परमात्मा में अद्वैतता मानते हैं। इसलिए वह जायसी की भाँति प्रकृति और परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का भाव बना रहता है। प्रकृति के प्रति यह दार्शनिक भाव होते हुए भी उनके प्रकृति-चित्र रहस्यवादी भावना से अनुरंजित हैं। एक प्रकार से रहस्यवाद और अद्वैतवाद का सुन्दर समाहार उनके प्रकृति-वर्णन में ही हुआ है। उनके प्रकृति-वर्णन में विविधता है। उन्होंने प्रकृति को अनेक रूपों में देखा है। उनके प्रकृति चित्रों के निम्न रूप प्रमुख हैं:—

[१] प्रकृति के दिगन्त व्यापी रूप का चित्रण करने में निराला के कवि ने वास्तव में आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में उदाहरणस्वरूप उनकी दो रचनाएँ—'जूही की कली' और शैफालिका—बड़ी ही उत्कृष्ट हैं। इन दोनों कविताओं में प्रकृति के दिगन्तव्यापी चित्रण के पश्चात् क्रमशः असीम की ससीम के प्रति, और ससीम की असीम के प्रति आसक्ति दिखाई गई है। 'शैफालिका' कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए:—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।

इस कविता में ससीम की असीम के प्रति आसक्ति है। शेफाली (आत्मा) वासक सज्जा है। उसका प्रेमी गगन (परमात्मा) है। आत्मा जब अपने पूर्ण सौंदर्य में विकसित हो जाती है तब उसे अनन्त का

स्पर्श मिलता है। इस मिलन के फलस्वरूप वह बन्धन-मुक्त होती है। वह कहती हैं :—

पाती अमर प्रेम दान
आशा की प्यास एक रात में झर जाती है।

[२] इन प्राकृतिक रूपक चित्रों के अतिरिक्त निराला ने प्रकृति के ऐश्वर्यपूर्ण स्वच्छन्द चित्र भी चित्रित किये हैं। अपने ऐसे वर्णनों में वह जायसी के अधिक निकट आ गये हैं। संध्या का वर्णन इन पंक्तियों में देखिए :—

अस्ताचल ढले रवि, शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख यामिनी-गंधा जगी—

इसी प्रकार अतीत युग का ऐश्वर्यपूर्ण चित्र 'जागरण' शीर्षक कविता में देखने को मिलता है।

[३] निराला ने प्रकृति के अमूर्त विलास का चित्रण 'वन-कुसुमों की शय्या' में किया है। शरद और शिशिर दो ऋतुएँ हैं और आस-पास आती हैं। निराला ने उनमें बहनापा दिखाया है। देखिए :—

सोती हुई सरोज अंक पर शरत शिशिर दोनों बहनों के
सुख विलास-मद-शिथिल अंग पर पत्र-पत्र पंखा चलते थे,
सनती सी तर-तरल समीरण धीरे धीरे आती

पूर्वक किया है। 'परिमल' में उनके अनेक प्रकृति-चित्र मिलते हैं। प्रभाती, यमुना के प्रति, वासंती, तरंगों के प्रति, जलद के प्रति आदि उनकी प्रकृति चित्रण-सम्बन्धी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

निराला का गद्य-साहित्य

निराला कवि ही नहीं, गद्यकार भी हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में भी कई पुस्तकें हिन्दी को भेंट की है। कहानीकार के रूप में सखी, लिली, चतुरी चमार और सुकुल की बीबी; उपन्यास के रूप में अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरूपमा, उच्छृंखल, चोटी की पकड़, काले कारनामे और चमेली; रेखा-चित्रकार के रूप में कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा और निबन्धकार के रूप में प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा, प्रबन्ध परिचय आदि ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। उन्होंने कुछ जीवनियाँ भी लिखी हैं और महाभारत आदि के अनुवाद भी किये है। इस प्रकार उनकी प्रतिभा का प्रसार साहित्य के दोनों क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है।

निराला में कथा-सृष्टि की सुन्दर क्षमता है, कहानियों में भी, उपन्यास में भी। उपन्यास के क्षेत्र में वह शरद् बाबू की औपन्यासिक कला से प्रभावित हुए हैं। इसका यथेष्ट परिचय 'निरूपमा' के कथानक से मिलता है। इस पर शरद् बाबू की 'दत्ता' की स्पष्ट छाप है। अपने उपन्यासों में निराला अतीत के ऐश्वर्य की ओर अधिक झुके हैं। उनमें उपन्यास लिखने की प्रतिभा और कला दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अप्सरा, प्रभावती, अलका आदि चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। निराला ने नारी-चरित्र-चित्रण में बड़े संयम से काम लिया है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके पात्रों में आग्रह अधिक है।

उपन्यासों से अधिक निराला को रेखाचित्रों में सफलता मिली है। कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा उनके दो अद्वितीय रेखा-चित्र हैं। इन रेखा-चित्रों में व्यंग और हास्य की नवीन शैली को स्थान मिला है।

निराला के शब्दों में 'बिल्लेसुर बकरिहा' प्रगतिशील साहित्य का नमूना है। यह उच्च कोटि के हास्य की मंजूषा है।

निराला के अधिकांश निबन्ध आलोचनात्मक हैं। उनके निबन्धों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से कुछ दार्शनिक हैं, कुछ साहित्यिक। 'पंत और पल्लव' उनका आलोचनात्मक निबन्ध है। इस निबन्ध के अध्ययन से उनकी आलोचना-शक्ति का यथार्थ परिचय मिलता है। दार्शनिक निबन्धों से उनके मस्तिष्क के विकास का आभास मिलता है। 'शून्य और शक्ति' उनका दार्शनिक निबन्ध है।

निराला की अलंकार और रस-योजना

निराला अपनी रचनाओं में अलंकारों तथा रसों के भी सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। उनकी अलंकार-योजना भाव-व्यंजना की आवश्यकता के अनुसार है। अनावश्यक अलंकारों से उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को सजाने की चेष्टा नहीं की है। काव्य-कला के पण्डित होने पर केशव सा-सा पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्होंने अपनी रचनाओं में नहीं किया है। अलंकार-क्षेत्र में वह अनुप्रास के बड़े प्रेमी हैं और वह इसलिए कि वह संगीतज्ञ हैं। उन्होंने प्राचीन कवियों-द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोग भी किया है और नई कल्पनाओं से भी सहायता ली है। उनकी अधिकांश उपमाएँ

अलंकार-योजना की भाँति ही निराला की रस-योजना भी बड़ी सफल है। उन्होंने शृंगार, वीर, रौद्र आदि रसों के बड़े सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। उनके इन चित्रों में स्वाभाविकता है। उनका ओजपूर्ण व्यक्तित्व वीर रस के निर्वाह में बहुत सफल हुआ है। उनकी अधिकांश कविताएँ वीर रसपूर्ण हैं। निराला अपनी ऐसी रचनाओं के कला-पूर्ण वर्णन से पाठकों में ओज और उत्साह भर देते हैं। शृंगार के चित्र भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उनका शृंगार सर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृंगार वर्णन करते हुए भी उनका व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं हुआ है। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। निराला के शृंगारिक वर्णनों में दार्शनिक तटस्थता है। एक रूपक में देखिए :—

पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके
मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के

निराला का यह दार्शनिक रूपक हिन्दी की अमर निधि है और इस पर जितना गर्व किया जाय थोड़ा है।

निराला हिन्दी-कविता की बाह्य कला में स्वतंत्रता के सूत्रधार हैं। उनमें कवित्व कम, कलाकारिता अधिक है। हिन्दी में मुक्त छन्द का प्रवर्तन उनकी सबसे बड़ी देन है। मुक्त छन्द कविता में भाव प्रवाह को एक विशेष गति प्रदान करता है। यह गति बन्धनमय छन्दों में सुलभ नहीं होती। इस सम्बन्ध में परिमल की भूमिका में उन्होंने लिखा है— 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस प्रकार मुक्त

निराला की छन्द-योजना

मनुष्य कभी किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम काम औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतंत्र—इसी तरह कविता का हाल है। मुक्त काव्य साहित्य के लिए कभी अनर्थकारी नहीं होता। प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।' निराला ने अपने इसी विश्वास को लेकर हिन्दी के छन्द-शास्त्र में क्रान्ति की। उन्होंने छन्दों के प्रयोग में स्वतंत्रता से काम लिया है। खड़ीबोली में काव्य-रचना प्रारम्भ होने के समय से उपयुक्त छन्दों के चुनाव का कठिन तथा आवश्यक प्रश्न कवियों के सामने था। उन्होंने अपने ढंग से इस प्रश्न का उत्तर दिया। इसमें उनको उचित सफलता मिली। भिन्न तुकान्त का प्रयोग उनके पहले भी हो चुका था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, सिया राम-शरण गुप्त, प्रसाद और रूपनारायण पाण्डेय अतुकान्त छन्दों में रचना कर चुके थे। उन्होंने स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग आरम्भ किया। उनके विचार से मुक्त छन्द वह है जो छन्द की भूमि में रहकर मुक्त है। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-साहित्य उसकी मुक्ति। जिस प्रकार उन्होंने स्वछन्द छन्द की सृष्टि हिन्दी में की है, उसी प्रकार की एक मुक्त-सृष्टि बँगला-साहित्य में स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष कर गये हैं। इससे जान पड़ता है कि निराला ने उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने का प्रयास किया है।

निराला ने दो तरह के मुक्त छन्द लिखे हैं—१. तुकान्त और २. अतुकान्त। तुकान्त में तुक के नियमों का पालन किया गया है, अतुकान्त में तुक का पालन नहीं है। ऊपर-नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। प्रत्येक पंक्ति अपने ही में पूर्ण है और भावों की आवश्यकतानुसार अल्पकायिक अथवा विस्तृत है। पर एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति दूसरी की आश्रित भी है। छन्द में एक मधुर लय तथा ध्वनि का ध्यान रखा गया है जिसके अनुशासन का पालन सब पंक्तियों को करना पड़ा

हैं। संगीत की धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रत्येक पंक्ति को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना आवश्यक हो गया है। बेमेल चरणों का विलक्षण प्रयोग उन्होंने अपने अनुकान्त छन्दों में अत्यधिक किया है। इस विलक्षणता के कारण बहुत से लोगों ने उसका नाम 'रबर छन्द' अथवा 'केंचुवा छन्द' आदि भी रख लिया है। अतुकान्त छन्द में घनाक्षरी का प्रयोग उनकी एक विशेषता है। इसमें छन्द का नियम न होते हुए भी वाक्य-प्रवाह से छन्द का निर्देश मिलता है। उनके अतुकान्त छन्द उनके विचार वेग के पौरुष तथा उनके हृदय के ज्वलन्त व्यक्तित्त्व के द्योतक हैं। तुकान्त मुक्त छन्दों में भी उनका ऐसा ही पौरुष है जो भावमय उद्‌गार के रूप में होने के कारण कवित्त्वपूर्ण है।

निराला के मुक्त छन्दों द्वारा मुक्तक-काव्यों को भाव-स्वातन्त्र्य मिलता है और अतुकान्त मुक्त छन्दों-द्वारा गीति नाट्यों में वाक् स्वातन्त्र्य। उन्होंने पञ्चवटी-प्रसंग में जो तुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह गुनगुनाई जा सकती हैं, पर अतुकान्त कविताएँ उन्होंने केवल पढ़ने के लिए लिखी हैं। इस प्रकार उनके तुकान्त छन्दों में संगीत-कला है और अतुकान्त छन्दों में पठन-कला। अतुकान्त छन्दों का प्रयोग उन्होंने प्रायः वर्णात्मक कविताओं में ही किया है। उनके गीत प्रायः तुकान्त छन्दों में हैं।

इन विशेषताओं के होने पर भी निराला के स्वछन्द छन्दों में कुछ दोष भी आ गये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने अपने छन्दों को इतना स्वछन्द और विस्तृत कर दिया है कि उनमें स्वच्छन्दता का सौंदर्य ही नष्ट हो गया है। अति स्वच्छन्दता के कारण उनकी पंक्तियाँ कहीं-कहीं गद्य-सी हो गई हैं। इसीलिए उनमें गति-भंग दोष भी आ गया है। अपने इन्हीं दोषों के कारण उन्हें साधारण पाठक तक पहुँचने में कठिनाई हुई है।

निराला की स्वातंत्र्य-प्रियता केवल हिन्दी छन्दों तक सीमित

नहीं रही। उन्होंने उर्दू-शैली का अनुकरण करके हिन्दी में गज़लें भी लिखी हैं। उनकी इन गज़लों में वही विदेशी उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ हैं जिनके लिए उर्दू के कवि प्रसिद्ध हैं। दो-चार स्थलों के अतिरिक्त उनमें नवीनता नहीं है।

निराला की भाषा और शैली

निराला की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण खड़ीबोली है। उस पर बंग-भाषा का भी प्रभाव है। उन्होंने बंग-भाषा के बहुत से शब्द अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक प्रयोग किये हैं। उर्दू और फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। ऐसे विदेशी शब्दों के प्रयोगों से कभी तो उनकी भाषा में जान आ जाती है, पर कभी हलके भी पड़ जाते है। उनके वाक्य-विन्यास पर बंग-शैली का स्पष्टतः प्रभाव है। भाषा की दृष्टि से वह शब्द-रसायनिक कहे जाते हैं। भाषा के प्रयोग में वह बड़े समर्थ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में खड़ीबोली को संगीतात्मक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए खड़ीबोली की कर्कशता उनकी रचनाओं में नहीं हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ बौद्धिक तत्त्व अधिक है, वहाँ उनकी भाषा जटिल और दुरूह है, पर जहाँ हृदय-तत्त्व की प्रधानता है वहाँ उनकी भाषा संस्कृतयुक्त कोमल-कान्त-पदावली के प्रयोगों से सजी हुई है। उन्होंने विशेष मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक परिस्थित के अवसर पर भाषा के अत्यन्त व्यंजक प्रयोग किये हैं और अपने शब्द-कोष में अप्रत्याशित विस्तार भी किया है। कोई भी शब्द उन्हें अग्राह्य नहीं है। वह विशेषतः अभिधात्मक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं और जहाँ से चाहते हैं, जनता से, काव्य से, शास्त्र से, धर्म से, दर्शन से, उसे उठा लेते हैं और जहाँ तक होता है उसका सबसे अच्छा प्रयोग करते हैं।

निराला की ऐसी रचनाओं में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है,

पर इस प्रकार की भाषा सर्वत्र नहीं है। क्लिष्ट भाषा का उदाहरण लीजिए :—

गंध-व्याकुल—कूल—उर—सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शरसर,
गूंज बारंबार ! (रे कह)

इस उद्धृत रचनाओं में निराला की भाषा उनके भावों की भाँति ही मस्तिष्क को मथ डालती है। उन्होंने जहाँ कहीं भी अपना बौद्धिक चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, वहाँ उनकी भाषा उनकी भावधारा को व्यक्त करने में अशक्त हो गई है। एक बात और है। बंग-साहित्य से प्रभावित होने के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के निकट लाने का प्रयास किया है, वहाँ अर्थबोधकता की ओर उनका ध्यान कम गया है। 'गीतिका' में उनके ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिनमें उनका ध्यान संगीत की ओर अधिक है, अर्थ-समन्वय की ओर कम।

भाषा की भाँति निराला की शैली भी बंग-शैली से प्रभावित है। समासयुक्त लम्बी पदावलियों का बाहुल्य और क्रियापदों का लोप आदि उनकी शैली में विशेष रूप से पाया जाता है। एक शब्द को उठाकर दूसरे स्थान पर समस्त पद का अंग बना देने में ही उनकी शैली का चरमोत्कर्ष है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में कम है। उन्होंने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधाशैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। वह अपनी शैली में सर्वथा स्वतंत्र रहे हैं। विद्रोही कवि होने के कारण उन्होंने अभिव्यक्ति की किसी विशिष्ट प्रणाली के भीतर अपनी विचारधारा को बाँधना स्वीकार नहीं किया है। उनकी शैली ओजमय, पठन-कलायुक्त और नाटकीय छटा से परिपूर्ण है। शृंगार की मधुरिमा और वीर रस का ओज उनकी शैली की विशेषता

है। अनुप्रास के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। संगीतमय सांगोपांग रूपक बाँधने में वह सिद्ध-हस्त हैं।

निराला और पन्त

अभी हमने निराला की भाषा-शैली पर विचार किया है। अब हम उनकी और उनके समकालीन कवि पन्त की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। हम यह तो जानते ही हैं कि प्रत्येक कवि अपने जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उन प्रभावों का अंकन अपनी रचनाओं में करता है। ऐसी दशा में एक ही युग में जन्म लेने और एक ही साथ काव्य-साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने पर कवियों की विचार-धारा और उसकी अभिव्यञ्जना में अन्तर पड़ जाता है। निराला और पन्त के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। दोनों एक ही युग—नवीन युग—के कलाकार हैं और लगभग एक ही साथ दोनों कवियों का हिन्दी-साहित्य मेंअभ्युदय तथा उत्थान होता है, पर दोनों अपनी जीवन-परिस्थितियों और मनोदिशाओं के अनुकूल साहित्य-साधना के पुनीत क्षेत्र में अपने स्वतंत्र मार्ग का अनुसरण करते हैं। निराला की मनोदिशा उनकी भार्या के स्वर्गारोहरण के पश्चात् श्री रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्पर्क में आने पर परिवर्तित हो जाती है, पर उसी समय पन्त के जीवन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित नहीं होता। निराला का पूर्व जीवन भी पन्त के पूर्व जीवन से भिन्न है। निराला का बचपन बंगाल के एक राजदरबार में बीता है। व्यायाम में भी उनकी रुचि रही है। इसलिए उनके स्वभाव में पौरुष और स्वाभिमान है। पन्त का बचपन प्रकृति की गोद में बीता है। इसलिए उनके स्वभाव में कोमलता और मार्दव है। इसके अतिरिक्त निराला का जीवन अधिक संघर्षमय रहा है। उन्होंने अपने जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ अधिक झेली हैं और समाज की कटुता का सामना किया है। पन्त का जीवन बराबर शान्तमय रहा है। वह शान्तिमय वाता-

वरण में पनपे और विकसित हुए हैं। इसलिए निराला ने अपनी रच-नाओं में जहाँ सामाजिक भावनाओं की प्रायः उपेक्षा की है, वहाँ पन्त उनकी ओर अग्रसर रहे हैं।

भावना के क्षेत्र में निराला और पन्त दोनों करुणा और सवेदना के गायक हैं। मानव की कोमल प्रवृत्तियों और उनके सुख-दुःख का चित्रण दोनों ने सफलतापूर्वक किया है। निराला की 'विधवा' और पन्त की 'विधवा नववधू' में करुणा और सवेदनशीलता की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। विश्व-बन्धुत्व की ओर निराला भी झुके हैं और पन्त भी। पन्त के 'गूंजे जय ध्वनि से आसमान' और निराला के 'जग को ज्योतिर्मय कर दो' में विश्व-बन्धुत्व की भावना समानरूप से चित्रित हुई है। पर इतनी समानता होने पर भी जो तड़पन, जो टीस, भावनाओं की जो गहनता और तन्मयता हमें पन्त में मिलती है वह निराला में नहीं है। निराला में भावों का सहज ओज है और पन्त में भावों का सहज स्वाभाविक मार्दव। निराला की 'विधवा' जहाँ केवल करुणा का, सवेदन-शीलता का, चित्र उपस्थित करके रह जाती है वहाँ पन्त की 'विधवा नववधू' हमारी करुणा पर, हमारी संवेदना पर अपना स्वाभाविक अधिकार जमा लेती है। निराला हमारी भावनाओं को जगाते हैं, उन्हें उद्वेलित और संचालित नहीं करते; पन्त हमारी भावनाओं को जगाते हैं और उन्हें उद्वेलित और संचालित भी करते है। निराला में भावो की कला है और पंत में भावों का मार्दव। निराला की रचनाओं के युगल वाहक हैं भावना और तर्कना एवं अनुभूति और बुद्धि। उनकी बुद्धि-शीलता उन्हें तात्विक और दार्शनिक रूप में हिन्दी-संसार के सामने लाती है और उनकी अनुभूतिशीलता उन्हें कवि के रूप में। पंत की रच-नाओं में उनका एक ही रूप निखरा है और वह है कवि का। पंत प्रकृति, यौवन, प्रेम और शृंगार के कवि हैं। भावना के क्षेत्र में पंत का बौद्धिक विकास उसी सीमा तक ग्राह्य हुआ है जिस सीमा तक एक कवि के लिए उसका प्रयोग वांछनीय है। अपने इसी गुण के

कारण पंत निराला की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय हैं। एक बात और है। पंत की कविता जीवन के संघर्ष में नहीं, जीवन के प्रहर्ष में ही प्राप्त हुई है। वह सदैव दृश्य-जगत् के कवि रहे हैं और उन्होंने जीवन में सौंदर्य और संगीत को प्यार किया है। उनकी रचनाओं में जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का सजीव और सुंदर चित्रण है। उनकी कविता राजसी है, तामसी नहीं। उसमें एकान्त क्रीड़ा है, पीड़ा नहीं। निराला का काव्य संघर्ष में पनपा और विकसित हुआ है। उनकी कविता राजसी होने पर भी हर्ष-विषाद और सांसारिक आवेग-प्रवेग के उद्वेगों से परिपूर्ण है।

दार्शनिक क्षेत्र में निराला और पंत दोनों रहस्यवादी और छायावादी हैं, पर पंत में छायावाद की और निराला में रहस्यवाद की मात्रा अधिक है। छायावाद में आत्मा का आत्मा से मिलन होता है और रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से। इस प्रकार छायावाद से आगे की चीज़ रहस्यवाद है। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन-सा सप्राण, सचेतन, संवेदनशील पाते हैं तब छायावाद की सृष्टि होती है, परन्तु जब हम में किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन की सत्ता का आभास पाते हैं तब रहस्यवाद की अनुभूति होती है। निराला शुद्ध रहस्यवादी हैं। उनका सारा काव्य अद्वैत-भक्ति-दर्शन से प्रभावित है। वेदान्ती होने के कारण अदृश्य के प्रति उनके काव्य में इतना आग्रह है कि वह किसी क्षण उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। इसलिए उनकी रहस्यभावना में साम्प्रदायिकता का पुट आ गया है और उन्होंने उसकी रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, पर पंत में जहाँ रहस्य-भावना है वहाँ वह अधिकतर स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं। उनकी रहस्य-भावना एक कवि की रहस्य-भावना है। उसमें जटिलता नहीं है, अस्पष्टता नहीं है, दुराव नहीं है। साम्प्रदायिक रहस्य-भावना के कारण ही निराला अपनी रचनाओं में अधिकांश अस्पष्ट और जटिल हो गये हैं।

और इसीलिए उन्हें समझने में पाठकों को कठिनाई होती है। पंत का छायावाद सामान्य भाव-भूमि पर है। इसलिए वह सरस, सुबोध और हृदयग्राही है। वह हमें प्रिय है इसलिए कि वह हमें वस्तु-जगत् से वस्तु-जगत् की ओर ही ले जाता है और हमारी मनोवृत्तियों का, हमारी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का, हमारे सुख-दुःख का यथार्थ चित्रण करता है।

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। वह प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानने है। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौंदर्य की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है। पन्त का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति इससे भिन्न है। उन्होंने प्रकृति को नारी के विविध रूपों में देखा है। इसलिए उनके प्रकृति चित्रण में ऐन्द्रिक सुख अधिक है। प्रकृति के व्यापारों के प्रति दोनों कलाकारों ने आश्चर्य प्रकट किया है, पर निराला की जिज्ञासा पन्त की भाँति बाल-जिज्ञासा नहीं है। निराला अपनी जिज्ञासा में एक सतर्क दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गंभीर रूप का चित्रण भी किया है। इसलिए जहाँ पन्त प्रकृति के बाह्य सौंदर्य पर ही टिक गये हैं, वहाँ निराला ने उसके भीतर पैठने का प्रयास भी किया है। रंगों के वर्णन में दोनों की समान गति है, पर जहाँ निराला में श्यामवर्ण की ओर अधिक झुकाव है वहाँ पन्त में श्वेत और उज्ज्वल की ओर।

काव्य-विषय की दृष्टि से निराला की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह अधिक है। इसलिए उन्होंने निबन्धात्मक रचनाएँ भी की हैं। 'तुलसीदास' उनकी निबन्धात्मक रचना है। उनके अधिकांश मुक्तक भी निबन्धात्मक हो गये हैं। पर उनमें एक ही भाव की पूर्णता है। पन्त ने मुक्तक कविताएँ लिखी है। उनके मुक्तकों में न तो निबन्धात्मकता है और न एक भाव की पूर्णता। भावों की विविधता ही उनके

मुक्तकों का सौंदर्य है। उनमें भावों का काव्योचित प्रकाशन है, निबन्धोचित प्रतिष्ठापन नहीं।

काव्य-कला की दृष्टि से निराला पन्त की अपेक्षा अधिक कला-प्रिय हैं। निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है उतनी अभिव्यक्ति के तन्मय नहीं है। उनका काव्य-पाण्डित्य उनके कवि को स्वाभाविक नहीं रहने देता। जहाँ उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है वहाँ उनकी कला अनुभूति से मार्मिक हो गई है। पन्त भाव-प्रिय हैं। कला-भार से उनकी रचना बोझिल नहीं हुई है। यही कारण है कि पन्त अपनी रचनाओं में निराला के समान दुरूह नहीं हैं। निराला कला-प्रधान हैं और पन्त भाव और कल्पना-प्रधान। बलशाली कल्पना-शक्ति के कारण पन्त निराला की अपेक्षा उपमा पर अधिक आकर्षण विकीर्ण कर सके हैं। निराला में प्रबन्धात्मकता के कारण सांगोपांग रूपक को स्थान मिला है। इस प्रकार 'निराला का काव्य यदि अपनी प्रतिभा की जटिलता में एक गहन-गिरिकानन बन गया है तो पन्त का काव्य अपनी स्वच्छ सुषमा में एक पल्लवित गुञ्जित उद्यान'। यही कारण है कि निराला की अपेक्षा पन्त नवयुवकों में अधिक लोक-प्रिय हैं।

छन्द-योजना की दृष्टि से निराला ने पन्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयोग किया है। छन्द-बन्धों को मुक्त करने में निराला का सर्वप्रथम स्थान है। उन्होंने ही मुक्त रचनाओं और गीतों में शक्ति-सौंदर्य भरा है और काव्य के साथ संगीत का संयोजन बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में कविता की है। उनके पद्यों के चरणों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता है। पंत की छन्द-योजना में विविधता नहीं है पर वह है संगीतमय। उसमें स्वरों की तारतम्यता और सम मात्राओं की अधिकता है, निराला के छन्दों में इनका अभाव-सा है।

भाषा-शैली की दृष्टि के निराला की भाषा अधिक संस्कृत गर्भित

और क्लिष्ट है। उनकी भाषा-शैली पर बंग-भाषा और शैली का भी यथेष्ट प्रभाव है। कहीं-कहीं समास-युक्त शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से काव्य में जटिलता भी आ गई है। उन्होंने शब्दों को कला की दृष्टि से अधिक परखा है और नये शब्द भी गढ़े हैं। उनकी शैली में ओज, पौरुष और नाटकीय छटा अधिक है। पंत की भाषा दूर्वादल के समान कोमल और ललित है। उसमें माधुर्य का आधिक्य है। उनका शब्द-चयन भावपूर्ण और सरस है। वह समासांत पदों के प्रयोग में पटु हैं और शब्दों की ध्वनि से भावों को मूर्त्त रूप देने की अच्छी कला जानते हैं। निराला वाक्यों के प्रवाह से वातावरण को मूर्त्त रूप देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला और पंत हिन्दी के नवीन साहित्याकाश के दो उज्ज्वल नक्षत्र हैं जिनके प्रकाश से वर्तमान हिन्दी का कोना-कोना आज जगमगा रहा है। वस्तुतः छायावादी युग के ये दोनों कलाकार दो छोर हैं। निराला में परुष-सुषमा है, पंत में कोमल मधुरिमा। निराला इस युग के हृदय के अवचेतन मानस हैं, पंत उसकी चेतन अभिव्यक्ति। निराला में शैव-वैविध्य है, पंत में भावों की एकरसता और 'वैष्णावी-विलास'। हिन्दी के ये दोनों साधक एक साथ उभरे, एक साथ पनपे हैं। कभी दोनों ने कदम मिलाया और कभी दोनों में संघर्ष हुआ, पर दोनों परिस्थियों में हिन्दी-साहित्य को उनसे जो दान मिला वह अपने में महान् है।

अभी हम निराला और पंत की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर चुके हैं। अब हम उनके रचनाओं की उनके समकालीन अन्य कवियों की रचनाओं से तुलना करेंगे। पहले हम 'प्रसाद' को लेते हैं। प्रसाद और निराला हिन्दी के दो अप्रतिम कलाकार हैं। दोनों की प्रतिभा प्रायः बहुमुखी है। नाटक और चम्पू के अतिरिक्त निराला की देन वही है जो प्रसाद की। दोनों का मूल संस्कार संस्कृत साहित्य में है। दोनों दार्शनिक और विवेचक हैं। दोनों की आधार-भूमि

निराला और अन्य कवि

अतीतकालीन है। दोनों में सौंदर्य-पिपासा, अज्ञात की गहरी अनुभूति, निराशा के पश्चात् आशा का सन्देश और शृंगार का संयम पाया जाता है। पर इतनी समानता होते हुए भी दोनों एक नहीं हैं। निराला दार्शनिक होकर कवि हैं और प्रसाद कवि होकर दार्शनिक हैं। निराला के रहस्यवाद का माध्यम है शाश्वत ज्योति, प्रसाद के रहस्यवाद का माध्यम है मानव। निराला का माध्यम खड़ीबोली के सम्पर्क में आया और प्रसाद का माध्यम बंगला के सम्पर्क में। निराला में शक्ति की प्रधानता है, प्रसाद में सौंदर्य की। दोनों की भाषा और शैली में भी वाह्यान्तर है। निराला की भाषा में पक्षपात नहीं है। संस्कृत, फारसी, बँगला—इन तीनों भाषाओं के शब्दों से उन्होंने अपनी शैली को अलंकृत किया है। प्रसाद की भाषा में पक्षपात है। उनकी भाषा में केवल संस्कृत शब्दों की प्रधानता है। शैली के क्षेत्र में निराला प्रसाद की अपेक्षा अधिक 'टेकनीशियन' हैं। उन्होंने छन्द, भाषा और अलंकार में नये-नये प्रयोग किये हैं। इस कारण जहाँ निराला अस्पष्ट हो गये हैं वहाँ प्रसाद अपनी भाषा, शैली, पद-योजना आदि में स्पष्ट हैं। निराला पर बंग-साहित्य का प्रभाव है और प्रसाद पर संस्कृत साहित्य का।

अब महादेवी को लीजिए। निराला से महादेवी की तुलना केवल गीति काव्य के क्षेत्र में की जा सकती है। महादेवी आधुनिक गीति-काव्य की 'मीरा' है। उनके गीतों में मीरा की विरह-कातर करुणा है। उन्होंने वेदना में ही पूर्ण संतोष, जीवन की पूर्ण उज्ज्वलता पाई है उनके विरह में उल्लास की रेखा है। उनका प्रियतम विश्वव्यापक दिव्य सत्य है। अतएव उसकी अनुभूति में वह पार्थिव संसार से विरक्त होकर भाव-जगत् में पहुँच जाती हैं और राग-विराग, द्वैत-अद्वैत की वाधा से मुक्त होकर उसी में एकाकार हो जाती हैं। सूफियों की-सी यह रहस्यात्मकता निराला के गीतों में नहीं है। निराला वेदान्ती गीतकार हैं। उनके गीतों में पुरुषत्व है; महादेवी के गीतों में नारीत्व। वह महादेवी की अपेक्षा भावभूमि में बहुत ऊँचे हैं और संगीत, रस, काव्य-

कला आदि में आगे हैं। उनकी प्रतिभा भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। महादेवी करुणापूर्ण नारी-सुलभ हृदय की स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति में अतुलनीय हैं। भाषा और शैली के क्षेत्र में महादेवी और निराला में वही अन्तर है जो प्रसाद और निराला में। महादेवी की अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है, पर निराला की भाँति वह उन्हीं में सीमित नहीं है।

अब तक की विवेचना से यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य में निराला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लौह लेखनी से प्रसूत रचनाओं ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया है और विश्व के साहित्य में उसे गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी को उनकी देन अद्वितीय है। जिस समय हिन्दी के पुनीत प्रांगण में उन्होंने प्रवेश किया था उस समय हिन्दी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसका साहित्य अत्यन्त गिरा हुआ—बिखरा हुआ था। निराला उसी युग में अवतीर्ण हुए। द्विवेदी-युग के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी को अपनाया और उसे बँधी हुई शैली से निकालकर विविधता प्रदान की। उन्होंने हिन्दी-कविता के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों में युगान्तकारी परिवर्तन किया और विदेशी प्रभावों को उसमें घुला-मिलाकर उसे काव्य-भूमि पर खड़े होने योग्य बनाया। क्या भाव, क्या छन्द और क्या भाषा तीनों दिशाओं में उनकी देन हिन्दी को गौरवान्वित करने में समर्थ हुई है।

निराला का हिन्दी-साहित्य में स्थान

निराला हिन्दी की अमर विभूति हैं। वह कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। वह कवि हैं, कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं, निबन्धकार हैं और रेखा-चित्रकार हैं। उन्होंने आलोचना भी की है, पर हिन्दी-जगत् में निराला अपने कवि रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने इस रूप में वह उच्च कोटि के कलाकार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बंग-साहित्य में पोषित होने के कारण उनकी कला-कृतियाँ उससे अवश्य प्रभावित हुई हैं, पर

जैसा अन्यत्र कहा गया है उन्होंने प्रत्येक प्रभाव पर अपने पौरुष और अपने गम्भीर दार्शनिक विचारों की मुद्रा अंकित कर दी है। वह हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। अद्वैतवाद की जटिल और संस्कृतमयी विचार-धारा का सरस-सहज प्रकाशन उनकी रचना में बड़ी ही रमणीयता और सुन्दरता से हुआ है। उनके भावों की व्यञ्जना बड़ी ही विशद और प्रभावोत्पादक होती है। उन्होंने पार्थिव और अपार्थिव दोनों के उत्तम और निर्मल शब्द-चित्र हिन्दी को दिये हैं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि बड़ी प्रखर, व्यापक और सूक्ष्म है। यही कारण है कि उन्होंने जीवन, जगत् और प्रकृति के जो अनेक मनोरम चित्र अपनी अन्तर्भावना के सामञ्जस्य से उतारे हैं उनसे हिन्दी-साहित्य को, विशेषतः काव्य-साहित्य को यथेष्ट बल मिला है। उनके पार्थिव सौंदर्य के चित्र कहीं-कहीं नग्न अवश्य हो गये हैं, पर उनमें अश्लीलता की भावना नहीं है। ऐसे पार्थिक सौंदर्य-चित्रण से कवि की भावना की तो तृप्ति हो जाती है, उसके पीछे कोई संकेत नहीं मिलता।

निराला का काव्य-साहित्य वर्णात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार का है। उनकी वर्णात्मक रचनाओं में तुलसीदास और 'राम की शक्ति-पूजा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके गीत हिन्दी-काव्य की विशेष निधि हैं। उनके गीतों में उनकी भावना ही नहीं, उनकी शब्दावली भी गीतात्मक और मुखरित हो उठी है। उनमें भावों का तीव्र वेग है, तन्मयता और तल्लीनता है। भाव और संगीत का सुन्दर समन्वय उनके गीतों में ही हुआ है। उनमें हमें उनके प्रेम और भक्ति की कोमलतम भावनाओं का सहज स्पन्दन और उनके अद्वैतवादी उद्गारों का तन्मय राग मिलता है। 'परिमल' उनकी ऐसी ही मार्मिक और हृदयभेदी रचनाओं का संग्रह है। इन गीतों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ करुणा और सहानुभूति के आधार पर खड़ी हैं। उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' में हुआ है। इन गीतों में विषय का वैविध्य अत्यधिक है। कुछ गीतों में जिज्ञासा का भाव है, कुछ में भक्तिपूर्ण उद्गार हैं और

कुछ में देश-भक्ति है। कुछ गीतों से कवि की आशावादिता भी परिलक्षित होती है। इधर कुछ दिनों से वह वस्तुवाद की ओर भी झुके हैं। यह उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव जान पड़ता है। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में उनके काव्य के आदर्श बहुत पीछे छूट गये हैं। अब केवल सिद्धान्तवाद और वस्तुओं का वास्तविक चित्रण ही उनकी कविता का विशेष गुण रह गया है। 'अणिमा' और 'कुकुरमुत्ता' में उनका यही दृष्टिकोण दिखाई देता है। 'परिमल', 'अनामिका' तथा 'गीतिका' में हमें उनका जो रूप देखने को मिला है उसका इन दोनों नवीतम रचनाओं में अभाव है। 'परिमल' के निराला 'कुकुरमुत्ता' में अपना पूर्वपन खो बैठे हैं।

निराला कहानीकार और उपन्यास-लेखक भी हैं, पर इन रूपों में हिन्दी-जगत् ने उन्हें अधिक स्वीकार नहीं किया है। सखी, अप्सरा, अलका, लिली, प्रभावती आदि में उन्होंने वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर विकासमूलक मनोरम अंशों को ही अपनाया है। कविता की भाँति वह उपन्यास तथा कहानियों में भारतीय संस्कृति को भूले नहीं हैं। उन्होंने इन रचनाओं में अपनी विद्या-बुद्धि और अपनी संस्कृति से ही नायिकाएँ संघटित की हैं। इनमें घटनाएँ हैं, पर ऐसी नहीं जो पात्रों पर शासन करती हों। उनकी कहानी तथा उपन्यास में घटनाओं का संकलन पात्रों को प्रकाश में लाने के लिए हुआ है। उनके रेखा-चित्र उनकी कहानियों तथा उपन्यासों से उत्कृष्ट हैं। उनके गद्य में शक्ति और ओज, व्यंगशीलता और चुटकियाँ, अक्खड़-पन और रसिकता एक साथ मिलती है। काव्य की भाँति वह अपने गद्य में भी रहस्यवादी हैं।

निराला की छन्द-योजना विस्तृत और विशाल है। उन्होंने हिन्दी-छन्दों में कई स्वतंत्र प्रयोग किये हैं। उनके मुक्त अतुकान्त छन्द हिन्दी में एक नये युग का विधान करते हैं। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं, पर इस दिशा में वह अधिक सफल नहीं हुए हैं। मात्रिक छन्दों का

उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उनके छन्द संगीतमय और नाटकीय होते हैं।

निराला स्वतंत्र प्रकृति के कवि हैं। वह स्वाभिमानी हैं और उनकी प्रतिभा मर्दानी है। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार ही कविता-कामिनी को स्वच्छन्दता देकर उसका स्वाभाविक संगीतमय सौंदर्य उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। उनमें वैविध्य भी है और विषमता भी। वैविध्य और विषमता का उनकी रचनाओं में सुन्दर सम्मिलन हुआ है। उनकी स्वच्छन्द छन्दमय कविताएँ कुछ तुकान्त हैं और कुछ अतुकान्त। उनमें बुद्धिवाद भी है और हृदयवाद भी। उनमें ब्रह्मवाद है, पर ब्रह्मवाद के साथ भक्तिवाद भी है। उन्होंने निबन्धात्मक कविताएँ भी लिखी हैं और गीतों की रचना भी की है। अपनी इन रचनाओं में वह कहीं ओजस्वी हैं और कहीं 'कोमल'। उनके भावों में, उनकी कला में, उनकी भाषा और शैली में विविधता है। उनकी कविता कला के संघर्ष में पनपी और विकसित हुई है। उनके शब्द-चित्र भी बड़े मनोमुग्धकारी और सजीव होते हैं। उनके ऐसे चित्र करुणा और सहानुभूति से भरे रहते हैं। वह आशावादी हैं और भारतीय संस्कृति के उपासक हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में दार्शनिकता का उल्लास रहता है। उनकी कल्पना-शक्ति प्रबल है। कल्पना उनकी सहचरी होकर उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। उनके रहस्यवाद में स्वाभाविकता कम, साम्प्रदायिकता अधिक है, इससे वह कुछ जटिल अवश्य हो गये हैं। भाव, भाषा और छन्द के क्षेत्रों में निराला सर्वथा नवीन हैं और इसी नवीनता तथा मौलिकता के कारण वह युगान्तकारी कवि कहे जाते हैं।

—७—

सुमित्रानंदन पंत

जन्म सं० १९५७ जीवित

अल्मोड़ा से लगभग २५ मील उत्तर की ओर कौसानी एक रमणीक प्रकृति सौंदर्यपूर्ण पार्वतीय ग्राम है। इसी ग्राम में सं० १९५७ में पं० सुमित्रानन्दन पंत का जन्म हुआ था। उनके पिता पं० गंगादत्त पंत जमींदार थे और कौसानी राज्य में कोषाध्यक्ष का काम करते थे। उनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। पंत जी उनकी सबसे छोटी सन्तान हैं। वह चार भाई हैं। उनके यहाँ जमींदारी का काम अब भी होता है।

जीवन-परिचय

पंत की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में सात वर्ष की अवस्था से आरम्भ हुई। यहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में भरती हुए। इस स्कूल में

उन्होंने नवीं कक्षा तक पढ़ा। इसके बाद वह काशी चले गये और सन् १९१७ ई० में वहाँ के जयनारायण हाईस्कूल से स्कूल-लीविंग की परीक्षा पास की। सन् १९१९ ई० में वह प्रयाग आये और म्योर सेंट्रल कालेज में भरती हुए। यहाँ उनकी विकासोन्मुखी प्रतिभा को आश्रय मिला। आरंभ ही से साहित्यिक अभिरुचि रखने के कारण कालेज में पढ़ते समय पं० शिवाधार पाण्डेय का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। वह हिन्दी के पुराने लेखक तथा काव्य-मर्मज्ञ थे और उनका अध्ययन भी गंभीर था; इसलिए उन्होंने पंत की काव्य-प्रतिभा देखकर अँगरेजी कवियों की रचनाएँ पढ़ने में उन्हें विशेष सहायता दी। उन्हीं की देख रेख में पंत ने उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध आलोचनात्मक निबन्धों, भास आदि के नाटकों तथा तुलनात्मक आलोचना का अध्ययन किया। निरन्तर अध्ययन से पंत की रुचि साहित्य और काव्य-रचना की ओर परिकृष्त रूप से अग्रसर हुई।

सन् १९२२ ई० में पंत को अपना कालेज-जीवन समाप्त कर देना पड़ा। इसके पश्चात् वह घर चले गये और वहाँ उन्होंने स्वतंत्र रूप से अध्ययन करना आरंभ किया, उनका अध्ययन कई दिशाओं में हुआ है। अँगरेजी तथा विदेशी साहित्यकार के काव्यों, श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों और संस्कृत के काव्यों का मनन करने से उनकी प्रतिभा को पर्याप्त बल मिला है। उपनिषद्, दर्शन तथा आध्यात्मिक साहित्य की ओर भी उनकी रुचि रही है। बँगला-साहित्य, विशेषतः रवि बाबू के साहित्य, का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया है। संगीत से उन्हें विशेष प्रेम है। उन्होंने कुछ दिनों तक 'रूपाभ' मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है। मद्रास में रहकर उन्होंने उदयशंकर के चलचित्र 'कल्पना' का कार्य भी किया है। इस समय वह लोकायन संस्कृति-पीठ के निर्माण और संगठन में लगे हैं।

पंत की रचनाएँ—पंत ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को कई काव्य-पुस्तकें दान की हैं। विद्यार्थी-जीवन से ही काव्य-रचना की ओर अग्रसर

होने के कारण उनकी रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. काव्य—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रंथि, गुंजन, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल

२. नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्स्ना

३. उपन्यास—हार

४. कहानी-संग्रह—पाँच कहानियाँ।

५. अनुवाद—उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद।

हिन्दी-काव्य के उन्नायकों में पंत का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनके रेशम-से कोमल कुंचित केश, उनका प्रशस्त ललाट, उनकी चमकती हुई आँखें, उनका सुगठित शरीर जहाँ हमें उनके शारीरिक सौंदर्य का परिचय देता है वहाँ उनकी वेश-भूषा, उनकी रहन-सहन, उनकी चाल-ढाल से हमें उनके आन्तरिक सौंदर्य का, उनकी कला-प्रियता का भी आभास मिल जाता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला-प्रेमी हैं। प्रकृति सुन्दरी की गोद में जन्म लेने के कारण उन्हें प्रकृति से विशेष प्रेम है और यही प्रेम उनकी काव्य-प्रेरणा का रहस्य है। उनमें जो शालीनता, चिन्तनशीलता, सौम्यता, दार्शनिकता, कल्पना-शीलता और उदारता है वह भी उनके प्रकृति-प्रेम के ही कारण है। उनके प्रकृति-प्रेम ने उनमें जहाँ एक ओर इन विशेषताओं को प्रतिष्ठापित किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने उन्हें जन-भीरु भी बना दिया है। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी वह दूर रहते हैं।

पंत का व्यक्तित्व

पंत के व्यक्तित्व की एक यह भी विशेषता है कि उनका अन्तर्व्यक्तित्व जितना कोलाहलपूर्ण और गम्भीर है उतना ही उनका बहिर्व्यक्तित्व उल्लासपूर्ण है। व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों के समन्वय में ही उनके

कवि का यथार्थ परिचय एवं दर्शन मिलता है। साधारण दृष्टि से उनका व्यक्तित्व पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। उनका संगीतमय सुमधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य, विनम्र और निश्छल वार्तालाप में अद्भुत आकर्षण है। वह परम आस्तिक, आशावादी, आत्मविश्वासी और निरभिमानी हैं। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की सुंदर क्षमता है। दैनिक जीवन में वह अपने ऊपर उतना ही बोझ रखना पसंद करते हैं जितने से स्वस्थ रहकर वह जीवन को जीवन बनाये रह सकें। कवि के साथ ही वह अच्छे गायक और मनोहर वाद्यकार भी हैं।

पंत अध्ययनशील कवि हैं। अपने विद्यार्थी-जीवन से अब तक वह बराबर अध्ययन करते आ रहे हैं। दर्शन, उपनिषद् आदि ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने विशेष रूप से किया है। इसके अतिरिक्त वह रवीन्द्र-साहित्य के भी प्रेमी रहे हैं और अँगरेजी साहित्य के भी। वह हिन्दी-संस्कृत, बँगला और अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता हैं। इन विविध प्रकार के अध्ययनों से उनके व्यक्तित्व को पर्याप्त बल मिला है। प्रकृति की खुली पुस्तक भी उनके अध्ययन का माध्यम रही है। इसलिए उनकी पर्यवेक्षण शक्ति अद्भुत है। प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का उन्हे जितना ज्ञान है उतना हिन्दी के अन्य कवियों को नहीं है। वह प्रकृति के सुंदर और सौम्य रूप के ही उपासक रहे हैं, पर उसका उग्र रूप भी उन्होंने चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी सुंदर पक्ष ही उन्होंने ग्रहण किया है। उनका मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं की ओर आकर्षित नहीं हुआ है। इस प्रकार संक्षेप में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह अपने काव्य-जीवन में केवल सौंदर्य और प्रेम के ही उपासक रहे हैं और रहेंगे।

पंत का व्यक्तित्व असामान्य है। उनका अंतरंग और बहिरंग दोनों सुंदर हैं। उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कहं अधिक है। इसलिए वह जीवन के संघर्ष में जमकर खड़े नहीं हो सकते।

उनका अब तक अविवाहित रहना, जीविका की ओर से उदासीन रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न रहना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह अपने जीवन में किसी प्रकार का संघर्ष सहन नहीं कर पाते। जीवन की बहुरंगी कठिनाइयों से वह उसी प्रकार भागते हैं जिस प्रकार एक साधक; और वस्तुतः वह एक साधक हैं। जीवन का एकाकीपन उनकी साधना में सहायक हुआ है, अतएव वह निरंतर एकान्त एवं अन्तर्मुखी होती गई है। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही एक पलायन, एक एस्केप है और यही पलायन-वृत्ति उनकी सौंदर्य-साधना की जननी है। पलायन का मूल है अपने में वर्तमान विषमताओं के समाधान की शक्ति का अभाव देखना। इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य जब अपने में वर्तमान विषमताओं का समाधान नहीं कर पाता और उनसे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेता है तब वह पलायनशील हो जाता है। पंत हिन्दी के पलायनशील कवि हैं और वस्तुतः इसी पलायनशीलता ने उनके व्यक्तित्त्व का निर्माण किया है।

अब हम पन्त पर पड़े हुए प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक कवि अथवा लेखक की

पंत पर प्रभाव

कृत्तियों के बहिरंग तथा अंतरंग पर उसके जीवन-सम्बन्धी भौतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक वातावरण का अवश्य प्रभाव पड़ता है। पंत अपनी साहित्य-साधना में दो बातों से अधिक प्रभावित दीख पड़ते हैं—एक तो अपने भौतिक वातावरण से और दूसरे अपने साहित्यिक अध्ययन से। पंत के जीवन-परिचय में हम यह बता चुके हैं कि बचपन में उनका पालन-पोषण प्राकृतिक सुषमा की गोद में हुआ था। इसलिए प्राकृतिक सौंदर्य का उनके काव्य-जीवन पर प्रभाव अवश्यंभावी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने आधुनिक कवि संख्या २ के पर्यालोचन में लिखा है—'कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिनका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल-प्रदेश को

है। 'कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।......और यह शायद पर्वत प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चय रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जन-समूह से अब भी मैं भागता हूँ।' पंत के इन शब्दों के आलोक में उनके रचनाओं की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं और आलोचकों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

पंत की रचनाओं पर दूसरा प्रभाव उनके अध्ययन एवं अनुशीलन का पड़ा है। इस सम्बन्ध में वह अपनी उसी पुस्तक के पर्यालोचन में कहते हैं—'स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई।' इससे स्पष्ट है कि वह दार्शनिक क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के वैदान्तिक सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हुए और 'परिवर्तन' की रचना उन्होंने उन्हीं के प्रभावों के अन्तर्गत की। वस्तुतः भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि 'पल्लव' में हमें कवि का मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है। इसके बाद की उनकी रचनाएँ आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा से भरी हुई हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में कलावाद के प्रभाव से जिस सौंदर्यवाद का चलन योरप के काव्य-क्षेत्र में हुआ उसका भी पंत पर पूरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर सौंदर्य-चयन को अपने जीवन की साधना माना है। अन्य बातों में वह अँगरेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ,

कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। इस सम्बन्ध में पंत का कहना है—'इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौंदर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौंदर्य-कल्पना को ही परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का 'स्लोगन' भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ।'

पंत अपने युग की प्रगति तथा उसकी राजनीतिक परिस्थितियो और आवश्यकता से भी प्रभावित हैं। गांधीवाद और समाजवाद का भी उन पर विशेष प्रभाव है, पर इन दोनो वादों को उन्होंने अक्षरश: नहीं अपनाया है। उन्होंने इन दोनों वादो के सत्य को ग्रहण करके एक वाद के अभाव की दूसरे वाद से पूर्ति की है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में न तो विशुद्ध गांधीवाद है और न विशुद्ध समाजवाद। इन दोनों का सुंदर समन्वय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। समय परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील लीला का प्रभाव जब व्यष्टि रूप से हृदय पर पड़ता है तब साहित्य-कला की सृष्टि होती है और जब समष्टि रूप से समाज पर पड़ता है तब इतिहास की रचना होती है। पंत ने अपने युग के परिवर्तनों के इन दोनों प्रभावों को ग्रहण किया है, इसलिए उनकी काव्य-धारा भी बदली है और मनोधारा भी। युग की सम्पूर्ण प्रगति अभी प्राप्त नहीं, क्योंकि संसार में युग ने अभी अपना प्रथम चरण ही रखा है, अतएव वह भी अभी अविकसित है।

पंत का महत्त्व

हिन्दी-साहित्य के उत्थान में पंत का महत्त्व कई दृष्टियो से आँका जा सकता है। भाषा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि खड़ीबोली को काव्योचित भाषा देने का एकच्छत्र श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। ब्रजभाषा ने मध्ययुग से द्विवेदी-काल तक जो कल-कोमल प्राञ्जलता, मनोहर चित्र-चारुता प्राप्त की थी उसे उन्होंने अपने कुल बीस-पचीस वर्षों

के काव्य-जीवन में ही खड़ीबोली को अर्पित कर दिया। खड़ीबोली की कविता के लिए यह प्रवाद था कि उसकी खड़खड़ाहट में ब्रजभाषा जैसा माधुर्य नहीं आ सकता, पर पंत ने उसकी खड़खड़ाहट और खुरदुराहट दूर कर उसे इतना सुस्निग्ध एवं कोमल बना दिया है कि सम्प्रति उसके सम्बन्ध में इस प्रवाद का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। द्विवेदी-युग में स्वर्गीय श्रीधर पाठक ने ब्रज भाषा के सम्मिश्रण से खड़ीबोली को मधुर बनाने का प्रयत्न किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। गुप्त जी ने खड़ीबोली का निजी साँचा हिन्दी और संस्कृति के साहचर्य से उपस्थित किया, पर उनकी भाषा में माधुर्य का गौण रूप से ही समावेश हो पाया। निराला ने खड़ीबोली को प्राञ्जल उत्कर्ष अवश्य प्रदान किया, पर उनकी भाषा के उसके मानसिक पौरुष को ही स्थान मिला। अतः भाषा को अभी संगीत के कोमल व्यक्तित्त्व से द्रवित होने की आवश्यकता थी। पंत ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उनकी कविता में भाषा का कोमल संगीत खड़ीबोली के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा अधिक मुखरित हुआ। इस दिशा में उन्हें ब्रजभाषा के कवियों की अपेक्षा अधिक स्वावलम्बी बनना पड़ा। इसलिए भाषा के क्षेत्र में खड़ीबोली के नीरस कलेवर में रस-सञ्चार का श्रेय केवल उन्हीं को प्राप्त है।

पंत के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी अपनी रचनाओं में भाषा के सौंदर्य और भावों के माधुर्य का ताल और स्वर की भाँति संतुलन बनाये रखते हैं। यह बड़े सधे हुए हाथों का काम है। काव्य-कला की यह साधना अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः इसी साधना में उनकी लोकप्रियता का रहस्य निहित है। उनके काव्य-कला की एक और विशेषता है और वह है पुनरुक्ति की—रिपीटीशन की। इस दिशा में अधिकांश कवियों ने पुराने कवियों की-सी टेक ही अपनाई है। पंत ने अपनी कविताओं में शब्दों की पुनरुक्ति का प्रयोग विशेष कलात्मक रूप से किया है। उनका रिपी-

टीशन उस संगीत की भाँति है जो सब कुछ बजाकर अपनी अन्तिम ताल में प्रथम ताल को छू लेती है। इससे उनकी कविता में मर्मव्यंजकता आ गई है। शैली की इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य अप्रस्तुत विधान की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं।

भावना के क्षेत्र में कल्पना ही पंत की कविता की विशेषता और उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं की आधार है और उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। यही उनकी कविता की मेरुदंड और उनकी काव्य-सृष्टि का मापदंड है। कोरी कल्पना की बाल-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर अत्यन्त तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में उनके कवि का विकास-क्रम देखा जा सकता है। उनकी इस कल्पना-शक्ति को उनकी सौंदर्यानुभूति से पर्याप्त बल मिला है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके उन्हें ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग से खुल जाते हैं। प्रेम के संयोग और वियोग पक्षों को भी समान सौकर्य से प्रकट करने में उनकी कल्पना कुंठित नहीं होती। वह रहस्यमयी सृष्टि का आयोजन भी करती है। वस्तुतः पंत अपनी ऐसी कल्पना-शक्ति के कारण ही स्वच्छन्द होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। आधुनिक हिन्दी का कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समानता नहीं कर सकता।

पर हिन्दी-जगत् में पन्त की प्रसिद्धि एवं लोक-प्रियता केवल इन्हीं विशेषताओं के कारण नहीं है। ऐसी विशेषताएँ तो न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक कवि की रचनाओं में पाई जा सकती हैं। साहित्यकारों के बीच कवि का महत्त्वपूर्ण स्थान बनाता है उसका स्वतंत्र चिन्तन। पन्त ने अपने स्वतंत्र चिन्तन द्वारा हमें बहुत कुछ दिया है। इस सम्बन्ध में हम उनके देन की चर्चा अन्यत्र करेंगे, पर यहाँ संक्षेप में हम यह बता

देना चाहते हैं कि उन्होंने हिन्दी की वर्तमान काव्य-धारा को सर्वप्रथम छायावाद और रहस्यवाद की रूढ़ियों से निकालकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता—ट्रू रोमैण्टिसिज़्म—की ओर उन्मुख किया है। 'पल्लव' की कतिपय रचनाएँ—उच्छ्वास, आँसू, परिवर्तन और बादल आदि—ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें देखने से पता चलता है कि यदि छायावाद के नाम से एक वाद न चल पड़ा होता तो पंत स्वच्छन्दता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते, क्योंकि रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर उनकी प्रतिभा बहुत कम उन्मुख हुई है।

पंत के स्वतंत्र चिन्तन की दूसरी विशेषता है उनका मानव-काव्य। हिन्दी-जगत् के लिए यह एक बिल्कुल नई चीज़ है। पंत के मानव-काव्य में उनकी सौंदर्य-भावना मंगल-भावना के रूप में परिणत हो गई है और वह अपने इस दृष्टिकोण के कारण बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनकी एक अपनी फिलासफी है जिसे उन्होंने कई वादों के अध्ययन तथा मंथन के पश्चात् ग्रहण किया है। उन्होंने काव्य, संगीत, चित्र और शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करने की चेष्टा की है।

एक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में पंत का और भी महत्त्व है। उन्होंने हिन्दी-कविता में मुक्तकों को एक विशेष उत्कर्ष दिया है। मध्य-युग में एक कवित्त अथवा एक सवैया में एक भाव अथवा एक चित्र के रूप में मुक्तकों की सृष्टि हुई थी। कतिपय वैष्णव-कवियों के गीति-काव्यों में कहीं-कहीं एक भावना का विविध उत्थान-पतन भी दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग में एक विषय इतिवृत्तात्मक रूप में उपस्थित कर दिया जाता था। नवीन युग में एक विषय के भाव-प्रवण विस्तार पर ध्यान रखा गया। पंत ने भाव-प्रवण विस्तार ही नहीं, चित्र की अनेकता तथा भाव की विविधता को संगीतोपम स्वरूप दिया। उनकी प्रायः प्रत्येक मुक्तक कविता एक खण्ड-काव्य का स्वरूप ग्रहण करती चलती है जिसकी

पंक्तियाँ किसी कथानक पर अवलम्बित न होकर भी भावों का सुदीर्घ उत्थान-पतन तथा प्राकृतिक सौंदर्य का विपुल निरीक्षण करती चलती हैं। उनके कई विषय बिल्कुल नये हैं। 'छाया' जैसे अमूर्त विषय को अपनी विपुल कल्पनाओं द्वारा साकार कर देना और 'बादल' जैसे चिर-परिचित विषय को नव-छवि और नव-ध्वनि प्रदान कर देना उनकी उर्वर कवि-प्रतिभा का सूचक है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस कार्य-सम्पादन में कहीं-कहीं उन्होंने अन्य कवियों के भावों का पाथेय लिया है, पर जिस प्रकार उन्होंने उन भावों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखा है वह सर्वथा नवीन और हिन्दी को उनकी अपूर्व देन है।

पंत की दार्शनिक भाव-भूमि

प्रत्येक साहित्यकार की एक अपनी विचार-धारा होती है, एक अपनी सूझ होती है जिसके अनुसार वह साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। पंत की भी एक अपनी विचार-धारा है, एक अपनी सूझ है। ईश्वर, जीव, प्रकृति और इस त्रैत के अन्तर्गत आनेवाली जीवन, मृत्यु, दुःख-सुख आदि गूढ़तम समस्याओं के प्रति जिस प्रकार अन्य कवियों ने अपनी-अपनी धारणा और विश्वास के अनुकूल विचार प्रकट किये हैं उसी प्रकार पंत ने भी इन समस्याओं पर विचार किया है। यहाँ हम संक्षेप में इन्हीं बातों पर विचार करेंगे :—

[१] ईश्वर-सम्बन्धी विचार—पंत पूर्ण आस्तिक हैं। ईश्वर पर उनका पूर्ण विश्वास है। विश्वास को वह जीवन का अनिवार्य अंग समझते हैं। निर्गुण रूप में वह अपने ईश्वर को 'उल्लास' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। वह कहते हैं :—

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधा भास

यही 'उल्लास' ईश्वर की अज्ञात शक्ति है जो कभी उन्हें प्रियतम

के रूप में विस्मित करती है और कभी जगज्जननी के रूप में उन्हें आनन्द-विभोर। वह मुख्यतः उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं।

[२] जीव और प्रकृति-सम्बन्धी विचार—ईश्वर की महत्ता के साथ-साथ पंत जीव की महत्ता भी स्वीकर करते हैं। वह उसके गौरव से भी अभिभूत हैं और उसे सत्य मानते हैं। उनके विचार में वह उसी सत्ता का—अज्ञात शक्ति का—प्रकाशमात्र है। इसी प्रकार प्रकृति भी सत्य है, क्योंकि वह भी ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है :—

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास।
शाश्वत लघु लहरों का विलास, हे जग जीवन के कर्णधार!

पंत उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं। यही नारी-रूप प्रकृति के भिन्न रूपों में, हमारी गृहलक्ष्मियों की भाँति, कहीं माता, कहीं सहचरी और कहीं प्रेयसी है। वह निखिल भुवन मोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक प्रकृति में अपनी सुषमा-शोभा का विस्तार करती है।

[३] जीवन और जगत्-सम्बन्धी विचार—पंत की दृष्टि में यह जगत् उस अलौकिक छवि का प्रतिबिम्ब है, इसलिए यह भी सुन्दर और सत्य है। अपनी इसी धारणा के कारण वह विश्व-प्रेमी हैं। उन्हें इस विश्व की प्रत्येक वस्तु से प्रेम है। देखिए :—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी नर, सुर वर
सुन्दर अनादि शुभ-सृष्टि अमर!

जगत् से प्रेम होने के कारण पंत को जीवन से भी प्रेम है। उनके विचार से जीवन सत्य और सुंदर है। देखिए :—

जग-जीवन में उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे

परन्तु जीवन अपूर्ण है। उसमें कोलाहल है, द्वन्द है, संघर्ष है। पंत की दृष्टि में इसका कारण यह है कि मनुष्य मानव-जीवन का अर्थवाद की दृष्टि से तत्त्वावलोकन करता है। वस्तुतः उसके हृदय में भौतिकवाद के प्रति अधिक आस्था है। इसलिए वह कहते हैं :—

आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

पंत शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करके भी उसी को सब कुछ नहीं मान लेते, अपितु आत्मवाद और भौतिकवाद के सुंदर संयोजन से एक नवीन संस्कृति का उद्‌भव चाहते हैं जो अपूर्ण मानव-जीवन को वास्तविक मानव-जीवन बनाने में समर्थ हो सके। यह उसी दशा में सम्भव होगा जब मानव जीवन के अन्तर मे प्रवेश करेगा। जीवन के अन्तर में प्रवेश करने का अर्थ है जीवन को सार-रूप में ग्रहण करना, जीवन में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन को जागृत करना। इससे संसार स्वर्ग हो जायगा और मानव देवता।

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर, देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहों में, है मुक्ति यही जीवन बन्धन।

[४] जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी विचार—जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में पंत के वही विचार हैं जो प्रायः भारतीय दार्शनिकों के रहे है। उनके विचार से जीवन विकास का नाम है और मृत्यु उसके क्रम के ह्रास का ! जन्म और मृत्यु इस जगत् के दो द्वार हैं जिनमें से होकर आना-जाना लगा रहता है। जब तक हम लोग विशव के मनस्तत्त्व के इन न रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे तब तक मानव-जाति विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है, यही सृष्टि का रहस्य है।

[५] मानव के सुख-दुःख-सम्बन्धी विचार—मानव के सुख-दुःख के सम्बन्ध में पन्त कहते हैं :—

जग-जीवन में है सुख-दुःख,
सुख-दुःख में है जगजीवन।

× × ×

सुख-दुःख न कोई सका भूल।

पंत जीवन में सुख और दुःख दोनों की सत्ता स्वीकार तो करते हैं, पर चित्रण करते हैं सुख का—जीवन के आह्लाद का। पंत जीवन को हास-हुलासमय देखना चाहते हैं। अपने मधुर-मलय-पुलकित जीवन में वह कभी निदाघ-संतप्त समीर का भी स्पर्श पा लेते हैं और उस समय उनकी पलकों में विश्ववेदना के कुछ तुहिन-बिन्दु भी उमड़ पड़ते हैं, पर जीवन के प्रति उनका जो विश्वास है वह उन्हें वेदना की ओर झुकने का अधिक अवकाश नहीं देता। वह कहते हैं :—

हँसमुख से ही जीवन का पर हो सकता अभिवादन।

× × ×

जीवन की लहर-लहर से, हँस खेल खेल रे नाविक,
जीवन के अन्तस्तल में, नित बूड़ बूड़ रे नाविक।

इसलिए कि :—

अस्थिर है जग का सुख-दुःख, जीवन ही नित्य चिरन्तन!
सुख दुख से ऊपर, मन का जीवन ही रे आलम्बन

पंत की दृष्टि में जीवन के क्षणिक सुख दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति जीवन से भिन्न हैं, जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है :—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर लहराता जीवन सागर

जीवन के इस उन्मुक्त स्वरूप को हृदयंगम कर लेने पर विश्व की जटिलता में भी मनुष्य अपने लिए एक स्थान बना लेता है। 'पंत जीवन को निस्तरंग रूप में नहीं, अपितु एक तरंगाकुल कलकलनिनादिनी सरिता के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। निस्तरंग सरिता जिस अनन्त सिन्धु में जा मिलेगी, तरंगाकुल सरिता भी उसी में मिलकर पूत होगी। निस्तरंग जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। वह विडम्बना-मात्र है। इसलिए उनका विश्वास है कि यदि अपने हृदय का हास-हुलास, क्रीड़ा कलरव लेकर यह जीवन उस अनन्त सिन्धु से मिले तो सच्चिदानन्द को अधिक प्रसन्नता होगी।'

[६] मुक्ति-सम्बन्धी विचार—पंत संसार के दारुण दुःख और उच्छ्वास से विरक्त होकर जीवन को संसार से पृथक् करना पसन्द नहीं करते। वह कर्म में विश्वास करते हैं, वैराग्य में उनकी आस्था नहीं है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में ही आस्था है। वह कहते हैं :—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरलपन।
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन॥

जीवन के नियम देखने में तो सरल हैं, पर वे युगों के गूढ़ आत्म-चिन्तन के पश्चात् सुलभ हुए हैं। इसलिए उनका सरलपन चिरगूढ़ है। उन सरल नियमों के सम्बन्ध में यदि हम विश्वास से काम लें तो लोक-जीवन सुखी हो सकता है। जीवन के नियमों को तोड़कर उन्मुक्त हो जाना सहज है, पर जीवन के बन्धनों में ही मुक्ति को आबद्ध पाना एक श्रेष्ठ आत्मसाधना है। बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सगुण-द्वारा निर्गुण की अनुभूति अथवा शरीर द्वारा आत्मा की प्राप्ति। इसीलिए वह कहते हैं :—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,

गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन।
निज अरूप में भर स्वरूप मन।

७. सामाजिक आदर्श—पंत आस्तिक और आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका आत्मसाधना में विश्वास है। वह मुक्ति नहीं चाहते। वैराग्य में भी उनकी आस्था नहीं है। उन्हें अपने जीवन से, अपने संसार से प्रेम है। वह चाहते हैं मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाना, ऐसा मानव बनाना जिसके मस्तिष्क और हृदय में सामंजस्य हो, जिसके हृदय में संकीर्णता न हो, जो सारी मानव-जाति को, विश्व के प्रत्येक मानव को अपना समझे। यही उनका सामाजिक आदर्श है, यही उनका उच्चादर्श है। अपने इस आदर्श को वह रूढ़ियों के बन्धन में नहीं, अपितु व्यक्तियों के स्वतंत्र विकास में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। वह चाहते हैं मानव-जीवन में स्वार्थ का त्याग और आत्मोत्सर्ग का महत्त्व स्थापित करना। मानव-जगत में अब राष्ट्रीयता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता भी आ गई है। केवल राजनीति की सिद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता ही नहीं, वरन् आन्तरिक ऐक्य के लिए विश्व मानवता भी आ रही है। इसके फलस्वरूप जिस मानव, जिस समाज, जिस विश्व के उदय की उदयाचल पर अरुणिमा प्रकट होने को है, उसी का स्वप्न हम नवयुग के पलकों में देख रहे हैं। यह स्वप्न एक देश की नहीं, अपितु सम्पूर्ण देशों की सुसंस्कृत आत्माओं में अपना छायाचित्र उतार रहा है। हमारे साहित्य में पंत भी ऐसे ही स्वप्नदर्शी हैं :—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर, मेरे विचार जग के विचार
मेरे मानव का स्वर्गलोक उतरेगा भू पर नई बार

इस प्रकार विचार करने पर हम देखते हैं कि पन्त की विचार-धारा में एक विकाससूत्र है जिससे उनके दर्शन का यथार्थ परिचय मिल जाता है। उनके विचार सभी समस्याओं पर अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट हैं। वह अपने दर्शन में समन्वयवादी अधिक हैं। भूतवाद

और अध्यात्मवाद, मनुष्यत्व और देवत्व, पदार्थ और चेतना समाज-वाद और गान्धीवाद तथा व्यष्टि और समष्टि के सुन्दर समन्वय में ही उनके दर्शन का, उनकी चिन्तन शैली का विकास हुआ है। युगवाणी में उनके कथनानुसार पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं :—

[१] भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

[२] समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

[३] पिछले युग के उन मृतआदर्शों और जीर्ण रूढ़ियों की तीव्र भर्त्सना जो आज मानव के विकास में बाधक हो रही हैं।

[४] मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि-शास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचार-धारा पर प्रभाव, जन-समाज का पुनः सगठन एवं दलित लोकसमुदाय का जीर्णोद्धार।

[५] वहिर्जगत् के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता, राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।

पंत ने अपने दर्शन में विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न मे हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायें, देवत्त्व को आत्मसात कर हम मनुष्य बने रहें और मानव दुर्बलताओं के भीतर से ही अपना निर्माण एवं विकास करें। पंत की यह विचारधारा वर्तमान समय के अनुकूल ही है। आज संसार में जो विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं वह गत सामाजिक संघर्षों की प्रतिक्रियाएँ हैं। वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन इन्हे दबाने में लगे हुए हैं इनमें से एक सूक्ष्म तत्त्व है मनुष्य का रागतत्त्व जो पिछले युगों के संस्कारों और युगों से सीमित है। इस रागतत्त्व को अपने विकास के लिए अधिक उन्नत धरातल चाहिए। इस वृत्ति के विकास से ही मनुष्य अपने देवत्त्व के समीप पहुँचेगा।

पंत की काव्य-साधना

पंत की दार्शनिक भाव-भूमि से यह स्पष्ट है कि वह नवीनतम हिन्दी-साहित्य के एक जागरूक कवि और कलाकार हैं। उन्होंने हिन्दी-संसार को अपनी जो रचनाएँ भेंट की हैं उनमें भाषा की नवीनता है, भावों का माधुर्य है और विचारों की गंभीरता है, पर अपनी अबतक की रचनाओं में वह सर्वत्र एक-से नहीं हैं। समय के अनुसार उनमें परिवर्तन हुआ है। इससे हमारा तात्पर्य केवल यह है कि आरंभ में उन्होंने जिस माध्यम से हिन्दी-काव्य में प्रवेश किया वह उनकी अबतक की रचनाओं में विविध रूप धारण करता रहा है। माध्यम की विविधता ही उनके कवित्त्व का प्राण है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि पल्लव और गुंजन के पंत ज्योत्स्ना के पंत नहीं हैं और ज्योत्स्ना के पंत युगवाणी और ग्राम्या के पन्त नहीं हैं, पर माध्यम की इस विभिन्नता के कारण पंत के कवि के विकास में कहीं भी बाधा नहीं पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि बाह्य दृष्टि से देखने पर कवि के तीन रूप दिखाई देते हैं, पर रचनाओं की आत्मा में प्रवेश करने पर उनका एक ही रूप उन तीनों रूपों में व्याप्त दिखाई पड़ता हैं। उनके कवित्व की प्रगति-रेखा टेढ़ी-मेढ़ी अवश्य है, पर उनकी विचारधारा का विकास सीधा और स्पष्ट है। उनके विकास के तीन सोपान इस प्रकार हैं :—

[१] पंत अपने काव्य-जीवन के आरंभ में सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। 'वीणा' उनकी प्रथम कृत्ति है। इसमें उन्होंने प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूतियों का बड़ी ही ललित भाषा में चित्रण किया है। इसके बाद 'ग्रन्थि' उनकी दूसरी रचना है। इसमें एक छोटे से प्रेम-प्रसंग का आकार लेकर उनके कवि-हृदय ने प्रेम की अनुभूति में प्रवेश, फिर चिर विषाद के गर्त में पतन दिखाया है। 'पल्लव' उनकी तीसरी कृति है। यह उनकी प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसमें प्रतिभा के उत्साह का तथा प्राचीन काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध

प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें प्रस्फुटित यौवन का अन्तर्बाह्य दृष्टिपात तथा भाव भाषा का दृगोपम दीर्घ प्रसार है। इस प्रकार अपनी तीनों कृत्तियों में पंत मुख्यतः सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं।

[२] 'पल्लव' के पश्चात् पंत के विकास का द्वितीय सोपान आरंभ होता है। इस सोपान का आरंभ अचानक नहीं होता। उनकी प्रथम तीन कृत्तियों में इसके बीज वर्तमान रहते हैं जो अंकुरित और विकसित होते हुए 'गुञ्जन' तक आते हैं। 'गुञ्जन' में उनकी सौंदर्यानुभूति और प्रेमानुभूति को प्रौढ़ता मिलती है। इसमें वह लोकजीवन के अन्तस्तल में भी अवगाहन करते हैं। इसमें संग्रहीत उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता उनकी प्रौढ़ चिन्तनशीलता का प्रतिनिधित्त्व करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भावुक न रहकर चिन्तक हो गये हैं। उनकी प्रथम तीन कृत्तियों में प्राकृतिक सुषमा की मनोज्ञ झाँकी है, पर इस कृत्ति में उनकी अन्तर्दर्शन की जिज्ञासा है। यह अन्तर्जिज्ञासा उनके कवि हृदय में लीलामय जीवन के प्रति बुद्ध की विरक्ति नहीं, अपितु एक विश्वासपूर्ण अनुरक्ति उत्पन्न करती है।

[३] 'गुंजन' के बाद पंत की रचनाएँ हैं—युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या। इन रचनाओं-द्वारा वह अपने विकास के तृतीय सोपान पर आते हैं। यहाँ आकर वह जीवन के कवि हो गये हैं। यहाँ हम उन्हें केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभवाले सौंदर्य से बढ़कर जीवन-सौंदर्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं। उन्हें बाहर जगत् में सौंदर्य, स्नेह और उल्लास का अभाव दिखाई देता है। इससे वह जीवन की सुंदरता की भावना मन में करके उसे जगत् में फैलाना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि 'पल्लव' की सौंदर्य-भावना 'गुंजन' में चिन्तनशक्ति का पाथेय पाकर प्रौढ़ होती है और 'युगान्त' में वह व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हो जाती है। 'पल्लव' और 'गुंजन' में वह लोक-जीवन के शीत और ताप से अपने हृदय को बचाते

से रहे हैं, पर 'युगान्त' में उन्होंने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है।

पंत के इस विकास-क्रम से उनकी रचनाओं का वर्गीकरण लसरार-पूर्वक किया जा सकता है। हम उनकी रचनाओं को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं :—

१. सौंदर्यानुभूति-सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त प्रकृति सुषमा के सुकुमार कवि है। उनकी रचनाओं में प्रकृति के मनोरम रूप का जैसा सुंदर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कारण, वह प्रकृति की गोद में पले है। प्रकृति के सुखद व्यापारों के प्रति उनकी अत्यधिक आस्था है, इसलिए प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण उनकी रचनाओं में बहुत कम है। उनकी सौंदर्यानुभूति की कविताओं में मन्द-मन्द संगीत है, सघन झंकार नहीं। कहीं कहीं नव विहग की भाँति भावों के उच्चाकाश तक उठने का सफल प्रयत्न भी है। भावी प्रतिभा की अन्तर्हित स्फूर्ति ने इस प्रयत्न में उन्हें सहायता प्रदान की है। उनकी ऐसी रचनाएँ उनके किशोरावस्था की रचनाएँ हैं। 'प्रथम रश्मि का आना तूने रङ्गिणि! कैसे पहचाना' में उनके किशोर-वय का उच्चतम् संगीत है। 'निर्झरी' में वह कहते हैं :—

दिखा भंगिमय भृकुटि-विलास
उपलों पर बहुरंगी लास
फैलाती हो फेनिल हास
फूलों से कूलों पर चल

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रकृति ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से उनके गीतों में सहज सौंदर्य का प्रसार किया है।

२. प्रेमानुभूति-सम्बन्धी रचनाएँ—पंत की प्रेमानुभूति का आभास 'ग्रन्थि' से मिलता है। इस छोटे-से प्रेम-काव्य में एक

तरुण-हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है। इसके साथ ही इसमें ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव-वय का विद्रोह भी है। कला की दृष्टि से यह दुखान्त वर्णात्मक शैली की अत्यन्त सुन्दर अलंकृत रचना है। अलंकारों और उक्तियों ने उनके नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखाई है। वस्तुतः यह रचना एक युवक कवि का उन्मुक्त गान है जिसकी व्यंजना सच्ची अनुभूति और उर्वर-कल्पना के सुन्दर सम्मिश्रण से हुई है। एक निराश प्रेमी की विवशता इन पंक्तियों में देखिए :—

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय सब भाँति तू कंगाल है
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।

विश्व में ऐसी ही वियोग जन्य अनुभूति, कविता को जन्म देती है। 'आँसू' में पन्त कहते हैं :—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।

वेदना की अनुभूतियों के चित्रण में पन्त को बहुत अच्छी सफलता मिली है। उनकी प्रेम की अनुभूति सच्ची है। इसलिए उनकी रचनाओं में प्रभविष्णुता तथा सरसता है, प्रेमवृत्ति की परिधि के अन्तर्गत आने-वाली जितनी सुकुमार भावनाओं की व्यंजना उन्होंने की है, उतनी आधुनिक कवियों की रचनाओं में कम मिलती है।

३. **रहस्यानुभूति-सम्बन्धी रचनाएँ**—पंत की रहस्यानुभूति स्वाभाविक है, उसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। उनकी जैसी रहस्यभावना है, वैसी इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देखकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करते हुए उन्होंने इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में ही प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि उन्होंने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी प्रिय और प्रेमिका का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री भेद रखा है, 'प्रसाद जी' के समान दोनों को पुल्लिंग रखकर फ़ारसी या सूफ़ी परम्परा का अनुसरण नहीं किया है।

पंत अलौकिक छवि के अखिल व्याप्त सुकुमार नारी रूप के उपासक हैं। यह नारी-रूप प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में कहीं माता है, कहीं सहचरी है, कहीं प्रेयसी। वह निखिल भुवनमोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक प्रकृति में अपनी शोभा-सुषमा का प्रसार करती है। 'पल्लव' के 'मौन निमंत्रण' में उन्होंने अपने आपको प्रेमिका के रूप में, 'गुंजन' में प्रेमी के रूप में और 'वीणा, में बालिका के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रहस्यवाद की रूढ़ियों का अनुसरण नहीं किया है।

पन्त का रहस्यवाद भक्ति-भावना-समन्वित है। उसका अन्त शुष्क जिज्ञासा में नहीं होता और हो भी कैसे! उन्होंने उस परोक्ष शक्ति को माँ के रूप में देखकर भावों के मकरन्द-भरे सुमन उनके कोमल चरणों पर चढ़ाये हैं। अपने को बालिका और ईश्वर को माँ के रूप में देखने के कारण उनकी जिज्ञासा केवल मुग्धा, विस्मय और कृतज्ञता में डूबकर रह गई है। इसीलिए उनकी रहस्यभावना में सरलता, सरसता और स्वाभाविक भोलापन है। उनकी जिज्ञासा एक बालिका की जिज्ञासा है और उनकी भक्ति एक बालिका की भक्ति है:—

न अपना ही, न जगत का भान, न परिचित हैं निज नयन, न कान

दीखता है जग कैसा तात ! नाम, गुण, रूप अज्ञान

× × ×

उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही माँ !
वह अपनी वयवाली में, सजा हृदय की थाली में,

× × ×

अब न अगोचर रहो सुजान
निशानाथ के प्रियवर सहचर ! अंधकार, स्वप्नों के यान
किसके पद की छाया हो तुम, किसका करते हो अभिमान ?

इन पंक्तियों से पंत की रहस्य भावना की सरलता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। छायावाद के क्षेत्र में वह एक ऐसे कवि है जिनका प्रकृति के साथ सीधा सम्बन्ध है। वस्तुतः प्रकृति के अत्यन्त रमणीय दृश्यों के बीच ही उनके कवि-हृदय ने रूप रंग पकड़ा है और उनकी सुषमा की ही उमंगभरी भावना के भीतर ही वह विहार करता रहा है। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं गई है। प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक पहुँचने की उसने चेष्टा नहीं की है। वह प्रकृति-परक रहस्यवादी कवि हैं। उनकी रहस्य-भावना धर्ममूलक नहीं, कला-मूलक है। कलामूलक होने के कारण ही उनके रहस्यवाद की अभि-व्यक्ति शैली परिवर्तित हो गई है।

४. जीवन-दर्शन-सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त अपनी रचनाओं में रहस्यवादी की अपेक्षा जीवन के कवि अधिक हैं। वह प्रकृति-सौंदर्य से जीवन-सौंदर्य की ओर मुड़े है। 'पल्लव' तक वह प्रकृति के केवल सुन्दर, मधुर पक्ष में अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन थे, कर्म-मार्ग उन्हें कठोर ही कठोर दिखाई देता था :—

मेरा मधुकर का-सा जीवन, कठिन कर्म है; कोमल है मन।

पर जब उनके व्यक्तिगत जीवन की किसी विषम परिस्थिति के कारण कर्म-मार्ग से उनका साक्षात्कार हुआ तब जहाँ उनके जीवन में मोड़ आया वहाँ उनकी कविता भी जगत् और जीवन के पूर्ण स्वरूप की ओर अग्रसर हुई। जीवन के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करने पर उनकी कल्पना को कोमल-कठोर, मधुर-कटु, करुण-भयंकर कई प्रकार की भूमियों पर बहुत दूर तक एक सम्बद्ध धारा के रूप में चलना पड़ा है। इस दिशा में उनके मानसिक स्थिति की दो धाराएँ दीख पड़ती हैं। पहले वह लगातार सुख का दुःख में, उत्थान का पतन में, उल्लास का विषाद में परिवर्तन सामने लाकर क्षोभ से भर जाते हैं :—

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

× × ×

मृदुल होठों का हिम-जल-हास, उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश, घेर लेते घन घिर गम्भीर।

× × ×

देव ! जीवन भर का विश्लेष मृत्यु ही है निःशेष !!

पर इस प्रकार का क्षोभ उनके हृदय में स्थायी नहीं रह पाता। वह अपनी इस मानसिक स्थिति से शीघ्र ही ऊब जाते हैं और परिवर्तन के दूसरे पक्ष पर आते हैं। उनकी प्रथम मानसिक स्थिति उन्हें निराशावाद की ओर ले जा रही थी, पर अपनी इस दूसरी मानसिक स्थिति में वह आशावाद की ओर आये हैं। यह उनकी अन्तर्चेतना का, उनकी अन्तर्दृष्टि का परिणाम है। इस मानसिक स्थिति पर पहुँचकर उनके दृष्टिकोण की दो धाराएँ हो गई हैं—एक सापेक्षिक दृष्टिकोण दूसरा निरपेक्ष दृष्टिकोण। सापेक्षिक दृष्टिकोण से वह कहते हैं :—

आज का दुख, कल का आह्लाद
और कल का सुख आज विषाद

× × ×

स्वीय कर्मों के अनुसार, एक गुण फलता विविध प्रकार।
कहीं राखी बनता सुकुमार, कहीं बेड़ी का भार।

× × ×

बिना दुःख के सब सुख निःसार, बिना आँसू के जीवन भार।

× × ×

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जगत् के द्वंद्वात्मक विधान को समझकर जहाँ वह अपने मन को शान्त करते हैं, वहाँ निरपेक्ष दृष्टि से वह यह भी कहते हैं :—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर, लहराता जीवन सागर।
अस्थिर है जग का सुख-दुख, जीवन ही नित्य चिरन्तन।
सुख दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन।

पन्त का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को सन्तुलन देता है। वह सुख-दुख तथा आत्मा और भूत को निमित्त मात्र मानते हैं; इसीलिए उनके प्रति अनावश्यक लोभ न रखकर उनका समुचित संकलन कर लेते हैं। उभय द्वंद्वात्मक तत्त्वों के परे एक परम सत्य को पा लेने के लिए वह अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ दृष्टा हैं। उनकी दृष्टि में जीवन का वर्तमान संघर्ष शाश्वत नहीं है। उसका कभी-न-कभी अन्त होगा :—

होंगे संघर्ष परास्त।
धर्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सब की क्षीण पुकार।

इसलिए वह कहते हैं :—

जीवन की लहर-लहर से हंस-खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़ बूड़ रे भाविक।

५. सामाजिक आदर्श-सम्बन्धी रचनाएँ— हम अभी देख चुके हैं कि पंत का आत्मसाधना में अटल विश्वास है। इसलिए मानव-जीवन और उसके उच्चादर्शों से उन्हें प्रेम है। आज के संघर्षमय तथा कोलाहलपूर्ण जीवन में मानव-समाज को जिस आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की आवश्यकता है उसकी ओर उनकी रचनाओं में पर्याप्त संकेत है। वह कहते हैं :—

सुन्दर हैं विहंग, सुमन सुन्दर मानव तुम सबसे सुन्दरतम
निर्मित सबकी तिल सुषमा से तुम निखिल सृष्टि में चिरनिरुपम,

× × ×

न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर, देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति यही जीवन बन्धन
मृगमय प्रदीप में दीपित हम शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम
हम एक ज्योति के दीप अखिल, ज्योतित जिससे जग का आंगन

वस्तुतः इस आत्मबोध के द्वारा ही हम अपने-अपने अस्तित्व की विराट् सार्थकता समझकर परस्पर स्नेही; सहृदय एवं सहचर बन सकते हैं और तभी विश्व में समान भाव की उपलब्धि हो सकती है। यही सृष्टि पन्त की नवीन सृष्टि है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं :—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौंदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर,

अपने इस स्वप्न को सत्य करने के लिए वह ईश्वर से प्रार्थी भी हैं :—

जग-जीवन में जो चिर महान, सौंदर्यपूर्ण और सत्य प्राण।

मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ ! जिसमें मानव-हित हो समान !!

× × ×

कंकाल-जाल-जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव-लाली

इतना ही नहीं, जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है और नवजीवन-सौंदर्य लेकर आनेवाले युग के उपयुक्त नहीं है उसे भी वह बड़ी निर्ममता से हटाना चाहते है :—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त, ध्वस्त, हे शुष्क, शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, लघु वात-भीत, तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !

इस प्रकार पंत की वाणी में लोक-मंगल की आशा और आकांक्षा के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भरा हुआ है। गत युग के अवशेषों को समूल नष्ट करने के लिए मानव को उत्तेजित करते हुए वह कहते हैं :—

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ाकर !
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर।

सामाजिक जीवन में क्रान्ति के लिए पंत की यह हुंकार यह सिद्ध करती है कि वह क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युगवाणी दे रहे हैं। क्रान्ति द्वारा वह पुरातन का, उस पुरातन का जिसमें पाखंड है, अत्याचार है, अनीति है, द्वेष और मनोमालिन्य है, विनाश चाहते हैं और उसके स्थान पर नवयुग का सृजन करना चाहते हैं। उनके नवयुग में :—

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कार्य-निरत हों भेद भूल,
बन्धुत्व भाव ही विश्व-मूल

पंत की हाल की रचनाएँ इसी आदर्श को लेकर चली हैं।

६. ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धी रचनाएँ—पंत की ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धी रचनाएँ 'ग्राम्या' में संग्रहीत हैं। इसमें उन्होंने ग्राम के समस्त रूपों को, वहाँ के नर-नारियों को, नित्य-प्रति के जीवन को, उसकी संस्कृति को व्यष्टि रूप में नहीं, समष्टि रूप में देखा है। कुछ चित्र व्यक्तियों के भी अंकित किये गये हैं। ग्राम-युवती, ग्राम-नारी, कठ-पुतले, गाँव के लड़के, वह बुड्ढा, ग्राम-वधू, वे आँखें, मज़दूरनी आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। कुछ कविताएँ सामान्य जीवन से भी सम्बन्ध रखती हैं। इनमें धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच, कहारों का रुद्र नृत्य आदि भी सम्मिलित हैं। ग्रामीण दृश्य-सम्बन्धी भी कुछ कविताएँ हैं। इन समस्त कविताओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि पंत की निरीक्षण शक्ति बड़ी तीव्र है और ग्रामीण जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक सहानुभूति है। बौद्धिक सहानुभूति का यह अर्थ है कि कवि उसमें भावमग्न नहीं होता। वस्तुतः पंत का ग्राम्य-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है और न उसके प्रति उनके हृदय में विशेष अनुराग है। इसलिए उनकी कविता में ग्राम्य जीवनविषयक त्रुटियों की कमी नहीं है। अनेक चित्रों में अतिरंजना और एकांगिता आ गई है।

७. गीतिकाव्य—पन्त का गीतिकाव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। उन्होंने कई ऐसे गीत हिन्दी-साहित्य को दिए हैं जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से बेजोड़ हैं। 'मौन निमंत्रण' उनका एक अमर गीत है। उसका एक-एक पद भाव से पूर्ण है। उसकी हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। कल्पना की उत्कृष्टता और अज्ञात की अनुभूति में कवि को प्रकाश में, सघन मेघों में, वसुधा के यौवन में, उद्वेलित सिन्धु में, विश्व के अनन्त सौंदर्य में और तुमुल तम में भी न जाने कौन रह-रहकर प्रकाश के सन्देश से मौन निमन्त्रण दे रहा है। भावना के साथ भाषा भी बड़ी व्यंजक है। 'छाया' भी उनका एक प्रसिद्ध गीत है, संक्षिप्त होने के

कारण उसका सौंदर्य बिखर-सा गया है। 'गुंजन' में उनके छोटे-छोटे गीत अवश्य हैं, पर उनमें जीवन की दार्शनिक अभिव्यंजना अधिक हुई है, इसलिए वे कुछ शुष्क और नीरस हो गये हैं। 'लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल' उनका एक अच्छा गीत है। इसी प्रकार 'सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि! मुझे भी अपने भोले गान' भाव और भाषा की दृष्टि से एक सफल गीत है। वस्तुतः पन्त के काव्य में गीतों की प्रचुरता नहीं है। पर उनके जो गीत हैं, वे अत्यन्त सुन्दर और सरल हैं। भाषा की मृदुलता उनमें अपार है। कहीं-कहीं अलंकृत भाषा और कल्पना के आधिक्य से उनके गीत नीरस भी हो गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त आधुनिक युग के एक सफल कवि हैं। उनमें जीवन है, जीवन में काव्य है और काव्य में प्रकृति है। वह हिन्दी के स्वच्छन्दतावाद के प्रथम सच्चे कवि हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति का सौंदर्य, जीवन का सौंदर्य, जगत् का सौंदर्य, भावों का सौंदर्य, भाषा का सौंदर्य—हर तरह का सौंदर्य अपनी चरम सीमा पर अंकित हुआ है। वह हिन्दी के उच्चकोटि के कलाकार और बेजोड़ कवि हैं।

पन्त की रस-योजना परिपूर्ण और प्रौढ़ है। उनकी रचनाओं में प्रायः कई रसों का सुन्दर और प्रशंसनीय परिपाक हुआ है। शृंगार रस के परिपाक में तो वह अप्रतिम हैं। उन्होंने रस के दोनों पक्षों का—संयोग और वियोग का—सुंदर चित्रण किया है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति का सफल चित्रण पन्त के कवि की एक विशेषता है।

पन्त की रस-योजना

'ग्रन्थि' पन्त की विप्रलंभ शृंगार-प्रधान कविता है। इस कविता में युवक हृदय की भावना पूर्ण रूप से व्यंजित हुई है। इसलिए कवि को रति के संयोग और वियोग के चित्रांकन में बड़ी सफलता मिली है।

उनके संयोग और वियोग दोनों के चित्र अधिक संयत हैं। प्रथम मिलन का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

शीश रख मेरा सुकोमल जांघ पर
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय, भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से।

वियोगजन्य विषाद का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि-बन्धन हो गया, वह नव-कुसुम,
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।

इस प्रकार ग्रन्थि में दर्शन, सौंदर्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु-वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुंदर उद्गार हैं। उसमें आरंभ में पूर्वराग का भी अच्छा विकास है जो संयोग की सीमा तक पहुँच गया है।

रस-योजना की दृष्टि से 'परिवर्तन' में करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और शान्त आदि रसों का सम्यक परिपाक मिलता है। उनकी रचनाओं में हास्य रस का स्फुरण कम है। वास्तव में करुण और शृंगार ही उनके मुख्य रस हैं और यह इसलिए कि उनका भाव-जगत् सीमित है। आज का कवि रस-सृष्टि की बारीकियों को ध्यान में रखकर कवि नहीं है, वह अपने अन्तस के भावों के भार से दबकर लेखनी उठाता है। ऐसी दशा में उसकी लेखनी स्वयं रस टपकाती चलती है। करुण और शृंगार के क्षेत्र में पन्त की लेखनी रस की अविरल धारा प्रवाहित करती है।

पन्त ने अपनी कविता-कामिनी की शृंगार-साधना में बड़ा कौशल दिखाया है, पर इस साधना में रीतिकालीन कवियों की भाँति वह अस्वाभाविक नहीं हुए हैं। उनकी अलंकार-योजना सर्वत्र स्वाभाविक है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग बड़े कौशल से किया है। उनके शब्दालंकार भाषा की वसन-सज्जा के उपकरण होने के कारण भाषा के अंग बन गये हैं। संयत अनुप्रास की छटा उनकी चित्रमय भाषा में सर्वत्र मिलती है। इसके अतिरिक्त श्लेष, पुनरुक्ति तथा यमक का भी चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। यमक का प्रयोग इन पंक्तियों में देखिए :—

पंत की अलंकार-योजना

तरणि के ही संग तरल तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

पन्त अनुप्रास के धनी हैं। वास्तव में कविता-कामिनी की शृंगार-साधना में अनुप्रास का वही स्थान है जो रमणी की वसन-भूषा में नूपुरों का। पन्त के अनुप्रास कविता-कामिनी के शृङ्गार में नूपुरों का ही काम करते हैं। अनुप्रास की छटा इन पंक्तियों में देखिए :—

वन-वन उपवन,
छाया उन्मन उन्मन गुञ्जन, नव वय के अलियों का गुञ्जन।

शब्दालंकार की भाँति पन्त की अर्थालंकार-योजना भी अत्यन्त प्रौढ़ है। उस पर पश्चिमी पालिश अधिक अवश्य है, पर भारतीय अलंकार-शास्त्र से भी वह अनुप्राणित है। उसमें सादृश्य-मूलक अलंकारों को अधिक स्थान मिला है। उपमा और रूपक पन्त की कविता में मणियों की भाँति चमकते हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। उनमें परम्परा की गन्ध नाम-मात्र के लिए भी नहीं पाई जाती। उपमाओं के समान ही उनके उपमान भी रंगीन होते हैं। वह अपने अलङ्कार विधान में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं। उन्होंने सांगोपांग रूपक, उल्लेख, स्मरण,

सन्देह, समासोक्ति, अन्योक्ति, सहोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विधान अपनी रुचि वैचित्र्य के अनुकूल ही किया है। सन्देह उनका प्रिय अलङ्कार है। इसका एक उदाहरण लीजिए :—

निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया;
दृग-पलकों में विचर रहीं, या वन्य देवियों की माया ?

इन भारतीय प्राच्य अलंकारों के अतिरिक्त पन्त ने अँगरेजी अलंकार-शास्त्र से भी कुछ अलंकार लेकर अपनी कविता-कामिनी का शृंगार किया है। ऐसे अलंकार हैं विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण। इनमें पहला भाषा की लक्षण-शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्त्तिमत्ता का परिणाम है। पन्त का एक पद है 'मूक व्यथा का मुखर भुलाव'। इसमें विशेषण विपर्यय अलंकार है। यहाँ 'व्यथा' का प्रयोग व्यथित व्यक्ति के लिए हुआ है। अतः व्यथा मूक नहीं, अपितु व्यथित व्यक्ति ही मूक है। प्रेम का मानवीकरण इन पंक्तियों में देखिए :—

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।

सारांश यह कि पन्त की अलंकार-योजना बड़ी सफल है। अलंकारों के प्रयोग से उनकी भाषा में सौंदर्य-वृद्धि भी हुई है और दुरूहता-वृद्धि भी। कुछ कविताएँ भूषण-भार से दबकर गतिहीन भी हो गई हैं।

पंत की छन्द-योजना

पन्त की छन्द-योजना अत्यन्त विशद है। अपनी छन्द-योजना के प्रति उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। कविता तथा छन्द के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए वह कहते हैं—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में प्रवाह खो बैठती

है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।' उनके इन छन्द-सम्बन्धी विचारों के आलोक में जब हम उनकी छन्द-योजना पर विचार करते हैं तब हमें उनके प्रत्येक छन्द में राग और संगीत की एक अविरल धारा का आभास मिलता है। उनके छन्दों में हमें कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ पृथक् अथवा असम्बद्ध नहीं मिलतीं और यदि कहीं हैं भी तो लय द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती है।

पन्त ने मात्रिक छन्दों में ही अपने समस्त काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनका विचार है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों द्वारा ही हो सकती है। इसलिए उन्हें हिन्दी-छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि छन्द अधिक प्रिय हैं। इन छन्दों में उन्होंने अपनी रुचि तथा संगीत की रक्षा के विचार से परिवर्तन भी किया है। उनके छन्दों में एक स्वरता नहीं है। छन्दों की एक स्वरता नष्ट करने तथा भावाभिव्यक्ति के सहज प्रवाह का निर्वाह करने के लिए उन्होंने उनके चरणों को घटा-बढ़ाकर न्यूनाधिक परिवर्तन भी किया है। उन्होंने मुक्त-छन्द भी लिखे है। उनकी छन्द-योजना पर अँग-रेजी छन्द का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

पन्त के छन्द भावों की गति के अनुसार चलते है। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उनके भाव स्वयं अपने अनुकूल छन्द में परिणत हो जाते हैं। इससे उनके छन्दों में स्वाभाविकता बनी रहती है। 'गुञ्जन' में उन्होंने अपनी छन्द-योजना में अधिक संयम से काम लिया है। उसमें अनुक्रम का अधिक ध्यान रखा गया है। सारांश यह कि पंत की छन्द-योजना उनकी कल्पना, भावना तथा विचारों के उत्थान-पतन के अनुरूप संकुचित और प्रसारित होती रहती है।

पंत की भाषा और शैली

पन्त खड़ीबोली के कवि हैं, पर उन्होंने अपनी कविता में जिस खड़ीबोली को स्थान दिया है वह उनकी अपनी खड़ीबोली है। वह अपनी खड़ीबोली के स्वयं निर्माता हैं। संगीत प्रिय होने के कारण उन्होंने गुप्तजी तथा प्रसादजी से प्राप्त होनेवाली भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन किया है। भाषा के सम्बन्ध में वह कहते हैं—भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृदतन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को अधिक-से-अधिक लय, ताल और संगीत के निकट लाने की चेष्टा की है। अपनी इस चेष्टा में वह सफल भी हुए हैं। उनकी भाषा कोमल है और उनके मधुर भावों को वहन करने में पूर्ण रूप से समर्थ हुई है। वह भाषा की कला के अच्छे जानकार हैं और उसे अपने भावानुकूल बनाने में पटु हैं। उन्होंने उस पर अपना इतना अधिकार जमा लिया है कि वह उनके पीछे-पीछे चलती है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल अवश्य है, पर उन्होंने उसकी कोमलता और मधुरता का ध्यान अवश्य रखा है।

पंत की भाषा चित्र-भाषा है। उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर होते हैं। उनकी भाषा में उनके शब्द कभी तो सेना के सिपाहियों की भाँति पदध्वनि करते हुए सुनाई पड़ते हैं और कभी बच्चों की भाँति अपनी ही स्वच्छन्दता में खिलते-कूदते पाये जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि शब्द-चयन पर उनका विशेषाधिकार है। उनकी रचना का प्रत्येक शब्द उनकी साधना का, उनके चिन्तन का परिणाम है। संस्कृत की कोमलकांत तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य होते हुए भी उन्होंने अपनी रचना के लिए, ब्रजभाषा, फारसी, उर्दू तथा अँगरेज़ी के शब्द-कोषों से भी सहायता ली है और उन्हें अपने काव्योचित साँचे में ढालकर कोमल, [illegible] और [illegible] बना लिया है। संस्कृत के शब्द-भण्डार से

उन्होंने रंगीन शब्दों का ही चयन किया है। व्रजभाषा के अजान, दई, ीठ, काजर, कारे, फारसी के नादान, चीज़ तथा अँगरेजी के रूम इत्यादि शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर उन्होंने अपनी सरसता और भाषा-कला-विद्वता का एक साथ परिचय दिया है। उन्होंने नये शब्द भी गढ़े हैं। स्वप्निल, प्रिय, सिगार, अनिर्वच आदि उनके अपने गढ़े हुए शब्द हैं। वह सा, सी, रे आदि का प्रयोग भी अत्यधिक करते देखे जाते हैं। संगीत का निर्वाह करने के लिए ही कदाचित् उन्होंने इनका स्वच्छन्दतापूवक प्रयोग किया है।

पन्त की भाषा में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'मनोज' शब्द लीजिए। यह शब्द रूढ़ है कामदेव के अर्थ में, पर पन्त ने व्युत्पत्ति-अर्थ में इसका प्रयोग करके बापू के लिए सार्थक कर दिया है। 'अछूत' भी एक ऐसा ही शब्द है। प्रचलित शब्द के अनुसार नये शब्द बनाने की कला में भी वह पारंगत हैं। उनके लिए एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्त रूप रखते हैं, इसलिए हम उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन आदि शब्दों की उपयुक्तता, भावों के लिए उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्ययता उनके भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं एक ही शब्द से उनकी कविता प्रणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक वाक्य में ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

पंत की भाषा में व्याकरण की कठोरता भी कोमल की गई है। व्याकरण के नियमों का कहीं-कहीं उल्लंघन करके उन्होंने अपनी भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। अपने इस प्रयास में उन्होंने कई शब्द पुल्लिंग से स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग से पुल्लिंग में प्रयोग किये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के सन्धि-नियमों में भी उन्होंने परिवर्तन किया है। 'मरुता-

काश' उनका एक ऐसा ही शब्द है। ऐसा उन्होंने केवल शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य स्थापित करने के विचार से ही किया है। मुहावरे तथा कहावतों के प्रयोग का उनकी भाषा में अभाव है और जहाँ है भी वहाँ उनके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया है।

पंत की पद-योजना अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत के कवियों की पद-योजना से प्रभावित है। संस्कृत की समस्त पदावली का प्रयोग उन्होंने उच्छ्वसित कल्पना और भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया है, पर जहाँ भावना की स्वतंत्र गति है वहाँ शब्द असमस्त हैं। अँगरेजी की लाक्षणिक पद-योजना की छाया तो कहीं भी मिल सकती है। पंत की भाषा में सांकेतिकता भी है। उन्होंने वाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर अपनी प्रतिभा के सहज संयोग से हिन्दी की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता को अत्यन्त समृद्ध और विकसित कर दिया है। सारांश यह कि उन्हें अपनी भाषा को काव्योचित बनाने के पहले हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल और सुन्दर बनाना पड़ा है। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में जीवन आ गया है। इससे उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो गई है। वस्तुतः उनकी भाषा में हिन्दी की समस्त शक्तियों का विकास हुआ है। वह भाषा के पंडित और उसके प्रथम सूत्रधार हैं।

यहाँ तक हमने पंत के काव्य के भाव एवं कला-पक्ष पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। अब हम पन्त और उनके सामयिक कवि प्रसाद की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से

अटल अनुराग है। इसलिए दोनों शृंगारी, रहस्यवादी और दार्शनिक कवि हैं। दोनों आस्तिक हैं। दोनों को मानव-जीवन और उसके उच्चादर्शों से प्रेम है। दोनों आशावादी हैं और विश्व-बन्धुत्व में विश्वास करते हैं। आधुनिक युग की सामाजिक एवं राजनीतिक चेतनाओं से दोनों भलीभाँति परिचित हैं और उनसे प्रभावित भी हैं। दोनों में समन्वय की भावना भी पाई जाती है। दोनों साहित्य-कला के अच्छे पारखी और अध्ययनशील हैं। वंग-साहित्य और संस्कृत-साहित्य से दोनों को प्रेम है। दोनों सहृदय और भावुक हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी दोनों की अन्तर्चेतना में, दोनों की अभिव्यक्ति में, दोनों की शैली में महान् अन्तर है। इस अन्तर के दो ही मुख्य कारण हैं—एक तो जीवन-परिस्थितियों की प्रतिकूलता और दूसरे अध्ययन की विविधता। पंत के जीवन में पलायन-प्रवृत्ति है। जीवन के संघर्षों से वह बचते रहे है। प्रकृति-सुन्दरी की सुषमाभरी गोद से नीचे उतरकर उन्होंने जीवन की कठोर भूमि पर पैर रखने का साहस नहीं किया है, इसलिए मानव-हृदय का वह अन्तर्द्वन्द्व उनकी रचनाओं में नहीं है जो प्रसाद की रचनाओं में पाया जाता है। प्रसाद का जीवन संघर्षमय है। उनकी कविता जीवन के संघर्ष में पनपी और पुष्पित हुई है। पन्त की कविता जीवन-प्रहर्ष में ग्राह्य हुई है। प्रसाद की रचनाओं में पाने-खोने का हर्ष-विषाद है, सांसारिक आवेग-प्रवेग है, इसलिए वह लौकिक जीवन के लिए विदग्धकर हो सके हैं। पन्त की रचनाएँ जीवन के उल्लास को लेकर ही चली हैं। वह इतने सुकुमार रहे हैं कि वह सुख-सुषमा को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण कर सके हैं। इसलिए वह उसका अतिक्रम कर उसकी चरम सीमा पर भी चले गये हैं, पर जितना ही वह आगे गये हैं उतना ही पीछे लौट भी पड़े हैं। जिस वास्तविकता से विरत होकर वह कभी कल्पनाशील हुए थे, लौटकर उसी वास्तविकता की कल्पनाहीन कुरूपता पर असन्तोषी भी हो गये हैं। प्रसाद आरम्भ से ही मानव-जीवन के विकास की ओर अग्रसर हैं।

अध्ययनशीलता की दृष्टि से प्रसाद का अध्ययन पन्त के अध्ययन की अपेक्षा अधिक गम्भीर और विस्तृत है। भारतीय साहित्य का जैसा गम्भीर अध्ययन प्रसाद ने किया है वैसा किसी आधुनिक कवि का नहीं दीख पड़ता। एक प्रकार से उनकी समस्त रचनाएँ भारतीय साहित्य से प्रभावित हैं। उनकी प्रतिभा भी पंत की प्रतिभा की अपेक्षा अधिक बहुमुखी है। कामायनी उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। इसके अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में हमें उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। पन्त की प्रतिभा सीमित है। वह कविता के सीमित क्षेत्र में ही विकसित हुई है। रहस्य-भावना की दृष्टि से पन्त की रहस्य-भावना स्वाभाविक है। प्रसाद अपनी रहस्य-भावना में साम्प्रदायिक हैं। पन्त की अपेक्षा उनमें दार्शनिकता भी अधिक है। प्रसाद भारतीय दर्शन के पंडित हैं। उन्होंने पुराण और वेदों का गंभीर अध्ययन किया है और उनसे अपनी रचनाओं के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्र की है। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के आधार पर नवीन संस्कृति का प्रासाद निर्माण किया है। वह अपनी रचनाओं में प्राचीन वैभव का ही संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। पंत की रचनाओं में इस प्रकार का प्रयास नहीं है। प्रसाद अपनी रचनाओं में प्राचीन और नवीन दोनों हैं, पंत केवल नवीन हैं। वह भावी के कवि हैं। प्रसाद ने तीनों कालों का अपनी रचनाओं में समन्वय किया है। प्रसाद पौराणिक संस्कृति से नैतिक हैं, पन्त समाजवादी अधिक हैं।

शैली की दृष्टि से प्रसाद प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं, पंत मुक्तक। प्रसाद की भाषा में ओज और पौरुष है, पंत की भाषा में सहज कोमलता और माधुर्य। पन्त की भाषा प्रसाद की भाषा की अपेक्षा अधिक अलंकृत और संगीतमय है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की त्रिवेणी में पंत की भाषा [illegible] पूत हो गई है। पन्त प्रसाद की अपेक्षा अधिक [illegible] हैं, इसका प्रमाण है कि कहीं कहीं उनकी

कल्पना उन्हें अपने साथ वहा भी ले गई है। कल्पना द्वारा भावों का मूर्त चित्र अंकित करने में वह प्रसाद की अपेक्षा अधिक सफल हैं। वह भाव और भाषा दोनों के कवि हैं; प्रसाद भावना के कवि हैं। पंत अपने मुक्तकों में सफल कवि हैं और प्रसाद अपने इतिवृत्तात्मक रचनाओं में। पन्त के काव्य में कला का सौंदर्य है, प्रसाद के काव्य में कला का ओज और पौरुष। पन्त प्रकृति के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आये है, इसलिए उन्हे प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का बहुत ही सुन्दर ज्ञान है। प्रसाद जीवन के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आये हैं, इसलिए जीवन के अन्तर्द्वन्द्व का उन्होंने अत्यन्त सफल चित्रण किया है। पन्त और प्रसाद के दृष्टिकोणों में हमें जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण वस्तुतः उनके माध्यम की विभिन्नता है। माध्यम की विभिन्नता के कारण ही एक युग के दोनों कलाकर दो रूपों में हमारे सामने आये हैं। पन्त देश-काल के बन्धनों से परे हो गये हैं और प्रसाद देश-काल की चेतनाओं तथा अन्तर्चेतनाओं को समेटकर आगे बढ़े है। संक्षेप में दोनों कवियों की रचनाओं में यही महान् अन्तर है।

अब तक हमने पंत की काव्य-साधना पर कई दृष्टियों से विचार किया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह हिन्दी की नई धारा के जागरूक कवि और कलाकार है। यों तो वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं, पर यथार्थ रूप से हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश सन् १९१७-१८ से होता है। उस समय की उनकी रचनाएँ 'वीणा' में संग्रहीत हैं। इन कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरंभ ही से उनका झुकाव हिन्दी की काव्य परम्परा के विपरीत एक नवीन दिशा की ओर था। प्रकृति-सुन्दरी की गोद में जन्म लेने तथा अपने विद्यार्थी-जीवन में शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उन्हें अपनी नवीन दिशा की ओर

पंत का हिन्दी-साहित्य में स्थान

अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अँगरेजी तथा बँगला-साहित्य से बहुत कुछ लेकर उसे अपने काव्य का पाथेय बनाया, अपनी उर्वर कल्पना के साहचर्य एवं सहयोग से अँगरेजी-शैली के अनुकरण पर अमूर्त भावनाओं का मानवीकरण किया और नवीन उपमानों की योजना से अपनी कविता को अलंकृत किया। अपने भावों के अनुरूप ही उन्होंने अपनी भाषा का भी संस्कार किया। इसलिए अँगरेजी-साहित्य जाननेवाले नवयुवकों में उनकी रचनाएँ लोक-प्रिय होने लगीं और आज हम उन्हें हिन्दी की एक नवीन धारा का नेतृत्त्व करते हुए पाते हैं।

पन्त प्रकृति और जीवन की कोमलतम विविध भावनाओं के कवि हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति और पुरुष ने स्पष्ट होकर लास्य किया है। शब्दों के साथ उनके भाव लहराते चलते हैं। उनकी प्रत्येक कविता-पंक्ति पाठक को तन्मयता के रस से नहलाती चलती है। वह जो कुछ कहते हैं, उसमें स्वाभाविकता होती है और उनके शब्द-चित्र भाव-चित्रों का निर्माण करते चलते हैं। बादल, बिजली, तारे, चन्द्रमा, प्रातः, सन्ध्या, नदी, झरना, भ्रमर, पुष्प आदि के मनोरम एवं गंभीरतम चित्रण के साथ जीवन के विभिन्न अंगों पर विशद वर्णन और रूप-निर्माण में वह अप्रतिम हैं। उनका कवि प्रधान रूप से कलाकार है। उनके काव्य में कला, विचार तथा भावों का सम्मिश्रण इतनी सुन्दरता से होता है कि एक को दूसरे से पृथक् करना असंभव हो जाता है। शब्द, चित्र और

इस पहलू के वह कवि नहीं हैं। उनका यह स्वभाव है जो उन्हें इन गुणों की ओर आकर्षित नहीं करता। वह अखिल जग-जीवन के हास-विलास के कवि हैं।

पन्त मननशील कवि हैं। जीवन के प्रत्येक रूप को, प्रकृति की प्रत्येक छवि को उन्होंने आत्मविभोर एवं तन्मय होकर देखा है। इसलिए जिस दिशा में, जिधर उनकी लेखनी चली है, उधर ही वह अपने में पूर्ण हो उठी है। उनकी रचनाओं में जीवन की उत्तम अनुभूति पद-पद पर लक्षित होती है। जगत् के भावात्मक और बौद्धिक चित्रों में वह सर्वप्रथम मानवतावादी कवि हैं। इस प्रकार उनके काव्यजगत् में दो धाराओं का सन्निवेश हो गया है—एक में उनके कवि हृदय का स्पन्दन है, दूसरी में विश्व-जीवन की धड़कन। सन् १६१८ से १६३२ तक की उनकी रचनाएँ पहली धारा के अन्तर्गत आती हैं और इसके बाद की रचनाएँ दूसरी धारा में। हाल की कविताओं में विश्व-जीवन ने उनके कवि-हृदय पर प्रधानता प्राप्त कर ली है। उनमें शब्द कवि के हैं, विचार-तत्त्व चिन्तक के। जीवन के प्रारम्भिक चरणों में मानव-हृदय स्वभावतः सौंदर्य और प्रेम की कल्पना-प्रधान अभिव्यक्ति के लिए ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत ही रहती है। इसके बाद ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है त्यों-त्यों वह आत्मरूप के चिन्तन में निमग्न होने लगता है। पन्त के विकास का भी यही स्वाभाविक क्रम रहा है। विश्व-सौंदर्य ने उन्हें पहले भावुक बना दिया था, पर अब विश्व-जीवन ने उन्हें जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है।

पन्त मुख्यतः दृश्य-जगत् के कवि हैं। पहले वह प्राकृतिक सौंदर्य के कवि थे और अब वह जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। इसलिए अदृश्य अध्यात्म के प्रति उनमें विशेष उत्कण्ठा नहीं है। यही कारण है कि उनकी रहस्यभावना स्वाभाविक एवं सरल है। उसमें कबीर अथवा जायसी की-सी साम्प्रदायिकता नहीं है। आस्तिकवादी होने के कारण

वह उस विराट् सत्ता के प्रति आश्चर्य प्रकट करके ही रह जाते हैं। इससे आगे वह नहीं बढ़ते। वह वस्तुतः मानव-जीवन के ही कवि हैं। वह जीवन को सुख-दुख के बन्धनों से मुक्त करके सार रूप में अपनाने के पक्षपाती हैं। वैराग्य में उनका विश्वास नहीं है। वह कर्म में विश्वास करते हैं। इस ज्ञान-विज्ञान के युग में वह मानव की आर्थिक और बौद्धिक अविवृद्धि ही नहीं चाहते, वह चाहते हैं मानव का विकास। उनका विश्वास है कि सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपभोग कर सकती है और पशु से देवता बन सकती है।

भाषा की दृष्टि से पन्त ने अपने समय की खड़ीबोली को संस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ़ किया है और हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोगों का आविष्कार करके भाषा में एक नई जान डाल दी है। उन्होंने खड़ीबोली को भाषाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। इससे उनकी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय मिलता है। अलंकार की दृष्टि से उनकी रचना में उपमा और रूपक का अच्छा समावेश हुआ है। उनकी उपमाएँ सर्वथा नवीन और सब प्रकृति से ली हुई हैं। शृङ्गार और करुण रसों के वह सृष्टा हैं। इन रसों के विकास में उनकी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। वह वियोग-वर्णन में कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते हैं, पर संयोग-वर्णन में वह प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। उनका संयोग पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक संयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। उनकी ऐसी रचनाओं में काव्य-मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत् तक पहुँच गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त हिन्दी के एक उच्चकोटि के कवि हैं। उनकी काव्य-साधना बराबर विकासमूलक रही है। वह अपने बाह्य और अन्तर दोनों के निर्माण में सदैव सचेष्ट रहे हैं। वह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मर्मज्ञ हैं। दर्शन तथा अन्य ललित

कलाओं में उनकी अच्छी गति है। कवि मर्यादा और कलात्मक संयम इन दोनों का अपूर्व समन्वय उनकी रचनाओं में हुआ है। आज वह गांधीवाद और समाजवाद का सुन्दर समन्वय अपनी रचनाओं में कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी निरन्तर प्रगतिशील प्रतिभा अभी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकी है। उनके व्यक्तित्व का पहला अंग जितना बलवान् है, दूसरा उतना ही दुर्बल। अतएव प्राप्ति उनसे अभी दूर ही है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान भी अनिश्चित सा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद, निराला और महादेवी के पश्चात् हिन्दी की नवीन धारा के अन्य कवियों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है।

—८—

महादेवी वर्मा

जन्म सं० १९६४ जीवित

जीवन-परिचय

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ वि० में फरुखाबाद में हुआ था। उनके पिता श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा एम० ए०, एल्-एल० बी० भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर थे। उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी भी हिन्दी की विदुषी और भक्त थीं। कभी-कभी वह कविता भी किया करती थीं। महादेवी के नाना भी व्रजभाषा के कवि थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनका जन्म एक विद्वान् और भक्त-परिवार में हुआ था। उनके एक भाई श्री जगमोहन वर्मा एम० ए०, एल्-एल० बी० तथा दूसरे श्री मनमोहन वर्मा एम० ए० हैं। उनके एक बहन भी है। वह भी शिक्षित और विदुषी हैं।

महादेवी की प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्होंने छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर चित्रण और संगीत की शिक्षा भी उन्हे दी गई। तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य उन्होंने अपनी माता से ही पढ़ा। वह बचपन से ही साहित्य-प्रिय और भावुक थीं। सं० १९७३ में उनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ। इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वशुर लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। अब तक उनकी शिक्षा पिता और माता के आग्रह के कारण ही हुई थी। इसलिए श्वशुर के देहान्त के पश्चात् वह पुनः शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुईं। सं० १९७७ में उन्होंने प्रयाग से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा पास की। युक्तप्रान्त के विद्यार्थियों में उनका स्थान भी सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हे छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८१ में उन्होंने एंट्रेंस की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास की और पुनः संयुक्तप्रान्त में उन्हे सर्वप्रथम स्थान मिला। इस बार भी उन्हे छात्रवृत्ति मिली। सं० १९८३ में उन्होंने इंटरमीडिएट और सं० १९८५ में बी० ए० की परीक्षा क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज से पास की। अन्त में उन्होंने संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा पास की। इस प्रकार उनका विद्यार्थी-जीवन आदि से अन्त तक बहुत सफल रहा। बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलिए उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययन की छाप उन पर अब तक बनी हुई है।

विद्यार्थी-जीवन की भाँति महादेवी की साहित्य-साधना भी अत्यन्त सफल रही। बाल्यकाल से ही कविता करने की ओर उनका आकर्षण रहा है। बड़ी होने पर वह अपनी माता के पदों में अपनी ओर सेकुछ कड़ियाँ जोड़ दिया करती थीं। स्वतंत्र रूप से भी वह तुकबंदियाँ करती थीं, पर उन्हें पढ़कर वह प्रायः फेंक दिया करती थीं। वह अपनी तुकबंदियाँ किसी को दिखाना पसन्द नहीं करती थीं। कविता लिखकर उसे नष्ट कर देने में ही उन्हे सन्तोष मिलता था। पर ज्यों-ज्यों उनकी

शिक्षा उन्नत होती गई, त्यों-त्यों उनकी कविता में भी प्रौढ़ता आती गई। यह देखकर उन्होंने अपनी रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होने के लिए भेजीं। हिन्दी-संसार में उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। इससे महादेवी को अधिक प्रोत्साहन मिला और वह काव्य-साधना की ओर अग्रसर हो गईं। आज वह हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री समझी जाती हैं।

महादेवी का अब तक का जीवन शिक्षा-विभाग में ही व्यतीत हुआ है। एम० ए० पास करने के पश्चात् वह प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुईं और अब भी वह उसी पद की शोभा बढ़ा रही है। उनके सतत् उद्योग से उक्त विद्यापीठ ने उत्तरोत्तर उन्नति की है। वह 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी हैं। इधर कुछ दिन हुए उन्होंने 'साहित्य संसद' नाम की एक संस्था स्थापित की है। इस संस्था द्वारा वह हिन्दी-लेखकों की सहायता करना चाहती हैं। 'नीरजा' पर उन्हें ५००) का सेकसरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषक भी उन्हें मिल चुका है। ५००) का सेकसरिया पुरस्कार उन्होंने महिला-विद्यापीठ को दान कर दिया, इससे उनकी उदारता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी की रचनाएँ—महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बड़ा सम्मान है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. गद्य और २. पद्य। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का वर्तमान हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। यामा में नीहार, रश्मि और नीरजा की कविताओं का संग्रह है।

२. निबन्ध—अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ।

३. आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य।

महादेवी का व्यक्तित्व

महादेवी का व्यक्तित्व हिन्दी के कवियों तथा कवयित्रियों के बीच अपनी विशेषताओं के कारण किसी से मेल नहीं खाता। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण किया है। शरीर से दुबली-पतली होने पर भी उनमें स्फूर्ति है। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा वह मानसिक सौंदर्य को बहुत अच्छा समझती हैं। उनके जीवन में सादगी है, पर विचारों में उच्चता है। उनका भोजन सादा और रहन-सहन साधारण है। अपने शरीर का शृंगार वह सादे वस्त्रों से ही करती हैं। उनके वस्त्रों से, उनकी रहन सहन से उनकी सुरुचि का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

दुर्बल शरीर में सबल प्राण महादेवी को ही मिला है। उनकी आत्मा उनके शरीर से अधिक बली है। प्रायः रुग्ण रहने पर भी वह अपनी आत्मा में किसी प्रकार की दुर्बलता को स्थान नहीं देतीं। इसीलिए वह मानव जीवन की विविध कठिनाइयों को झेलने में समर्थ हुई हैं। उनके जीवन में वेदना भी है, पुलक भी है, हास्य भी है, रुदन भी है। इन दोनों के समन्वय में ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उनकी नारी-सुलभ कोमल भावनाओं में चंचलता नहीं, सौम्यता और गम्भीरता है। वह बहुत कम बोलती हैं, उतना ही बोलती है जितने से उनका काम चल जाता है। पर जब बोलने लग जाती है तब जो खोलकर बातें करती हैं। उस समय उनकी आत्मीयता दर्शनीय होती है। उनमें अभिमान नहीं है, न अपने पद का न अपने कवित्व का। अपने दैनिक व्यवहारों में भी वह सम और सरल है। उनका मस्तिष्क ज्ञानी का सा है, पर उनका हृदय बालकों-का सा अबोध है। उनके कमरों में बच्चों के दर्जनों खिलौने आसानी से देखे जा सकते है।

महादेवी स्पष्ट वक्ता हैं। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसे थोड़े में वह कह देती है। उनकी स्पष्टवादिता के लिए कोई उन्हें क्या

कहेगा—इसकी वह चिन्ता नहीं करतीं। पर अपनी बातों से वह किसी का हृदय दुखाना पसन्द नहीं करतीं। उनके हृदय में सहृदयता, सहानुभूति और करुणा का स्रोत बराबर बहता रहता है। वह अपने घर से बाहर बहुत कम निकलती हैं। नाम कमाने की अथवा जनता में लोक-प्रिय बनने की लालसा उनमें नहीं है। इसलिए सम्मेलन आदि में भी वह कम सम्मिलित होती हैं। अपने काम से ही वह बाहर आती हैं।

महादेवी अध्ययनशील कवयित्री हैं। उन्होंने अपने अध्ययन से अपने व्यक्तित्त्व का निर्माण किया है। भारतीय दर्शन के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग है। इस अनुराग ने उनके व्यक्तित्त्व को विशेषता दी है। उनमें जितनी सौम्यता, जितनी दार्शनिकता, जितनी चिन्तन-शीलता है वह है केवल इसी अनुराग के कारण। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय महिला हैं। चित्रकला से उन्हें विशेष प्रेम है, प्रेम ही नहीं वह स्वयं भी चित्रकार हैं। वस्तुतः वह चित्रों के बीच में ही रहती हैं। संगीत-कला से भी वह भलीभाँति परिचित हैं।

महादेवी का जीवन साधना का जीवन है। उन्होंने अपने आत्मिक आदर्शों के अनुकूल ही अपना जीवन बना लिया है। सामाजिक रूप से अध्यापन का अनवरत परिश्रम तथा आत्मिक रूप से साधना का पथ—अनुसरण करना ही उनके जीवन का ध्येय है। उनकी एक अपनी विचारधारा है जो उनके जीवन पर भी शासन करती है और उनके काव्य पर भी। इसलिए वह अपने जीवन में, अपने साहित्य में पर्वत की भाँति अचल हैं। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शान्त हैं। उनकी दार्शनिक विचार-धारा उनके चिन्तन का परिणाम है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ सोचती ही रहती हैं। इसीलिए वह गम्भीर हैं। उनके चिन्तन की स्पष्ट छाप उनके काव्य पर देखी जा सकती है। हिन्दी के कवियों में उनका व्यक्तित्त्व अपना एक पृथक् महत्त्व रखता है।

महादेवी हिन्दी की अत्यन्त लोकप्रिय कवयित्री हैं। उनकी वेदना-प्रसूत रचनाएँ हिन्दी के अमरगान हैं। इन अमरगानों की रचना की ओर वह आरम्भ में किस प्रकार आकर्षित हुईं, इस सम्बन्ध में आधुनिक कवि भाग १ की भूमिका में वह कहती हैं—'परन्तु एक ओर साधन'पूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थिति हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीराँ, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने व्रजभाषा में पद रचना आरंभ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी व्रज-भाषा के ही समर्थक निकले, अतः उलटी सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्यापूर्ति में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ीबोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं-द्वारा हुआ तब उसमें बोलने की भाषा में ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे, अतः छिपा-छिपाकर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरंभ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली।

महादेवी पर प्रभाव

इस उद्धरण से महादेवी की काव्य-साधना के सम्बन्ध में कतिपय प्रभावों का ज्ञान हो जाता है, पर एक बात का पता नहीं चलता। महा-देवी मुख्यतः वेदना की गायिका हैं। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि उनके काव्य में वेदना की अभिव्यक्ति क्यों और कैसे आई? इस प्रश्न

के लिए हमें उनके जीवन के दो स्थलों को टटोलना पड़ेगा। इन दो स्थलों में से एक का सम्बन्ध उनके दाम्पत्य जीवन से है और दूसरे का उनके अध्ययन और समय की प्रगति से।

महादेवी के दाम्पत्य जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में अधिकार-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, पर उनकी कविताओं की प्रतिध्वनि इस बात की ओर अवश्य संकेत करती है कि उन्हें सांसारिक कटु अनुभव हुए हैं, तभी तो एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'समता के धरातल पर सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाये तो मेरे पास मित्र का अभाव है।' वस्तुतः उनके एक इसी वाक्य में उनके हृदय की समस्त वेदना छिपी हुई है। वेदना के प्रति उनके स्नेह को इसी अभाव ने विकसित और प्रसारित किया है। उनकी यही लौकिक वेदना उनकी रचनाओं में अलौकिक वेदना बन गई है। इस वेदना को विकास की प्रेरणा मिली है उनके अध्ययन, उनके चिन्तन तथा उनके व्यक्तिगत एवं साहित्यिक वातावरण से। विस्मय की भावना तो उनमें बचपन से ही बद्धमूल थी। अपनी माँ से, अपने वातावरण से और स्वयं अपने से कुतूहलपूर्ण प्रश्न करती हुई वह रहस्यमयी बनी हैं। साथ ही उन्होंने मीराँ की करुण रचनाओं, भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों, स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के वैदान्तिक व्याख्यानों, वैदिक तथा आर्य-समाजी सिद्धान्तों और भारतीय दर्शनों के अध्ययन से बहुत कुछ लेकर अपनी रहस्यमयी साधना का पाथेय बनाया है। दुःख से उन्हें स्वभावतः मोह है। वही उनके रहस्यमय जीवन का शृंगार है।

महादेवी की रचनाओं पर भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति का प्रभाव नहीं है। अपने जीवन की तरुणाई में वह इस ओर किंचित् आकर्षित हुई भी थीं, पर अब तो वह उसकी ओर से उदासीन ही हैं। इस सम्बन्ध में वह लिखती हैं—'पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः

उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारतमाता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विश्व लय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया।'

सारांश यह कि महादेवी वेदना और केवल वेदना की कवयित्री है। इस क्षेत्र से उन्हें इतना मोह है, इतना लगाव है कि वह किसी अन्य प्रभाव को स्वीकार ही नहीं कर सकतीं।

महादेवी की रचनाओं का आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में वही महत्त्व है जो मीराँ की रचनाओं का वैष्णव साहित्य में है। इसीलिए आज के आलोचक महादेवी को आधुनिक युग की मीराँ कहते है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों की प्रेम-साधना में अन्तर है, पर एक बात में दोनों समान हैं। मीराँ में अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के लिए जितनी व्याकुलता, जितनी छटपटाहट, जितनी वेदना है उतनी ही व्याकुलता, उतनी ही छटपटाहट, उतनी ही वेदना महादेवी में अपने निराकार प्रियतम के प्रति है। मीराँ सोलह आने प्रेममार्गी है, महादेवी सोलह आने प्रेमाश्रित ज्ञानमार्गी। उपासना के क्षेत्र में प्रेम और ज्ञान के सामञ्जस्य से महादेवी की रहस्यभावना हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गई है। कबीर, जायसी, निराला, प्रसाद और पंत कोई भी इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता। कबीर ने अपने परमात्मा को कभी माँ के रूप में, कभी पिता के रूप में और अधिकांश पति के रूप में देखा है, जायसी, प्रसाद और पंत भी इसी प्रकार बदले है, पर महादेवी की भावना निर्दिष्ट है। उन्होंने सर्वत्र ब्रह्म को प्रियतम के रूप में ही देखा है। इसलिए महादेवी की रहस्य-भावना ही हिन्दी में शुद्ध रहस्य-भावना हो सकी है।

महादेवी का महत्त्व

महादेवी की दूसरी महत्ता है वेदना का चित्रण। जायसी और मीराँ

आदि ने भी वेदना का चित्रण किया है, पर भौतिक आधार पर वेदना का चित्रण करने के कारण उनमे वेदना का गौरव नहीं है। जायसी और मीरां ने हमें वेदना की कोई फिलासिफी नहीं दी है। महादेवी में वेदना की एक फिलासिफी है जो अपने में पूर्ण है। महादेवी की वेदना अलौकिक वेदना है। इस वेदना से उनका आत्मिक विकास हुआ है। यह उनके प्रियतम की दी हुई वेदना है। इसलिए उसके प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग है और वह उनके जीवन का एक अंग बन गई है। इस वेदना के अंकन में महादेवी अप्रतिम हैं।

महादेवी के महत्त्व का कारण उनका गीति काव्य भी है। सूर और मीरां को छोड़कर आधुनिक खड़ीबोली में उनके गीत ही वस्तुतः विशुद्ध गीत हैं। उनके गीतों में भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी बहती हुई दिखाई देती है। प्रसाद, पंत, निराला आदि ने भी गीत लिखे हैं, पर उनके कुछ ही गीत कला की दृष्टि से विशुद्ध गीत समझे जाते हैं। महादेवी के गीतों में गीति-कला का अच्छा विकास हुआ है। भावों की दृष्टि से महादेवी के गीतों में जो तरलता है उसने हिन्दी में उर्दू भावुकता की लोकप्रियता घटा दी है। उनके गीतों में उनकी आत्मा छिपी हुई मिलती है। सम्प्रति इस क्षेत्र में भी वह अनन्य हैं।

भाषा की दृष्टि से भी महादेवी का हिन्दी-साहित्य में महत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि पंत में खड़ीबोली को भावों के खराद पर चढ़ाकर इतना सुन्दर और मधुर बना दिया है कि उसमें ब्रजभाषा के सभी गुण आ गये हैं, पर उसमें जान डालना, उसमें वेदना का स्वर फूंकना, उसमें संगीत के स्वर और ताल का सन्तुलन करना महादेवी का ही काम है। महादेवी की भाषा स्वयं बोलती है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी उसमें सादगी का सौंदर्य है। आज वह अपनी ऐसी भाषा से हिन्दी के दो क्षेत्रों में नेतृत्व कर रही हैं—एक रहस्य-भावना के क्षेत्र में और दूसरे भाषा के क्षेत्र में। इन दोनों क्षेत्रों पर उनका पूरा अधिकार है।

अब हमें महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि पर विचार करना है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी विचारधारा पर कई दर्शनों का प्रभाव है, पर मुख्यतः वह अद्वैतवादी ही हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में अद्वैतवाद को ही विशेष रूप से अपनाया है। अतः हम यहाँ उनके अद्वैतवाद-सम्बन्धी विचारों की छान-बीन करेंगे। अद्वैतवाद के अनुसार यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। आत्मा और प्रकृति उसी का प्रकाश है। अज्ञानता के कारण हम तीनों में भेद समझते हैं। वस्तुतः तीनों एक ही हैं, तीनों ब्रह्ममय हैं। वैदान्तिक प्रक्रिया को समझाने के लिए अद्वैतवादी ब्रह्म के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—१. निर्गुण निराकार, २. सगुण निराकार और ३. सगुण साकार। निर्गुण निराकार शुद्ध चेतन है, निर्विकार है, एकदम निष्क्रिय है। सगुण निराकार का दूसरा नाम ईश्वर है, यही ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। सगुण साकार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अवतार आते हैं। ये भेद केवल समझाने के लिए हैं; वास्तविक नहीं, मिथ्या हैं। ज्ञानी परम सत्य को समझाने के लिए पहले अज्ञान की, मिथ्या की, चर्चा करते हैं। वह पहले सृष्टि का वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् सगुण साकार की उपाधियों को दूर करते हुए सगुण निराकार की माया को भ्रममात्र सिद्ध करते हैं। इस प्रकार उन्हें ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। रहस्यवादी भी इसी पद्धति का सहारा लेता है। वह पहले मायापति ब्रह्म—सगुण निराकार का वर्णन करता है इससे उसकी भावना को भूमि मिल जाती है। महादेवी ने इसी सगुण निराकार ब्रह्म को पति रूप में स्वीकार किया है। यह ब्रह्म सृष्टि का कर्ता है। अद्वैतवादियों की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जगत् मिथ्या है। ब्रह्म से भिन्न उसकी सत्ता नहीं है। सब ब्रह्ममय है। विभिन्न वस्तुओं में जो भेद हमें दिखाई देता है, वह वाह्य और नाम-रूप का है। इसे हटाकर यदि देखा जाय

महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि

तो भेद-बुद्धि दूर हो जाय। इससे यह स्पष्ट है कि अद्वैतवादी निमित्तकारण और उपादानकारण में, ब्रह्म और इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्तर से जाला निकालकर फिर उसे अपने अंतर में लीन कर लेती है इसी प्रकार ब्रह्म इस विश्व की रचना करता है और अन्ततः उसे अपने में लीन कर लेता है। महादेवी इसी विचार को लेकर कहती हैं :—

> स्वर्णलता-सी वह सुकुमार हुई उसमें इच्छा साकार,
> उगल जिसने तिनरंगे तार, बुन लिया अपना ही संसार।

इस प्रकार महादेवी यह मानती हैं कि ब्रह्म निर्विकार होते हुए भी समस्त विकारों की क्रीड़ा-भूमि है। वह यह भी मानती हैं कि वह 'काल-सीमा-हीन' है और सूनेपन के भान से उसने विश्व-प्रतिमा का निर्माण किया है। उनकी रचनाओं में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, संयमन और प्रवेश— ईश्वर के सभी कार्यों के उदाहरण मिलते हैं।

मायापति ब्रह्म की प्रेम-सृष्टि में हम तीन बातों की प्रधानता पाते हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। परमात्मा हुआ पुरुष के रूप में प्रेमी और आत्मा तथा प्रकृति हुई नारी के रूप में प्रेमिकाएँ। महादेवी ने प्रकृति और आत्मा का ऐसा मिला-जुला वर्णन किया है कि दो का भान ही नहीं होता। वह आत्मा और प्रकृति दोनों में उसी ब्रह्म के रूप की छाया देखती हैं। उनके साध्य की एक विशेषता यह भी है कि वह प्रेम-पात्र ही नहीं प्रेममय भी है; प्रेमलीला का साक्षी ही नहीं, स्वयं अभिनेता भी है। वह आकर्षित करना ही नहीं जानता, स्वयं भी आकर्षित होना जानता है। जिस प्रकार ससीम असीम के प्रेम में विकल है उसी प्रकार असीम ससीम के प्रेम में आकुल है। इस प्रकार महादेवी मानती हैं कि आत्मा परमात्मा का अंश है, वह परमात्मा से पृथक् होकर पृथ्वी पर आती है, वह पृथ्वी के सुखों का उपभोग करती और

सुख-सौंदर्य की सृष्टि करती है, वह परमात्मा के वियोग में विकल रहती है, परमात्मा भी उसके प्रति आकर्षित होता है और अन्ततः परमात्मा का संकेत पाने पर वह उसमें लीन हो जाती है।

अब रहा प्रश्न यह कि परमात्मा और आत्मा में भेद पड़ जाने का क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर मे दो कारण दिये जा सकते हैं—पहला कारण तो यह है कि आत्मा परमात्मा से पृथक् होकर शरीरस्थ हो जाती है और दूसरा यह कि वह आवागमन के चक्कर में पड़ जाती है। महादेवी इन दोनों कारणों को स्वीकार करती हैं, पर एक विशेषता के साथ। वह एक ओर ब्रह्म की महत्ता स्वीकार करती है तो दूसरी ओर आत्मा की महत्ता की घोषणा भी करती हैं। वे जानती हैं कि शरीरस्थ होने से चेतन अपने महान् रूप में सामने नहीं आता, पर इससे उसकी महत्ता में बट्टा नहीं लग सकता। इसके लिए उनके पास दो कारण हैं—पहला कारण तो यह कि असीम ससीम का ही व्यापक रूप है और दूसरा यह कि असीम की महत्ता ससीम द्वारा ही प्रकाश में आती है। यदि आत्मा न हो तो परमात्मा की महत्ता ही निराधार हो जाती है। इसीलिए वह कहती हैं :—

> क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
> क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?

जीवात्मा की महत्ता की भाँति ही वह प्रकृति की महत्ता भी स्वीकार करती है और उसकी ओर अनन्त सहानुभूति की दृष्टि से देखती है। वह प्यारी इसलिए है कि उसी के माध्यम से उन्होंने अपने प्रियतम की झलक पाई है और अभिन्न इसलिए कि प्रेम के भावोद्दीपन में वह उनकी सहायता करती है। इस प्रकार प्रकृति महादेवी की रचनाओं में :—

१. आत्मा को अपने सम्पूर्ण सौंदर्य से आकर्षित करती है।

२. आत्मा को अपने माध्यम से परमात्मा की झलक दिखाती है।

३. आत्मा के समान ही परमात्मा की प्रेमिका प्रतीत होती है।

संक्षेप में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में महादेवी की यही विचारधारा है। इसी विचारधारा के आलोक में हम उनकी काव्य-साधना पर विचार करेंगे।

महादेवी की काव्य-साधना

महादेवी की काव्य-साधना एक साधिका की अपने साध्य के प्रति आत्मसमर्पण का परिणाम है। उनकी रहस्यानुभूति का आरंभ जिस माध्यम से होता है उसी माध्यम में उस रहस्यानुभूति का अवसान भी होता है। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उनका एक निश्चित लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक निश्चित पथ है जिसका अनुसरण वह बिना दायें-बायें देखे एकाग्रचित्त से काव्य-साधना द्वारा करती जा रही हैं। वह अपने पथ में एकाकिनी नहीं हैं। उसके सूनेपन को दूर करने के लिए उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सहचरी बना लिया है। इस प्रकार उनकी काव्य-साधना में तीन तत्त्वों की—परम तत्त्व, आत्म-तत्त्व और प्रकृति तत्त्व की—प्रधानता हो गई है। इन्हीं तत्त्वों का निरूपण और चित्रण उन्होंने अपनी काव्य-साधना में वेदना के माध्यम से किया है।

महादेवी की पाँच कविता-पुस्तकें हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। इन पाँचों कविता-पुस्तकों के अध्ययन से महादेवी की काव्य साधना का विकास-सूत्र ग्रहण किया जा सकता है, इनमें क्रमशः तीनों तत्त्वों का विकास बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। सामान्य दृष्टि से इस त्रिगुणात्मक जगत् में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति में भेद दिखाई पड़ता है, अज्ञानता के कारण तीनों की सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है। महादेवी ने भी नीहार में इन तीनों तत्त्वों को पृथक्-

पृथक् रूप में देखा है। इसमें रूप-दर्शन की स्मृति बार बार उनके हृदय में खटकती है। इसके फलस्वरूप प्रिय-प्रियतम सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके बाद हम उनके हृदय को वैराग्य की ओर झुकते हुए पाते हैं। 'सखे! यह है माया का देश' कहकर वह संसार की अस्थिरता, क्षण-भंगुरता, निष्ठुरता, निर्ममता और उसके स्वार्थ तथा विश्वासघात का प्रतिपादन करती है। प्रकृति में उन्हें ब्रह्म के लिए व्याकुलता भी दिखाई देती है। यह सब देखकर वह सोचने लगती हैं :—

यह कैसा छलना निर्मम, कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?

यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। रश्मि में वह इसी आधार पर अपनी काव्य-साधना को अग्रसर करती हैं। इसकी आधी से अधिक रचनाएँ भावमयी भाषा में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप निरूपण करती हैं। इनमें सृष्टि, प्रलय और परिवर्तन की चर्चा भी पाई जाती है। अद्वैतवादियों के अनुसार यह सृष्टि 'शून्यता में निद्रा की बन उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन' है। एकाकीपन के भार से आकुल होकर ही उस अद्वितीय ब्रह्म ने इस जगत् की रचना की है। सृष्टि होने के पूर्व सृष्टि का अस्तित्व नहीं था तथा यह सृष्टि उस अनन्त निर्विकार में हुई—इन दोनों बातों को भी वह स्वीकार करती हैं। 'तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश' कहकर वह एक ओर सृष्टि और परमात्मा की अभिन्नता स्वीकार करती हैं तो दूसरी ओर 'मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मिप्रकाश' तथा 'भूल अभूल खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान' कहकर वह आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करती हैं। आगे चलकर वह यह भी मानती हैं कि जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों से आत्मा में कोई विकार नहीं होता। इस प्रकार नीहार में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का पृथक्-पृथक् चित्रण हुआ है वहाँ रश्मि में एक ओर आत्मा और परमात्मा तथा दूसरी ओर प्रकृति और परमात्मा के द्वैत का निराकरण

हुआ है। **रश्मि** एक प्रकार से महादेवी के दार्शनिक विचारों की मंजूषा है।

नीरजा महादेवी की अनुभूति-प्रधान रचना है। **नीहार** में उनकी जो जिज्ञासा थी वह **रश्मि** में ज्ञान का पाथेय पाकर परिपुष्ट हुई और **नीरजा** में फिर अनुभूति के पथ पर लौट आई। इसमें महादेवी की विचार धारा प्रेम और ज्ञान, जगत् और ब्रह्म तथा सूक्ष्म और स्थूल के कूलों को छूती हुई प्रवाहित हुई है। यह प्रवाह ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। इससे उनकी रचनाओं में प्रिया और प्रियतम का भाव घनीभूत हो गया है। प्रकृति के प्रति भी उनकी पूरी सहानुभूति बनी हुई है। अद्वैतवादियों के अनुसार द्वैत दो प्रकार का होता है—एक ईश्वरकृत और दूसरा जीवकृत। जगत् ईश्वरकृत द्वैत है और इस जगत् को लेकर मन की विविध वासनाएँ जीवकृत द्वैत हैं। यही द्वैत बन्धन का कारण है। ईश्वरकृत द्वैत ज्ञान का कारण है। इसलिए महादेवी जगत् के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करती हैं। प्राणी जड़ चेतन का संयोग है, इसलिए वह उसकी भी महत्ता स्वीकार करती हैं।

सान्ध्य-गीत महादेवी की काव्य साधना का चतुर्थ चरण है। साधना के स्वरों और भावना के पदों से इसकी रचना हुई है। इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि उनकी वेदना-प्रधान भावना को, उनके करुण दुःखवाद को उनकी साधना के सरस सुखद गीतों ने सुखमय बना दिया है। इस रचना में कवयित्री ने वैयक्तिक सुख दुख की सीमा को पार कर लिया है। उन्होंने स्वयं लिखा है—'नीरजा और सान्ध्य-गीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा। पहले बार खिलनेवाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे ही हृदय में खिला हो परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख-दुख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में मेरे

मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामंजस्य-सा ढूँढ़ लिया है जिसने सुख-दुख को इस प्रकार बुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।'

यहाँ तक हमने महादेवी की काव्य साधना के विकास के सम्बन्ध में विचार किया है। हमने यह देखा है कि उनके दार्शनिक विकास को प्रदर्शित करनेवाली उनकी चार रचनाएँ हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य-गीत। इन रचनाओं में दो भावों की प्रधानता है। 'नीहार' और रश्मि तो वेदना-प्रधान रचनाएँ हैं और नीरजा और सांध्य-गीत वेदना-प्रधान होते हुए भी आत्मानन्द से पूर्ण रचनाएँ हैं। हम सुविधा की दृष्टि से इन समस्त रचनाओं को चार भागों में विभाजित करके उन पर विचार करेंगे :—

[१] रहस्यवादी रचनाएँ—महादेवी उच्च कोटि की रहस्यवादी कवयित्री हैं। आधुनिक युग में उनके काव्य का उत्कर्ष रहस्यवाद के उत्कर्ष की सीमा है। रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है जब ससीम आत्मा विश्व के सौंदर्य में असीम परमात्मा के चिर सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तादात्म्य स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और माधुर्य भाव पर आधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर से तदाकार होने का प्रयास करती है। रहस्यवाद के मूल में विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतवाद रहता है। चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही काव्य-जगत् में कल्पना, भावना और अनुभूति के सहारे रहस्यवाद की रूप-रेखा ग्रहण करता है। अतः रहस्यवाद में निर्गुण की ही उपासना संभव है। रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक और भावात्मक। महादेवी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद है। भावात्मक रहस्यवाद के भी चार भेद होते हैं— १. प्रेमपरक रहस्यवाद, २. दार्शनिक अथवा चिन्तनपरक रहस्यवाद, ३. भक्तिपरक रहस्यवाद और ४. प्रकृतिपरक रहस्यवाद। महादेवी की रचनाओं में भावात्मक रहस्यवाद के इन चारों उपभेदों का सुखद समन्वय हुआ है। उनकी काव्य-

वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। देखिए :—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।

× × ×

उतरो अब पलकों में पाहुन

× × ×

वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

× × ×

जाने किस जीवन की सुध ले, लहराती आती मधुबयार।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद के अन्तर्गत समस्त श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का समुच्चय उनकी कविताओं में वर्तमान है। उनकी रहस्य-भावना की एक और विशेषता है। उनकी रहस्य-भावना में एक क्रम है, उन्नति की एकरसता है। उनकी विचार-धारा क्रमशः अग्रसर होती है, उसमें कोई व्यवधान नहीं, कोई जल-प्रपात-सा आकस्मिक विक्षेप नहीं। उनमें शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के चार मुख्य स्तरों की क्रमिक अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है :—

१. अपनी प्रथम अवस्था में वह विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके प्रति कौतूहल-मिश्रित जिज्ञासा की अनुभूति प्रकट करती हैं। इसका उदाहरण उनकी रचना 'नीहार' है।

२. अपनी दूसरी अवस्था में वह समस्त दृश्य-जगत् में एक ही व्यापक सत्ता का आभास पाने लगती हैं और आत्मा-परमात्मा और

प्रकृति-परमात्मा का निरूपण करने लगती है। 'रश्मि' इसका उदाहरण है।

३. अपनी तीसरी अवस्था में वह अपनी आत्मा तथा प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखकर उसके 'सलोने बिम्ब' के लिए तड़प उठती हैं। उनकी इस प्रकार की अलौकिक वेदना-प्रसूत रचनाएँ नीरजा में हैं।

४. अपनी चौथी अवस्था में वह अपने व्यक्तित्व के भीतर ही अपने प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी दशा में उनका दुख सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी उनके लिए फूल बन जाते हैं, विरह और मिलन मे एकाकार हो जाता है। यही समत्व भावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है। सांध्य-गीत और दीपशिखा रहस्यवाद के उत्कर्ष से परिपूर्ण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी की रहस्य-भावना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई है और इस क्षेत्र का वह अकेले नेतृत्व कर रही हैं।

[२] वेदना-प्रसूत रचनाएँ—महादेवी की वेदना प्रसूत रचनाएँ उनकी रहस्यवादी भावनाओं से भी सम्बन्ध रखती हैं। हम देख चुके हैं कि उनकी रहस्यानुभूति में प्रेम की मात्रा अधिक है। उनका जीवन प्रेम का जीवन है। प्रेम के जीवन में वेदना का होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में कोई अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन में जिस प्रकार एक प्रेमी और एक प्रेम-पात्र होता है उसी प्रकार उन्नत जीवन में एक 'महादेवी' और एक 'चिर सुन्दर' होता है। लौकिक प्रेम-व्यापार में प्रेमी और प्रेमिका कभी मिलते हैं, कभी नहीं भी मिलते; पर अलौकिक प्रेम-व्यापार में रहस्यवादी का यह दुर्भाग्य है कि उसका प्रियतम निराकार होता है। इसलिए पीड़ा का पथ पार करने पर भी उसे अपने प्रियतम से मिलने-जुलने का अवसर नहीं मिलता। लौ[illegible]

अतिरिक्त प्रेमी को अपने पिछले जन्म का स्मरण नहीं रहता। रहस्यवादी पर यहाँ भी दुहरी चोट पड़ती है। एक तो वह अपने प्रियतम की धुँधली सी ज्योति देख पाता है और दूसरे वह जन्म जन्मान्तर की प्रेम-वेदना का अनुभव करता है। इसलिए उसकी पीड़ा शाश्वत हो जाती है। महादेवी इसी शाश्वत पीड़ा की गायिका हैं। वह कहती हैं :—

मेरे मानस से पीड़ा, भीगे पट-सी लिपटी है।

× × ×

मेरी आहें सोती हैं इन होठों की चोटों में।

महादेवी को पीड़ा से स्वाभाविक प्रेम है। वह कहती हैं—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्य की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है; परन्तु दुख सब को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' महादेवी इसी मोक्ष को लेकर चली हैं। इसी प्रसंग में वह पुनः कहती हैं—'मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय है—एक वह जो मनुष्य के सम्वेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।' पहला दुःख का भौतिक रूप है, दूसरा आत्मिक। महादेवी की कविता में दुख का दूसरा रूप ही साकार है। इसीलिए उनकी वेदना अलौकिक है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में मिलता है।

महादेवी की वेदना का माध्यम प्रकृति है। पहले वह प्रकृति-दृश्यों

की भाषा में समस्त पदों की भरमार है, पर महादेवी की भाषा ऐसी त्रुटियों से मुक्त है। इतना होते हुए भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के आग्रह के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप-परिवर्तन और अंग-वाहुल्य हो गया है। बतास, अधार, अभिलाषें, कर्णधार आदि ऐसे ही शब्द है। उन्होंने ऐसे शब्दों को भी अपनी खड़ीबोली में स्थान दिया है जो अधिक काल से अपनी कोमलता के कारण कविताओं में स्थान पाते आ रहे हैं। नैन, बयार, बैन आदि इस प्रकार के शब्दों के उदाहरण हैं। 'वह' का प्रयोग वह एक वचन और बहुवचन दोनों में समान रूप से करती हैं। उनकी त्रुटियाँ क्षम्य हैं। इनके कारण उनकी भाषा के प्रवाह में कोई बाधा नहीं पड़ती। संक्षेप में उनकी भाषा भाव-प्रवण, सरल, संगीतमय, प्रसाद गुणयुक्त, प्रवाहपूर्ण, मधुर और कोमल है। उनकी कविताओं में यत्र-तत्र उर्दू भाषा के भी शब्द मिलते हैं जो संभवतः किसी प्रयोजनवश ही लाये गये हैं। उनके शब्द छोटे और भावपूर्ण होते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर होता है।

महादेवी की शैली विकासोन्मुख रही है। 'नीहार' में उनकी शैली अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसमें भाव कम हैं और शब्दों की अधिकता है। 'नीरजा' में उनकी शैली भाव और भाषा में समता एवं मित्रता स्थापित कर सकी है। दीपशिखा में उनकी शैली प्रौढ़ हो गई है। इसमें वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह गई है। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग वह बड़ी सावधानी और सुन्दरता से करती हैं। उनकी शैली में अमूर्त्त वस्तुओं के लिए मूर्त्त योजनाएँ बहुत मिलती हैं। भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण में वह पटु है। उनकी शैली में प्रभात हँसता है, आहें सोती हैं, किरणें मचलती हैं, इच्छाएँ सिहरती हैं और शून्य गायन करता है। आज की कविता शब्दों का सामान्य अर्थ लेकर नहीं चलती। वह प्रतीकों, समासोक्तियों और लाक्षणिक तथा व्यंजक प्रयोगों के बल पर चलती है। इसलिए पाठक को उसे समझने के लिए थोड़ा मानसिक श्रम करना पड़ता है। महादेवी की शैली भी

इसी प्रकार की है। वह अपने काव्य में अत्यधिक सांकेतिक है। वह अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती हैं। उनके परिचित प्रतीक सरलता से समझ में आ जाते हैं, पर कुछ ऐसे प्रतीक जो अभी प्रचुरता से आधुनिक काव्य के माध्यम नहीं बने हैं, अर्थ-बोधकता में बाधा डालते हैं। ऐसे अपरिचित प्रयोगों के कारण ही महादेवी कहीं-कहीं दुरूह और जटिल हो गई हैं। उनके प्रतीकों में तारे लौकिक भावों के रूप में, दीपक आत्मा के रूप में, सागर संसार के रूप में, तरी जीवन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इच्छाओं के लिए कहीं मकरन्द, कहीं सौरभ और कहीं इन्द्र-धनुष के विविध रंगों से काम लिया गया है। अतः इन प्रतीकों द्वारा अर्थ लगाने के प्रसंग पर ध्यान रखना आवश्यक है।

महादेवी और पंत

महादेवी और पंत दोनों आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा के कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है। दोनों आस्तिक हैं, दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं, दोनों दार्शनिक हैं, दोनों अद्वैतवादी हैं, पर दोनों की काव्य-साधना में अन्तर है। इस अन्तर का कारण दोनों का विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण है। जीवन और जगत् के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दोनों ने दो दार्शनिक दृष्टि-कोणों से विचार किया है। पन्त अपनी दार्शनिकता में लोक-संग्रह की भावना लेकर चले हैं और महादेवी अपनी दार्शनिकता में अध्यात्मवाद की ओर झुकी हैं। पंत लोक-संग्रह के माध्यम से जीवन को पूर्ण बनाना चाहते हैं और महादेवी पूर्ण जीवन के लिए लोक-संग्रह के माध्यम को सीमित समझती हैं। लोक-संग्रह की भावना दोनों में है, पर दोनों में अन्तर है। पंत में लोक-संग्रही रूप प्रमुख है, आध्यात्मिक रूप गौण; महादेवी में आध्यात्मिक रूप प्रमुख है, लोक-संग्रही रूप गौण। पंत पर स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव है, महादेवी पर स्वामी रामतीर्थ के दर्शन का। पंत का 'गुञ्जन' और महादेवी का 'रश्मि' दोनों के दार्शनिक विचारों की दो पृथक्-पृथक्

कुंजियाँ हैं। इन कुंजियों की सहायता से हम दोनों कवियों की आत्माओं का रहस्योद्घाटन कर सकते हैं।

एक बात और है। पंत और महादेवी दोनों ने अपनी अपनी रचनाओं में वेदना का चित्रण किया है। दोनों ने वेदना को दो रूपों में ग्रहण किया है। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो मनुष्य के मानसिक विकास में सहायक होता है। प्रथम में वेदना का भौतिक रूप है, दूसरे में आध्यात्मिक। महादेवी की रचनाओं में वेदना का दूसरा रूप ही मुख्यतः साकार हुआ है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में ही मिलता है। पंत में वेदना का प्रथम रूप—भौतिक रूप—प्रमुख है, अध्यात्मिक रूप गौण। महादेवी की वेदना अलौकिक है, पंत की वेदना लौकिक। पंत लौकिक वेदना का चित्रण करते हैं सामाजिक क्रान्ति द्वारा एक नये युग की सृष्टि के लिए। महादेवी आत्मिक वेदना का चित्रण करती हैं असीम की प्राप्ति के लिए। पंत वस्तुतः वेदना के कवि नहीं हैं। वह जग जीवन में उल्लास के कवि हैं। इस प्रकार 'महादेवी जिस समष्टि तक दुःख के माध्यम से पहुँचना चाहती हैं, पंत उस समष्टि तक सुख के माध्यम से। इसीलिए महादेवी में एक उत्फुल्ल विषाद है, पंत में एक प्रसन्न आह्लाद'। पंत में महादेवी की-सी आध्यात्मिक दार्शनिकता तो नहीं है, पर एक भौतिक दार्शनिकता अवश्य है।

पंत और महादेवी के काव्यगत दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में हम कह आये हैं कि दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं। दोनों ने प्रकृति में उस असीम सत्ता का आभास पाया है, पर दोनों में यहाँ भी अन्तर है। पंत ने प्रकृति को बालिका के रूप में अपनाया है, महादेवी ने प्रेमिका के रूप में। इसलिए पंत की कविता में प्रकृति एक बालिका की भाँति खेलती है, महादेवी की कविता में प्रकृति एक विरहिणी की भाँति अपने को निवेदित करती है। एक में क्रीड़ा है, दूसरे में पीड़ा। एक की प्रकृति में उल्लास

है, दूसरे में प्रकृति का उच्छ्वास। एक ने प्रकृति के मनोहर परिचय दिया है, दूसरे ने प्रकृति को पुरुष पुरातन का दिव्य यही कारण है कि जहाँ पंत की रहस्य-भावना केवल मु कृतज्ञता में डूबकर रह गई है वहाँ महादेवी की रहस्य के आतप, प्रतीक्षा के सूनेपन और विरह के कसक भरे भी किया है। महादेवी की अनुभूति विविधता-समन्वित होने के कारण पंत की एकांगी अनुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और गहन है। पंत अपने प्रारम्भिक पथ का परित्याग कर अन्य दिशा से मुड़ गये हैं, अतः भाव, विचार, कल्पना और कला की वह प्रौढ़ता उनकी रहस्यवाद की रचनाओं में नहीं है जो महादेवी की कृतियों में उत्तरो... ...क्षित होती है।

पंत और महादेवी की कला और जीवन-सम्बन्धी रचनाओं में एक बड़ा भारी अन्तर यह भी है कि पंत आरम्भ से ही दृश्य-जगत्—साकारता—की ओर उन्मुख रहे हैं और महादेवी निराकारता की ओर। पंत ने जिस सत्य को जीवन का भौतिक दर्शन दिया है। महादेवी ने उसी सत्य को 'एक मिटने में सौ वरदान' कहकर जीवन का आध्यात्मिक दर्शन दिया है। पंत का दृष्टिकोण पहले भावात्मक था, अब व्यवहारिक हो गया है, महादेवी अपने दृष्टिकोण पर अटल हैं। वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, शरीर से मूर्ति की ओर, मूर्ति से चित्र की ओर, चित्र से संगीत की ओर आये हैं। जीवन के प्रहर्ष में पंत का जो कवि सुकुमार था वह अब जीवन के संघर्ष में परुष हो गया है। इसीलिए जीवन के शैशव में सौंदर्य-जगत् को देखने का जो दृष्टिकोण था वह जीवन के तारुण्य में परिवर्तित हो गया है। आज उनकी कला बदली है, दृष्टिकोण बदला है, पर लक्ष्य उनका भी एक नवीन भाव जगत् है, जो आज के अभावों का भावी स्वप्न है। महादेवी की कविता न तो जीवन के प्रहर्ष में है, न जीवन के संघर्ष में। उस
जीवन के इतने हर्ष-विमर्षों व